Sociology of Change and Development

DSOC403

LOVELY
PROFESSIONAL
UNIVERSITY

परिवर्तन और विकास का समाजशास्त्र

SOCIOLOGY OF CHANGE AND DEVELOPMENT

Copyright © 2012 Laxmi Publications (P) Ltd.
All rights reserved

Produced & Printed by
LAXMI PUBLICATIONS (P) LTD.
113, Golden House, Daryaganj,
New Delhi-110002
for
Lovely Professional University
Phagwara

DLP-7780-148-SOCIOLOGY OF CHANGE & DEV
Typeset at : Excellent Graphics, Delhi

C—4908 / 012 / 03
Printed at : Saras Graphics (Rai)

पाठ्यक्रम
(SYLLABUS)
परिवर्तन और विकास का समाजशास्त्र
(Sociology of Change and Development)

उद्देश्य

- समाजशास्त्रीय साहित्य के रूप में उभरे विषय के रूप में, सामाजिक परिवर्तन और विकास से जुड़ी वैचारिक एवं सैद्धांतिक जानकारी उपलब्ध कराना।
- सामाजिक संरचना, जो विकास को और विकास जो सामाजिक संरचना को प्रभावित करता है, उसे समझने की अंतर्दृष्टि प्रदान करना।
- विकास के भारतीय अनुभव से छात्रों को अवगत कराना।

Objectives

- To provide conceptual and theoretical understanding of social change and development as it has emerged in sociological literature.
- To offer an insight into the ways in which social structure impinges on development and development on social structure.
- To address the students the Indian experience of development.

Sr. No.	Content
1	Social Change: Definition, Characteristic, Sources, Change in structure and change of structure,
2	Theories of Social Change: Evolutionary, cyclical, functionalist and conflict
3	Factors of Social Change: Demographic, Economic, Religious, Social, Cultural, technological, Geographical and Media,
4	Social Change in Contemporary India: Trends of change; Processes of change: Sanskritization and westernization, Modernization and Secularization
5	Critical Perspectives on Development: Ecological, liberal, Marxian; Paths of Development: Capitalist, socialist, mixed economy, Gandhian;
6	Agencies of Development: State, market, non-governmental organizations
7	Social Structure and Development: Structure as a facilitator/inhibitor: Development and socio-economic disparities; Gender and development
8	Culture and Development: Culture as an aid to development; Culture as an impediment to development
9	Development and displacement of tradition; Development and upsurge of ethnicity; Indian Experience of Development: Sociological appraisal of Five-Year Plans; Social consequences of economic reforms, Socio-cultural repercussions of globalization, Social implications of info-tech revolution
10	Formulating social policies and programmes: policy and project planning, Implementation, monitoring and evaluation of methodologies

विषय-सूची

इकाई (Units) (CONTENTS) पृष्ठ संख्या (Page No.)

1. सामाजिक परिवर्तन के अर्थ और प्रकार (Meaning and Forms of Social Change) 1
2. उद्‌विकास, प्रगति एवं रूपांतरण (Evolution, Progress and Transformation) 7
3. संरचना में परिवर्तन और संरचना का परिवर्तन (Change in Structure and Change of Structure) 25
4. सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत : रेखीय, चक्रीय और वक्ररेखीय (Theories of Social Change: Linear, Cyclical and Curvilinear) 37
5. सामाजिक परिवर्तन के कारक : जनसंख्यात्मक, आर्थिक, धार्मिक (Factors of Social Change: Demographic, Economic, Religious) 49
6. सामाजिक परिवर्तन के कारक : जैव–प्रौद्योगिकी, सूचना–प्रौद्योगिकी एवं मीडिया (Factors of Social Change: Bio-tech, Info-tech and Media) 62
7. समकालीन भारत में सामाजिक परिवर्तन (Social Change in Contemporary India: Trends of Change) 71
8. परिवर्तन की प्रक्रिया : संस्कृतीकरण और पश्चिमीकरण (Processes of Change: Sanskritisation and Westernisation) 77
9. परिवर्तन की प्रक्रिया : आधुनिकीकरण और लौकिकीकरण (Process of Change: Modernisation and Secularisation) 88
10. विकास की परिवर्तित अवधारणा : आर्थिक वृद्धि, मानव विकास (Changing Conception of Development: Economic Growth, Human Development) 98
11. सामाजिक विकास (Social Development) 115
12. भारतीय समाज में एकता एवं विविधता (Unity and Diversity in Indian Society) 121
13. विकास के आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य : पारिस्थितिकी एवं उदार (Critical Perspectives on Development: Ecological and Liberal) 130
14. विकास का आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य : मार्क्सवाद (Critical Perspective on Development: Marxian) 141
15. विकास और अल्पविकास का सिद्धांत : आधुनिकीकरण सिद्धांत (Theories of Development and Under-Development: Modernisation Theories) 152
16. विकास और अल्पविकास का सिद्धांत : केंद्र–परिधि, विश्व–व्यवस्था, असमान विनिमय (Theories of Development and Under-Development: Centre-Peripheri, World-Systems, Unequal Exchange) 158
17. विकास के पथ : पूँजीवाद, समाजवाद, मिश्रित अर्थव्यवस्था, गाँधीवाद (Paths of Development: Capitalist, Socialist, Mixed Economy, Gandhian) 164
18. विकास का अभिकर्त्ता : राज्य, बाज़ार, स्वयंसेवी संस्था (Agencies of Development: State, Market, Non-governmental Organisations) 181
19. सामाजिक संरचना और विकास : संरचना एक सुविधा/अवरोध (Social Structure and Development: Structure as a Facilitator/Inhibitor) 193
20. विकास और सामाजिक–आर्थिक असमानता (Development and Socio-Economic Disparities) 210
21. लिंग एवं विकास (Gender and Development) 218
22. संस्कृति एवं विकास : विकास के सहायक के रूप में संस्कृति (Culture and Development: Culture as an Aid to Development) 230
23. विकास की बाधा के रूप में संस्कृति (Culture as an Impediment to Development) 236
24. परम्परा का विकास एवं विस्थापन (Development and Displacement of Tradition) 242
25. विकास और नृजातीयता की लहर (Development and Upsurge of Ethnicity) 255
26. विकास का भारतीय संदर्भ : पंचवर्षीय योजनाओं की सामाजिक स्वीकृति (Indian Experience of Development: Sociological Appraisal of Five-Year Plans) 265
27. आर्थिक सुधार के सामाजिक परिणाम (Social Consequences of Economic Reforms) 278
28. वैश्वीकरण की सामाजिक–सांस्कृतिक प्रतिक्रिया अथवा परिवर्तन (Socio-Cultural Repercussions of Globalisation) 286
29. सूचना–प्रौद्योगिकी क्रांति का सामाजिक निहितार्थ (Social Implications of Info-tech Revolution) 297
30. सामाजिक नीति एवं कार्यक्रमों का निर्माण : नीति एवं परियोजना आयोजन (Formulating Social Policies and Programmes: Policy and Project Planning) 306
31. विभिन्न पद्धतियों का क्रियान्वयन, नियंत्रण एवं मूल्यांकन (Implementation, Monitoring and Evaluation of Methodologies) 317

नोट

इकाई–1: सामाजिक परिवर्तन के अर्थ और प्रकार (Meaning and Forms of Social Change)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
1.1 विषय-वस्तु (Subject Matter)
1.2 सामाजिक परिवर्तन की विशेषतायें (प्रकृति) (Characteristics (Nature) of Social Change)
1.3 सामाजिक परिवर्तन के प्रकार (Forms of Social Change)
1.4 सारांश (Summary)
1.5 शब्दकोश (Keywords)
1.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
1.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- सामाजिक परिवर्तन के अर्थ को समझना।
- सामाजिक परिवर्तन की विशेषता तथा प्रकारों की जानकारी।

प्रस्तावना (Introduction)

संसार में प्रत्येक वस्तु : जीव-निर्जीव, भौतिक-अभौतिक, पेड़-पौधे, मानव समाज और संस्कृति सभी परिवर्तनशील हैं। परिवर्तन प्रकृति और समाज का सर्वकालिक और सार्वभौमिक नियम है। पहले की तुलना में आज विश्व में सामाजिक परिवर्तन बहुत तीव्र गति से हो रहे हैं। नगरीय और विकसित समाजों में ग्रामीण और अविकसित समाजों की तुलना में परिवर्तन की गति बहुत तेज है। ये परिवर्तन बहु-आयामी हैं। मैकाइवर और पेज ने लिखा है कि जिसे हम समाज कहते हैं वह एक निरन्तर परिवर्तित होती रहने वाली जटिल व्यवस्था है। यह सामाजिक सम्बन्धों का जाल है और यह हमेशा बदलता रहता है। आज तक कोई भी ऐसा समाज नहीं देखा गया है जो परिवर्तनशील न हो।

1.1 विषय-वस्तु (Subject Matter)

सामाजिक परिवर्तन का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and definition of social change)–सामाजिक परिवर्तन से तात्पर्य समाज में घटित होने वाले परिवर्तन से है। प्रारम्भ से समाजशास्त्रियों ने उद्विकास, प्रगति व सामाजिक परिवर्तन तीनों अवधारणाओं को एक ही अर्थ में माना था किन्तु कालान्तर में सन् 1922 में ऑगबर्न ने

नोट

इनमें विद्यमान विभेद को स्पष्ट किया। उसके बाद समाजशास्त्रीय शब्दावली में इनका प्रयोग अत्यधिक रूप में होने लगा। अब सामाजिक परिवर्तन का क्या अर्थ है इस पर विद्वानों द्वारा दिए गए विचारों पर प्रकाश डाला जाएगा जिससे सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा को स्पष्ट रूप से समझा जा सके।

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, "समाजशास्त्री होने के नाते हमारी रुचि सामाजिक सम्बन्धों में है। केवल इन सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तन को ही सामाजिक परिवर्तन कहते हैं।" इस प्रकार मैकाइवर एवं पेज समाज को 'सामाजिक सम्बन्धों का जाल' कहते हैं। अत: सामाजिक-परिवर्तन–सामाजिक-सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तन का नाम है।

किंग्सले डेविस के मत में, "सामाजिक परिवर्तन से हम केवल उन्हीं परिवर्तनों को समझते हैं जो सामाजिक संगठन अर्थात् समाज के ढाँचे और प्रकार्यों में घटित होते हैं।" इस प्रकार डेविस ने सामाजिक परिवर्तन को पूर्णत: संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक दृष्टि से देखा है अर्थात् उनके मत में सामाजिक परिवर्तन तभी माना जाता है जब समाज की विभिन्न इकाइयों जैसे–संस्थाओं, समुदायों, समितियों, समूहों आदि में परिवर्तन होता है तथा साथ ही इन परिवर्तनों से इनके प्रकार्यों में भी परिवर्तन आता है।

जेन्सन के मत में, "सामाजिक परिवर्तन को लोगों के कार्य करने तथा विचार करने के तरीकों में होने वाले रूपान्तरण के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।" इस प्रकार जेन्सन सामाजिक परिवर्तन के अन्तर्गत मानव के व्यवहार एवं विचारों में होने वाले परिवर्तनों को सम्मिलित करते हैं।

जॉनसन के मतानुसार, "अपने मूल अर्थ में सामाजिक परिवर्तन का अर्थ सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन है।" जॉनसन ने कहा है कि सामाजिक मूल्यों, संस्थाओं, सम्पदाओं और पुरस्कारों, व्यक्तियों तथा उनकी अभिवृत्तियों एवं योग्यताओं में होने वाले परिवर्तन को भी सामाजिक परिवर्तन कहा जा सकता है।

नोट्स बॉटोमोर के अनुसार, सामाजिक परिवर्तन के अन्तर्गत उन परिवर्तनों को सम्मिलित किया जा सकता है जो सामाजिक संरचना, सामाजिक संस्थाओं अथवा उनके पारस्परिक सम्बन्धों में घटित होते हैं।

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि सामाजिक परिवर्तन में वे परिवर्तन सम्मिलित होते हैं जो मानवीय क्रियाओं, सामाजिक प्रक्रियाओं, व्यवहारों, संस्थाओं, प्रथाओं, प्रकार्यों अथवा सामाजिक ढाँचे आदि में होते हैं। सामाजिक परिवर्तन में निम्नलिखित तथ्यों को लिया जा सकता है–

(1) सामाजिक परिवर्तन समाज की संरचना एवं उसके प्रकार्यों में परिवर्तन को कहते हैं।

(2) सामाजिक परिवर्तन व्यक्ति विशेष अथवा कुछ ही व्यक्तियों में आये परिवर्तन से नहीं माना जाता, बल्कि समाज के अधिकांश अथवा सभी व्यक्तियों द्वारा उसे जीवन-विधि व विश्वासों में स्वीकार किए जाने पर माना जाता है।

(3) सामाजिक परिवर्तन एक सार्वभौमिक सत्य है अर्थात् प्रत्येक काल में परिवर्तन होता रहता है।

(4) सामाजिक परिवर्तन मानव के सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन से सम्बन्धित है।

1.2 सामाजिक परिवर्तन की विशेषताएँ (प्रकृति) (Characteristics (Nature) of Social Change)

विभिन्न विद्वानों ने सामाजिक परिवर्तन की अनेक विशेषताएँ बताई हैं जो इसकी अवधारणा को और अधिक स्पष्ट करती हैं। ये विशेषताएँ अग्रलिखित हैं–

1. सामाजिक प्रकृति (Social nature)–सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध सम्पूर्ण समाज में होने वाले परिवर्तन से होता है न कि व्यक्तिगत स्तर पर हुए परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहा जा सकता है। अर्थात् जब सम्पूर्ण समाज

नोट

की इकाइयों; जैसे–जाति, समूह, समुदाय आदि के स्तर पर परिवर्तन आता है तभी उसे सामाजिक परिवर्तन की संज्ञा दी जाती है। किसी एक इकाई में होने वाले परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन नहीं कह सकते।

2. सार्वभौमिक प्रघटना (Universal phenomenon)–सामाजिक परिवर्तन सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक है। विश्व का कोई ऐसा समाज नहीं जहाँ परिवर्तन न हुआ हो। यद्यपि विभिन्न समाजों में परिवर्तन की गति एवं स्वरूप भिन्न हो सकता है क्योंकि कोई भी दो समाज एक जैसे नहीं होते; उनके इतिहास, संस्कृति, प्रकृति आदि में इतनी भिन्नताएँ होती हैं कि कोई एक-दूसरे का प्रतिरूप नहीं हो सकता; जैसे–आदिम समाजों में परिवर्तन की गति अत्यधिक धीमी होती है, दूसरी ओर पश्चिमी देशों में विशेष रूप से अमेरिका में सामाजिक परिवर्तन की गति अत्यधिक तीव्र है। परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत सत्य है अत: समाज के स्तर पर यह सभी कालों में व सभी समाजों में किसी न किसी रूप में होता अवश्य है।

3. स्वाभाविक एवं अवश्यम्भावी (Natural and invitable)–परिवर्तन चूँकि प्रकृति का शाश्वत सत्य है, आवश्यक रूप से होता है अत: यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया कही जा सकती है। समाज भी स्वाभाविक रूप से परिवर्तित होता रहता है। प्राय: मानव स्वभाव परिवर्तन का विरोधी होता है लेकिन फिर भी परिवर्तन तो होता ही है क्योंकि व्यक्ति की आवश्यकताएँ, इच्छाएँ, परिस्थितियाँ स्वाभाविक रूप से परिवर्तन के लिए उत्तरदायी होती हैं। उदाहरण के लिए, प्राचीन समय में मकानों की बनावट भिन्न प्रकार की होती थी लेकिन आधुनिक समय में जबकि सभी कामों के लिए मशीनों पर निर्भर रहना पड़ता है; स्वाभाविक रूप से ही मकानों के ढाँचे में बदलाव आ गया; जिसका आना अवश्यम्भावी था, अर्थात् मानव अपनी बदलती परिस्थिति से समायोजन करने के लिए अनिवार्य रूप से परिवर्तन को स्वीकार कर लेता है। यह एक स्वाभाविक घटना है।

4. तुलनात्मक एवं असमान गति (Comparative and unequal speed)–सामाजिक परिवर्तन सभी समाजों में पाया जाता है किन्तु सभी समाजों में इसकी गति अलग-अलग होती है। ग्रामीण समाजों में परिवर्तन बड़ी मन्द गति से आता है। इसका कारण यह होता है कि वहाँ परिवर्तन लाने वाले कारक भिन्न प्रकार के होते हैं जबकि शहरी समाज में परिवर्तन तेज गति से आता है।

क्या आप जानते हैं इन दोनों स्थानों में आए परिवर्तन को तुलना द्वारा ही बताया जा सकता है कि किस स्थान पर कितना परिवर्तन आया।

उदाहरण के लिए–आदिम समाजों की तुलना में शहरी समाज में सामाजिक परिवर्तन तीव्र गति से होता है। शहरी क्षेत्र में तकनीकी विकास आदिम क्षेत्र की तुलना में तीव्र गति से हो रहा है। यहाँ हम दोनों समाजों में हुए सामाजिक परिवर्तन की तुलना करके ही उनकी असमान गति का अनुमान लगा पा रहे हैं। सामाजिक परिवर्तन देश, काल, परिस्थितियों से भी घनिष्ठतया सम्बन्धित है अर्थात् हर देश की परिस्थितियाँ असमान होती है अत: हर देश में सामाजिक परिवर्तन भी असमान गति से होता है जिसे तुलनात्मक रूप से ही जाना जा सकता है।

5. जटिल प्रघटना (Complex phenomenon)–दो समाजों में हुए परिवर्तनों की तुलना के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक परिवर्तन हुआ है किन्तु कितना या किस स्तर का? इसकी माप-तोल सम्भव नहीं होती। उदाहरण के लिए–आज के विचार, मूल्य, परम्पराएँ, रीतिरिवाज प्राचीन समय से भिन्नता लिए हुए हैं लेकिन कितना अन्तर है इसको मापा नहीं जा सकता क्योंकि परिवर्तन गुणात्मक रूप में होता है। अत: सामाजिक परिवर्तन की विशेषता यह है कि यह एक जटिल तथ्य है, सरलता से इसका रूप नहीं समझा जा सकता।

6. भविष्यवाणी असम्भव (Prediction impossible)–परिवर्तन होता तो अवश्य है लेकिन वह किस दिशा में होगा? किस रूप में होगा? किस स्थान पर होगा? आदि स्पष्ट नहीं होता। उदाहरण के लिए–तकनीकी विकास का प्रभाव सम्पूर्ण देश पर पड़ा है। रहन-सहन, भोजन-व्यवस्था, आवागमन, भौतिक सुख-सुविधा आदि अनेक क्षेत्र इससे प्रभावित हैं लेकिन व्यक्तियों के विचार, विश्वास, मूल्य किस सीमा तक इससे प्रभावित हैं और होंगे इसकी भविष्यवाणी असम्भव नहीं तो दुष्कर कार्य अवश्य है। औद्योगीकरण और नगरीकरण ने संयुक्त परिवार, विवाह, जाति

नोट

प्रथा आदि अनेक क्षेत्रों को प्रभावित किया है जिसके सम्पूर्ण प्रभाव के विषय ने निश्चित भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। केवल पूर्वानुमान लगाया जा सकता है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. सामाजिक परिवर्तन का संबंध संपूर्ण समाज में होने वाले परिवर्तन से होता है न कि ..... स्तर पर हुए परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहा जाता है।
2. विश्व का कोई ऐसा समाज नहीं है जहाँ ..... न हुआ हो।
3. ..... चूँकि प्रकृति का शाश्वत सत्य है, आवश्यक रूप से होता है अत: यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया कही जा सकती है।

1.3 सामाजिक परिवर्तन के प्रकार (Forms of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन समाज में आने वाली विभिन्नता को विभिन्न कालों में व्यक्त करता है लेकिन परिवर्तन विभिन्न समाजों में किस दिशा में, किस नियम के अन्तर्गत, अथवा किस सिद्धान्त के आधार पर हो रहा है, यह स्पष्ट नहीं हो पाता। मैकाइवर एवं पेज, हर्बर्ट स्पेन्सर, हॉबहाउस एवं सोरोकिन आदि समाजविदों ने सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं का विवेचन किया है। इन्होंने अनेक समाजशास्त्रीय अवधारणाओं का उल्लेख किया है जिनमें प्रक्रिया, आन्दोलन, वृद्धि, विकास, उद्विकास, अनुकूलन, क्रान्ति, प्रगति आदि प्रमुख हैं। इनमें से कुछ निम्नलिखित हैं–

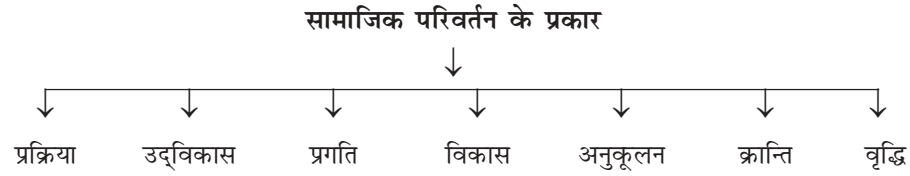

(1) प्रक्रिया (Process)–प्रक्रिया से तात्पर्य परिवर्तन की निरन्तरता से है। प्रक्रिया प्रत्यक्ष और परोक्ष, उत्थान और पतन किसी भी ओर हो सकती है। यह तो परिवर्तन का एक निश्चित क्रम होता है जिसके द्वारा एक अवस्था दूसरी में बदल जाती है। मैकाइवर ने प्रक्रिया को वर्तमान शक्तियों की क्रियाशीलता द्वारा एक निश्चित रूप में निरन्तर परिवर्तन कहा है; उदाहरणार्थ–जब हम कहते हैं कि आज समाज आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में है तो हमारा आशय है कि प्राचीन मूल्य, परम्पराएँ आदि निरन्तर परिवर्तित हो रही हैं और प्राचीन मूल्य, परम्पराएँ आधुनिकीकरण में विलीन हो रहे हैं।

(2) उद्विकास (Evolution)–उद्विकास का सम्प्रत्यय सर्वप्रथम डार्विन ने दिया था। उन्होंने कहा कि किसी वस्तु का सरलता से जटिलता की ओर जाना उद्विकास है। सरलता से जटिलता की ओर जाने की यह प्रक्रिया कुछ निश्चित चरणों में होती है। उद्विकास के रूप में सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या सर्वप्रथम हर्बर्ट स्पेन्सर ने की जिसमें उन्होंने डार्विन के इस सिद्धान्त को समाज पर लागू किया। उनके मत में, "उद्विकास किसी तत्व का समन्वय व उससे सम्बद्ध वह गति है जिसके दौरान वह तत्व एक अनिश्चित असम्बद्ध भिन्नता में बदलता है।" स्पेन्सर ने सामाजिक उद्विकास के चार स्तरों–जंगली अवस्था, पशुचारण अवस्था, कृषि अवस्था और औद्योगिक अवस्था की चर्चा की। मैकाइवर एवं पेज के मत में, उद्विकास परिवर्तन की एक दशा है जिसमें बदलते हुए पदार्थ की अनेक दशाएँ प्रकट होती हैं जिससे उस पदार्थ की वास्तविकता का पता चलता है। अर्थात् मैकाइवर के अनुसार, जिसका उद्विकास होता है ऐसी प्रत्येक वस्तु में पहले से ही उद्विकास की सम्भावनाएँ विद्यमान रहती हैं जो आगे जाकर अभिव्यक्त होती हैं।

उद्विकास उस स्थिति को कह सकते हैं जब परिवर्तन एक निश्चित **दिशा में निरन्तर** हो तथा रचना एवं गुणों में भी परिवर्तन हो। उद्विकास में किसी वस्तु के आन्तरिक **गुणों में परिवर्तन** होता है।

नोट

(3) प्रगति (Progress)—उद्विकास का अर्थ परिवर्तन से ही लिया जाता है लेकिन उद्विकास से जो परिवर्तन होते हैं, वे सदैव समाज का विकास ही करें यह आवश्यक नहीं है। इसके विपरीत प्रगति भी परिवर्तनों से ही सम्बन्धित है। प्रगति में वे परिवर्तन लिए जाते हैं जो समाज के विकास के लिए होते हैं। अर्थात् प्रगति ऐसे परिवर्तन से सम्बन्धित है जो समाज के उद्देश्यों व लक्ष्यों के अनुरूप हों। प्रगति समाज की अच्छाई की ओर होने वाले परिवर्तन को कहा जाता है। यह प्राय: नियोजित होती है, जिसे कोई समाज अपने लिए अच्छा समझते हैं वही उसके लिए प्रगति होती है। प्राय: प्रगति का सम्बन्ध सामाजिक मूल्यों व आदर्शों से होता है। समाज जिन आदर्शों को अपने लिए उचित मानता है उसी दिशा में होने वाले परिवर्तन प्रगति कहलाते हैं। यह प्राय: नैतिकता से सम्बद्ध होती है। यह हो सकता है कि एक समाज किन्हीं मूल्यों व आदर्शों को अच्छा मानता है वह उसके लिए प्रगति हो सकती है जबकि वही मूल्य, आदर्श दूसरे समाज के लिए अवनति हो सकते हैं जिन्हें वह समाज अच्छा नहीं मानता। इस प्रकार प्रगति सापेक्षिक होती है। प्रगति का सम्प्रत्यय भिन्न-भिन्न होता है। प्रगति का माप सम्भव है। प्रगति को सभी समाजों पर सार्वभौमिक रूप से लागू नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रगति मूल्य, आदर्श व नैतिकता से सम्बन्धित है जो प्रत्येक समाज के लिए भिन्न-भिन्न हो सकती है। ऑगबर्न एवं निमकाफ ने प्रगति के विषय में लिखा है, "प्रगति का अर्थ अच्छाई के लिए परिवर्तन से है और इसीलिए प्रगति में मूल्य-निर्णय होता है।" अत: प्रगति इच्छित परिवर्तन है।

(4) विकास (Development)—विकास से तात्पर्य किसी वस्तु में होने वाले परिवर्तन से है जो श्रेष्ठता की ओर होता है। बालक भी जब शिशु से युवावस्था को प्राप्त करता है तो उसमें शारीरिक, मानसिक, भावात्मक, सामाजिक, नैतिक सभी प्रकार का परिवर्तन होता है तभी वह समायोजित व्यक्तित्व को प्राप्त करता है। इसी प्रकार कोई समाज भी जब आर्थिक, सामाजिक, नैतिक सभी रूपों में परिवर्तित होता है तभी उसको विकसित समाज कहा जायेगा। इस प्रकार विकास इस प्रकार के परिवर्तन का सूचक है जो श्रेष्ठता की ओर अग्रसर होता है—भारत की तुलना में पश्चिमी समाज इसीलिए विकसित माने जाते हैं क्योंकि वे आर्थिक, तकनीकी, शिक्षा आदि के सभी क्षेत्रों में परिवर्तित हो गए हैं। विकास समाज की प्रगति के लिए आवश्यक है—विकास के लिए जानबूझकर प्रयास किए जाते हैं।

टास्क सामाजिक परिवर्तन कितने प्रकार के होते हैं? संक्षिप्त वर्णन करें।

नोट्स विकास के लिए हॉबहाउस ने चार मापदण्ड बताए हैं—(1) मात्रा में वृद्धि, (2) कार्यक्षमता, (3) आपसी सहयोग, और (4) स्वतन्त्रता।

(5) अनुकूलन (Adaptation)—अनुकूलन भी परिवर्तन की एक प्रक्रिया है जिसमें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से अथवा परिस्थिति से अपना समायोजन करने का प्रयत्न करता है। अनुकूलन की प्रक्रिया में दो बातें विशेष हैं—(1) व्यक्ति अपने को परिस्थिति के अनुसार बना ले अथवा (2) परिस्थितियों को अपनी आवश्यकता के अनुरूप बना ले। समाज के स्तर पर भी अनुकूलन होता है—अनुकूलन के लिए समायोजन (Adjustment), अभियोजन (Accommodation), सात्मीकरण (Assimilation) तथा एकीकरण (Integration) आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है जो बताते हैं कि अनुकूलन किस सीमा तक होता है। इस प्रकार अनुकूलन भी परिवर्तन का ही प्रकार है।

(6) क्रान्ति (Revolution)—जब समाज में शोषण, अत्याचार, तनाव व असन्तोष अत्यधिक बढ़ जाता है तो राजनैतिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है और सामाजिक-नैतिक मूल्यों में भी गिरावट आ जाती है। समाज में तीव्रता से परिवर्तन आ जाता है ऐसी स्थिति क्रान्ति कहलाती है—क्रान्ति प्राय: आर्थिक व राजनैतिक क्षेत्रों में तीव्रता से आती है।

नोट

हापर ने क्रान्ति की अवधारणा को इस प्रकार व्यक्त किया है "सामाजिक क्रान्ति वह तीव्र परिवर्तन है जिसमें व्यक्तियों को एक-दूसरे से सम्बन्धित रखने वाली राजनैतिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है–सरकार कार्यशील सत्ता के रूप में नहीं रह पाती–इस स्थिति में समाज की मौलिक एकता समाप्त हो जाती है एवं सामाजिक व नैतिक मूल्य समाप्त होने लगते हैं। यदि क्रान्ति में अधिक तीव्रता आती है तो सभी प्रमुख संस्थाएँ काफी परिवर्तित हो जाती हैं। इस प्रकार राज्य, धर्म, परिवार व शिक्षा अपने मूल रूप से काफी बदल जाते हैं।"

इस प्रकार क्रान्ति सामाजिक परिवर्तन का महत्त्वपूर्ण माध्यम है।

(7) वृद्धि (Growth)–वृद्धि भी परिवर्तन का एक प्रकार है जो वस्तु में परिणात्मक परिवर्तन को बताती है। प्राय: वृद्धि आकार में हाने वाले परिवर्तन को कहा जाता है–इसकी एक सीमा होती है, उस सीमा के बाद वृद्धि नहीं होती या रुक जाती है साथ ही किसी एक दिशा में या क्षेत्र में हुए परिवर्तन को बताती है। इस प्रकार वृद्धि परिवर्तन का एक प्रकार है जो मात्रात्मक होती है, उदाहरण के लिए–समाज में जन्मदर एवं मृत्युदर में हुई वृद्धि को मापा जा सकता है।

1.4 सारांश (Summary)

- सामाजिक परिवर्तन समाज की संरचना एवं उसके प्रकार्यों में परिवर्तन को कहते हैं।
- प्रक्रिया, उद्विकास, प्रगति, विकास, अनुकूलन, क्रान्ति, वृद्धि को सामाजिक परिवर्तन के प्रकार के रूप में जाना जाता है।
- मैकाइवर एवं पेज ने समाज को सामाजिक संबंधों का जाल कहा है।

1.5 शब्दकोश (Keywords)

1. **प्रगति (Progress)**–मान्य एवं वांछित लक्ष्य अथवा उद्देश्य की ओर बढ़ने की प्रक्रिया को प्रगति कहते हैं। प्रगति मात्र परिवर्तन नहीं है, अपितु एक निश्चित दिशा की ओर होने वाला परिवर्तन है।
2. **अनुकूलन (Adaptation)**–यह जैविकीय समायोजन की एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें पैतृकता द्वारा हस्तांतरित गुणों का सावयविक अथवा संरचनात्मक परिष्करण करके समायोजन किया जाता है।

1.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. सामाजिक परिवर्तन का क्या अर्थ है?
2. सामाजिक परिवर्तन के कौन-कौन से प्रकार है?

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. व्यक्तिगत
2. परिवर्तन
3. परिवर्तन।

1.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. विकास का समाजशास्त्र – *दूबे श्यामाचरन, वानी पब्लिकेशन।*
2. विकास का समाजशास्त्र – *कैलाश प्यास, पेनक्राफ्ट इन्टरनेशनल।*
3. विकास का समाजशास्त्र – *एम. अहमद, न्यू एज इन्टरनेशनल।*

नोट

इकाई–2: उद्विकास, प्रगति एवं रूपांतरण
(Evolution, Progress and Transformation)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

2.1 उद्विकास का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Evolution)

2.2 उद्विकास की विशेषताएँ (Characteristics of Evolution)

2.3 डार्विन का उद्विकासीय सिद्धान्त (Darwin's Theory of Evolution)

2.4 सामाजिक उद्विकास (Social Evolution)

2.5 समाज व संस्कृति का उद्विकास (Evolution of Society and Culture)

2.6 आर्थिक जीवन का उद्विकास (Evolution of Economic Life)

2.7 पारिवारिक जीवन का उद्विकास (Evolution of Family Life)

2.8 कला का उद्विकास (Evolution of Art)

2.9 धर्म का उद्विकास (Evolution of Religion)

2.10 सामाजिक उद्विकास की वास्तविकता (समालोचना) [Reality (Criticism) of Social Evolution]

2.11 सामाजिक उद्विकास के कारक (Factors of Social Evolution)

2.12 उद्विकास के स्वरूप (Forms of Evolution)

2.13 सामाजिक उद्विकास एवं सामाजिक परिवर्तन (Social Evolution and Social Change)

2.14 प्रगति (Progress)

2.15 सामाजिक प्रगति का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Social Progress)

2.16 सामाजिक प्रगति की विशेषताएँ (Characteristics of Social Progress)

2.17 सामाजिक प्रगति के मापदण्ड (Tests of Social Progress)

2.18 सामाजिक प्रगति में सहायक दशाएँ (Conditions Helpful to Social Progress)

2.19 रूपान्तरण या परिवर्तन (Transformation)

2.20 सारांश (Summary)

2.21 शब्दकोश (Keywords)

2.22 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

2.23 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

नोट

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- उद्विकास की अवधारणा को समझना।
- प्रगति एवं परिवर्तन की प्रक्रिया की जानकारी।

प्रस्तावना (Introduction)

सामाजिक परिवर्तन एक तटस्थ प्रक्रिया है। यह अच्छाई व बुराई को प्रकट नहीं करती। जब हम इसमें दिशा, परिवर्तन का क्रम, सामाजिक मूल्य, गुण एवं मात्रा, आदि का समावेश करते हैं तो परिवर्तन की अनेक प्रक्रियाओं की अवधारणाओं जैसे, वृद्धि, अनुकूलन, विकास, उद्विकास, प्रगति, अवनति, क्रान्ति, आदि का बोध होता है। अनेक बार इन विभिन्न अवधारणाओं का प्रयोग समान अर्थों में किया जाता है। साधारण व्यक्ति ही नहीं, वरन् अनेक समाज-वैज्ञानिक भी इस प्रकार की भूल कर बैठे हैं और इनमें अन्तर करने में असमर्थ रहे हैं। समाजशास्त्र के जनक **ऑगस्ट कॉम्ट** भी उद्विकास, प्रगति और विकास में स्पष्ट भेद नहीं कर पाये थे। **हॉबहाउस** ने विकास और प्रगति का एक ही अर्थ में प्रयोग किया। हॉबहाउस जिस परिवर्तन को विकास की संज्ञा देते हैं, आधुनिक समाजशास्त्री उसे प्रगति कहते हैं। स्पेन्सर, लैस्टर वार्ड, मार्क्स तथा गिडिंग्स जैसे प्रसिद्ध समाजशास्त्रियों की रचनाओं में भी इन शब्दों के प्रयोग में स्पष्टता नहीं आ पायी। इतना अवश्य है कि सामाजिक परिवर्तन की ये सभी प्रक्रियाएं तार्किक दृष्टि से एक-दूसरे से सम्बद्ध होते हुए भी भिन्न प्रकार की स्थिति की सूचक हैं।

उद्विकास (Evolution)

समाजशास्त्र में उद्विकास की अवधारणा प्राणीशास्त्र से ग्रहण की गयी है। डार्विन ने जीवों की उत्पत्ति के बारे में अपना उद्विकासीय सिद्धान्त प्रतिपादित किया और कहा कि जीवों का उद्विकास सरलता से जटिलता तथा समानता से भिन्नता की ओर हुआ है। स्पेन्सर व मॉर्गन जैसे समाज-वैज्ञानिकों ने उद्विकासीय विचारों को समाज व संस्कृति पर भी लागू किया और कहा कि इनका जीवों की भांति उद्विकास हुआ है।

2.1 उद्विकास का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Evolution)

किसी भी वस्तु के बाहर की ओर फैलने को उद्विकास कहते हैं, किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से उद्विकास का यह अर्थ अपूर्ण है। वैज्ञानिक अर्थ में उद्विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें एक सीधी-सादी सरल वस्तु या सावयव (organism) क्रमिक परिवर्तन के कारण जटिल रूप धारण कर लेता है। उदाहरण के लिए, एक बीज का अंकुरित होकर वृक्ष का रूप धारण कर लेना या एक कोष्ठ (cell) का मानव शिशु के रूप में परिवर्तित हो जाना उद्विकास है। इस प्रकार जब किसी वस्तु के गुण, ढांचे व कार्य में एक निश्चित दिशा की ओर निरन्तर परिवर्तन हो तो उसे हम उद्विकास कहेंगे। उद्विकास को हम एक सूत्र द्वारा इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं :

उद्विकास = निरन्तर परिवर्तन + निश्चित दिशा + रूपात्मक अन्तर + ढांचे व कार्य में भिन्नता।

उद्विकास के अर्थ को स्पष्ट करते हुए स्पेन्सर लिखते हैं, "उद्विकास कुछ तत्वों का एकीकरण तथा उससे सम्बन्धित वह गति है जिसके दौरान कोई तत्व एक अनिश्चित तथा असम्बद्ध समानता से निश्चित और सम्बद्ध भिन्नता में बदल जाता है।" इस प्रकार उद्विकास में किसी वस्तु में परिवर्तन समता से विषमता की ओर होता है, इससे वस्तु की जटिलता में वृद्धि होती है।

नोट

मैकाइवर एवं **पेज** लिखते हैं, "जब परिवर्तन में निरन्तरता ही नहीं होती वरन् परिवर्तन की एक दिशा भी होती है, तो ऐसे परिवर्तन से हमारा तात्पर्य उद्विकास से होता है।" मैकाइवर ने उद्विकास को आन्तरिक शक्तियों द्वारा होने वाला परिवर्तन कहा है।

नोट्स **ऑगबर्न** एवं **निमकॉफ** ने भी उद्विकास को 'एक निश्चित दिशा में होने वाला परिवर्तन' माना है।

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि **उद्विकास किसी एक विशेष दिशा में होने वाला वह परिवर्तन है जो वस्तु की आन्तरिक शक्तियों के परिणामस्वरूप पैदा होता है तथा इससे वस्तु की जटिलता में वृद्धि होती है।**

2.2 उद्विकास की विशेषताएँ (Characteristics of Evolution)

उद्विकास की अवधारणा को उसकी विशेषताओं के आधार पर और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है :

(1) **उद्विकास सदैव सरलता से जटिलता की ओर होता है**–प्रारम्भ में किसी वस्तु या प्राणी के अंग घुले-मिले एवं धुंधले होते हैं, धीरे-धीरे उनमें अन्तर स्पष्ट होने लगता है, वे पृथक् हो जाते हैं तथा उनका स्वरूप भी निश्चित हो जाता है। उदाहरण के लिए, प्रारम्भ में भ्रूण एक मांस का पिण्ड होता है, धीरे-धीरे उसके हाथ, पांव, नाक, कान, आँख, आदि दिखायी देने लगते हैं।

(2) **उद्विकास निरन्तर एवं धीमी गति से परिवर्तन की एक प्रक्रिया है**–उद्विकास में परिवर्तन निरन्तर होता है, किन्तु यह इतनी धीमी गति से होता है कि परिवर्तन को देख पाना सम्भव नहीं होता।

(3) **उद्विकास विभेदीकरण की एक प्रक्रिया है**–उद्विकास के दौरान जीव अथवा समाज के विभिन्न अंगों में विभिन्नता पैदा होती है। वस्तु के अंग या शाखाएं धीरे-धीरे स्पष्ट एवं पृथक् होती जाती हैं।

(4) **उद्विकास एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है,** अर्थात् यह सभी स्थानों व कालों में पायी जाती है।

(5) **उद्विकास एक निश्चित दिशा में होने वाला परिवर्तन है**–यद्यपि यह निश्चित नहीं होता कि यह दिशा क्या होगी।

(6) **उद्विकास वस्तु की आन्तरिक वृद्धि** के कारण होता है।

(7) **उद्विकास के दौरान वस्तु अथवा समाज में गुणात्मक परिवर्तन होता है** न कि संख्यात्मक।

(8) **उद्विकास एक मूल्य-रहित प्रक्रिया है,** अर्थात् प्रगति की तरह इसका सम्बन्ध अच्छाई-बुराई से नहीं होता।

(9) **उद्विकास कुछ निश्चित चरणों एवं क्रम में होने वाला परिवर्तन है**–अर्थात् प्रथम चरण के बाद द्वितीय एवं द्वितीय के बाद तृतीय चरण आता है। ऐसा नहीं हो सकता कि प्रथम के बाद तृतीय और फिर द्वितीय चरण आये। उदाहरण के रूप में, एक बच्चा पहले युवा होगा फिर वृद्ध न कि पहले वृद्ध और फिर युवा।

(10) **उद्विकास के चरणों की पुनरावृत्ति नहीं होती है**–जिस चरण को छोड़ दिया गया है, पुनः उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता, जैसे एक बालक युवा होने के बाद पुनः बालक की अवस्था प्राप्त नहीं कर सकता।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. किसी वस्तु या प्राणी के अंग घुले-मिले एवं धुंधले होते हैं, धीरे-धीरे उनमें अंतर स्पष्ट हो जाता है और उनका ..... भी निश्चित हो जाता है।
2. ..... के दौरान जीवन अथवा समाज के विभिन्न अंगों में विभिन्नता पैदा होती है।
3. उद्विकास एक ..... प्रक्रिया है, अर्थात् यह सभी स्थानों व कालों में पायी जाती है।

नोट

2.3 डार्विन का उद्विकासीय सिद्धान्त (Darwin's Theory of Evolution)

सामाजिक उद्विकास का सिद्धान्त डार्विन के उद्विकासवाद पर आधारित है। अत: डार्विन के उद्विकासीय विचारों को जान लेना आवश्यक है। अब तक यह धारणा चली आ रही थी कि पेड़, पौधों एवं जीव-जन्तुओं की सृष्टि ईश्वर ने की है, किन्तु डार्विन ने अपने लम्बे समय के अध्ययन के बाद यह निष्कर्ष दिया कि प्राणियों का उद्विकास सरलता से जटिलता एवं समानता से भिन्नता की ओर हुआ है। प्रारम्भ में पृथ्वी पर कोई जीव नहीं थे। विभिन्न रासायनिक क्रियाओं के कारण जीव का जन्म हुआ। प्रारम्भ में जीव एककोशिय थे। धीरे-धीरे उनकी शरीर रचना में परिवर्तन हुआ, उनमें भिन्नता आती गयी और विभिन्न अंग पृथक् हुए।

डार्विन का मत है कि प्रारम्भ में जीव सरल कोटि का होता है, उसके विभिन्न अंग इतने घुले-मिले होते हैं कि उन्हें स्पष्टता से न तो पहचाना जा सकता है और न ही पृथक् किया जा सकता है। विभिन्न अंगों में अनश्चित सम्बद्धता होती है, किन्तु धीरे-धीरे इनमें परिवर्तन होने लगता है, उसके विभिन्न अंग स्पष्ट एवं अलग होने लगते हैं तथा उसके स्वरूप में भी स्पष्टता आने लगती है। उदाहरण के लिए, एक बीज प्रारम्भ में सरल व अस्पष्ट रूप लिये हुए होता है। धीरे-धीरे उसमें परिवर्तन होता है और जड़, तना तथा पत्तियां पृथक् व स्पष्ट होने लगते हैं। इसी प्रकार से प्रारम्भ में एक भ्रूण मांस का एक पिण्ड होता है, धीरे-धीरे उसमें हाथ, पांव, नाक, कान, आंख, सिर, आदि पृथक् व स्पष्ट दिखायी देने लगते हैं। उद्विकास का यह प्रथम चरण है जिसमें सरलता, अस्पष्टता एवं अभिन्नता धीरे-धीरे जटिलता, स्पष्टता एवं सम्बद्धता में बदल जाती हैं। जीव के उद्विकास के दूसरे चरण में विभिन्न अंग अलग-अलग कार्य करने लगते हैं, उनमें श्रम-विभाजन पैदा हो जाता है, जैसे, जडें भोजन प्राप्त करने, तना पेड़ को खड़ा रखने एवं पत्तियां हवा व धूप ग्रहण करने का कार्य करती हैं। प्राणियों के विभिन्न अंग जैसे, हाथ, पांव, नाक, कान, आंख अपने-अपने निर्धारित कार्य करने लगते हैं। अंगों के पृथक् व स्पष्ट होने पर भी उनमें परस्पर-निर्भरता एवं सम्बद्धता बनी रहती है। एक अंग पर पड़ने वाला प्रभाव दूसरे को भी प्रभावित करता है, जैसे–पेट खराब होने पर उसका असर दूसरे अंगों पर भी पड़ता है। उद्विकास की यह प्रक्रिया निरन्तर एवं धीमी गति से विभिन्न चरणों में होती है। अत: नया रूप सामने आने पर भी परिवर्तन ज्ञात हो पाता है। उद्विकास के दौरान वस्तु के आन्तरिक गुणों में भी परिवर्तन आ जाता है।

टास्क डार्विन का उद्विकासीय सिद्धांत क्या है? संक्षेप में वर्णन करें।

2.4 सामाजिक उद्विकास (Social Evolution)

डार्विन के उद्विकासीय सिद्धान्त को समाज पर लागू करने का श्रेय अंग्रेज समाजशास्त्री हरबर्ट स्पेन्सर को है। उन्होंने अपनी पुस्तक *"Principles of Sociology'* में समाज और सावयव में समानता स्थापित कर सामाजिक उद्विकास की अवधारणा का निरूपण किया। स्पेन्सर का मत है कि जिस प्रकार से जीवों का विकास समानता से भिन्नता व सरलता से जटिलता की ओर हुआ है, उसी प्रकार से समाज का विकास भी सरलता व समानता से जटिलता व भिन्नता की ओर हुआ है। प्रारम्भिक समाजों में विभिन्न अंग अस्पष्ट थे और उनके कार्य घुले-मिले हुए थे। यह स्थिति अनिश्चितता की थी, किन्तु धीरे-धीरे समाज में परिवर्तन हुआ, समाज के विभिन्न संगठन एवं संस्थाएं पृथक्-पृथक् दिखायी देने लगीं, उनमें कार्य-विभाजन पैदा हुआ और विशेषीकरण पनपा। उदाहरण के लिए, प्रारम्भ में सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक कार्य किसी एक ही संगठन व संस्था से सम्बद्ध थे। धीरे-धीरे इन कार्यों को करने वाले अलग-अलग संगठन व संस्थाएं बनीं। इससे समाज में जटिलता व भिन्नता की वृद्धि हुई, साथ ही विभिन्न संस्थाओं की पारस्परिक-निर्भरता भी बढ़ी। **स्पेन्सर** लिखते हैं, "प्रारम्भ में कोई सामाजिक संगठन अस्पष्ट होता है। धीरे-धीरे उसमें विकास अधिक स्पष्ट होता चला जाता है। प्रथाओं में स्थायित्व आ जाने से वे कानून का रूप धारण कर लेती हैं। इसी प्रकार से समूह की सामाजिक संस्थाएं प्रारम्भ में एक-दूसरे से मिली

नोट

हुई-सी लगती हैं, किन्तु कालान्तर में वे एक-दूसरे से अलग होकर स्पष्ट दिखायी देने लगती हैं।" आदिम समाजों में हमें विभिन्न संस्थाओं का अभाव दिखायी देता है और उनमें प्रकार्यात्मक विभेदीकरण भी नहीं होता है, किन्तु जब नवीन परिवर्तनों के कारण उनमें श्रम-विभाजन और विशेषीकरण पनपता है तो वह औद्योगिक एवं जटिल समाज में परिवर्तित हो जाता है जिसमें अनेक भिन्नताएं पैदा हो जाती हैं, किन्तु जटिल समाज की विभिन्न संस्थाओं और संगठनों में पारस्परिक-निर्भरता भी पायी जाती है क्योंकि एक संगठन एक ही प्रकार का कार्य कर पाता है, अत: अन्य कार्यों के लिए दूसरे संगठनों पर निर्भर होना पड़ता है। उद्विकास की यह प्रक्रिया धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, पारिवारिक एवं सामाजिक, सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में दिखायी देती है। हम यहां समाज व संस्कृति के क्षेत्र में सामाजिक उद्विकास का उल्लेख करेंगे।

2.5 समाज व संस्कृति का उद्विकास (Evolution of Society and Culture)

मार्गन (Morgan) ने मानव समाज के उद्विकास के तीन स्तर-जंगली अवस्था, बर्बर अवस्था तथा सभ्यता की अवस्था–माने हैं तथा प्रत्येक स्तर को निम्न, मध्य एवं उच्च स्तरों में बांटा है। हम यहां मॉर्गन द्वारा बताये गये सामाजिक उद्विकास के विभिन्न स्तरों का उल्लेख करेंगे :

1. **जंगली अवस्था (Savage Stage)**—मानव के सामाजिक जीवन की यह प्रथम अवस्था थी। इस समय मानव का जीवन संघर्षपूर्ण एवं कष्टमय था। मानव इतिहास में यह काल सबसे लम्बा था। सामाजिक परिवर्तन एवं दशाओं की दृष्टि से इस काल को मॉर्गन ने निम्नांकित तीन उप-भागों में बांटा है :

   (अ) जंगली अवस्था का निम्न स्तर–इस अवस्था में मानव भोजन एवं निवास की खोज में घुमक्कड़ जीवन व्यतीत करता था। वह कन्दमूल-फल तथा कच्चा मांस खाता था और पत्तों व छालों से तन ढकता था। इस समय उसे यौन सम्बध स्थापित करने की पूर्ण स्वच्छन्दता थी, मानव पेड़ों पर व गुफाओं में रात्रि व्यतीत करता था। मानव का यह जीवन किसी भी दृष्टि से पशुओं से श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता।

   (ब) जंगली अवस्था का मध्य स्तर–इस अवस्था का आरम्भ आग जलाने व मछली मारने की कला के साथ प्रारम्भ हुआ। अब मानव मांस को भूनकर खाने लगा था। इसी समय मनुष्य ने सामूहिक जीवन प्रारम्भ किया और छोटे-छोटे झुण्ड बनाकर रहने लगा।

> *क्या आप जानते हैं* मॉर्गन ने ऑस्ट्रेलिया व पोलेनिशिया की कुछ जनजातियों का उदाहरण देकर इस स्तर को स्पष्ट किया है।

   (स) जंगली अवस्था का उच्च स्तर–इस अवस्था का प्रारम्भ उस समय हुआ जब मानव ने तीर व धनुष का आविष्कार किया। इस अवस्था में मानव ने पारिवारिक जीवन की नींव रखी, किन्तु परिवार के सदस्यों में परस्पर यौन सम्बन्ध स्थापित करने के कोई निश्चित नियम नहीं थे। इस युग में मानव समूह परस्पर सामूहिक रूप से संघर्ष भी करने लगे। मानव ने पत्थर के हथियार एवं औजारों का भी इस अवस्था में निर्माण कर लिया था।

2. **बर्बर अवस्था (Barbarian Stage)**—इस अवस्था में मानव का सामाजिक जीवन पहले की अपेक्षा अधिक उन्नत था। इसके भी निम्नांकित तीन उप-स्तर हैं :

   (अ) बर्बर अवस्था का निम्न स्तर–इस अवस्था में मानव ने बर्तनों का निर्माण करना जान लिया था। अब मानव का जीवन पहले की अपेक्षा अधिक स्थिर था यद्यपि झुण्ड अब भी घुमन्तु जीवन ही व्यतीत करते थे। इस अवस्था में सम्पत्ति की अवधारणा का उदय हुआ। एक समूह हथियार, स्त्रियां तथा बर्तन प्राप्त करने के लिए दूसरे समूह पर आक्रमण करता था। परिवार का स्वरूप कुछ स्पष्ट हुआ, किन्तु यौन सम्बन्धों की स्वतन्त्रता के कारण पितृत्व का निर्धारण अब भी कठिन था।

नोट

(ब) **बर्बर अवस्था का मध्य स्तर**–इस अवस्था में मानव ने पशुपालन एवं कृषि कार्य प्रारम्भ किया। पशुओं को लेकर चारे की खोज में मानव इधर-उधर भटकता फिरता था। कुछ लोगों ने बीज बोकर पेड़ उगाना भी सीख लिया था, वे अब स्थिर निवास बनाकर कृषि करने लगे थे। इस समय व्यक्तिगत सम्पत्ति की धारणा पनपी और सामाजिक स्थिति का निर्धारण सम्पत्ति के आधार पर भी होने लगा था। इसी समय वस्तु-विनिमय भी होने लगा। यौन सम्बन्धों में निश्चितता आने के कारण परिवार का स्वरूप भी स्पष्ट होने लगा था। परिवार में स्त्रियों की स्थिति महत्त्वपूर्ण हो गयी थी।

(स) **बर्बर अवस्था का उच्च स्तर**–इस अवस्था में मानव ने लोहे को गलाकर उससे औजार बनाना प्रारम्भ कर दिया था। उसने लोहे के अनेक नोंकदार एवं तीखे हथियार तथा औजारों का निर्माण किया। इस अवस्था में यौन भेद पर आधारित स्त्री-पुरुषों के बीच श्रम-विभाजन पनपा। स्त्रियां घरेलू कार्य एवं पुरुष बाह्य कार्य करते थे। इस समय स्त्रियों को सम्पत्ति मान लिया गया था। छोटे-छोटे गणराज्यों की स्थापना भी इसी युग में हुई। धातुओं के प्रयोग के कारण ही इस युग को 'धातु युग' के नाम से भी पुकारा जाता है।

3. **सभ्यता की अवस्था (Civilised Stage)**—सामाजिक विकास का यह अन्तिम चरण है। इसके भी निम्नांकित तीन उप-स्तर हैं :

(अ) **सभ्यता की निम्न अवस्था**–इस अवस्था का प्रारम्भ लेखन कार्य से हुआ। भाषा के प्रयोग एवं पढ़ने-लिखने के कारण संस्कृति का संचारण सरल हो गया। इस अवस्था में यौन सम्बन्धों का नियमन होने के कारण पारिवारिक जीवन स्थिर व स्पष्ट हो गया था। इसी समय नगर बसाये गये। नगरीय सभ्यता का उदय, व्यापार एवं वाणिज्य का विस्तार, कला व शिल्पकला का विस्तार इस अवस्था की प्रमुख विशेषताएं हैं।

(ब) **सभ्य अवस्था का मध्यम स्तर**–इस युग में सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक संगठनों में व्यवस्था आयी। इसी समय श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण पनपा, राज्य के कार्यक्षेत्र का विकास हुआ, सरकार एवं कानून का विस्तार हुआ तथा मानव जीवन में सुरक्षा बढ़ी।

(स) **सभ्यता का उच्च स्तर**–मॉर्गन इस स्तर का प्रारम्भ 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध से मानते हैं जब औद्योगीकरण के कारण आधुनिक जटिल एवं नगरीय सभ्यता का उदय हुआ। इस युग में मशीनों की सहायता से बड़े पैमाने पर उत्पादन होने लगा, सम्पत्ति का संचय बढ़ा, श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण का विस्तार हुआ। व्यक्तिगत सम्पत्ति की भावना व एकाधिकार ने पूंजीवादी व्यवस्था को जन्म दिया। वर्ग-संघर्ष ने जोर पकड़ा, साम्यवादी विचारों ने जन्म लिया और सम्पत्ति के समान वितरण पर बल दिया गया। प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था को व्यापक समर्थन मिला। राज्य को एक कल्याणकारी संस्था के रूप में स्वीकार किया गया। राज्य के अधिकारों में वृद्धि हुई, नागरिकों की सुख-सुविधा की व्यवस्था करना राज्य का कर्त्तव्य माना गया। इस युग में अनेक भौतिक व अभौतिक आविष्कार हुए तथा कला, धर्म, दर्शन, ज्ञान, विज्ञान सभी में अभूतपूर्व प्रगति हुई। मानव ने अन्तरिक्ष में प्रवेश किया और आज भी वह प्रगति के पथ पर अग्रसर है।

2.6 आर्थिक जीवन का उद्विकास (Evolution of Economic Life)

मानव के आर्थिक जीवन का उद्विकास निम्नांकित चार स्तरों से हुआ है :

1. **शिकार करने व भोजन एकत्रित करने का स्तर (Hunting and Food Gathering Stage)**—मानव आर्थिक जीवन के प्रारम्भिक स्तर में शिकार करके, मछली मारकर तथा जंगलों से कन्दमूल, फल, पत्ते, शाक, सब्जियां, जड़ें व छालें, आदि एकत्रित कर अपना जीवनयापन करता था। पेट भरने के लिए वह भोजन की तलाश में विभिन्न स्थानों पर भटकता फिरता था। यह जीवन सामाजिक व आर्थिक दृष्टि से बहुत अनिश्चित था।

नोट

2. **चारागाह स्तर** (Pastoral Stage)—मानव ने जब देखा कि पशुओं को मारने के बजाय यदि उनका पालन-पोषण किया जाय तो यह जीवनयापन के लिए अधिक साधन प्राप्त कर सकता है, अत: उसने पशुओं को पालना शुरू किया। वह पशुओं से प्राप्त दूध, मांस, खाल, बाल, ऊन व हड्डियों से अपना जीवनयापन करने लगा। पशुओं से वह बोझा ढोने व सवारी का काम भी लेने लगा। मानव के जीवन में इस समय कुछ स्थिरता आयी क्योंकि जब तक एक स्थान पर चारे व पानी की व्यवस्था होती, वह वहीं रहता, घास समाप्त होने पर अन्यत्र चला जाता।
3. **कृषि स्तर** (Agriculture Stage)—इस व्यवस्था में मानव ने बीज बोकर पेड़ उगाना व कृषि कार्य प्रारम्भ कर दिया था। वह फल-फूल व सब्जियां पैदा करने व बाग लगाने लग गया था। चूंकि कृषि के लिए एक स्थान पर लम्बे समय तक रहना होता है, अत: इस समय मानव के जीवन में स्थिरता आयी और वह झोंपड़े तथा गांव बनाकर रहने लगा। भूमि को सम्पत्ति माना गया तथा इस समय वस्तु-विनिमय की प्रथा का भी प्रचलन हुआ।
4. **प्रौद्योगिक स्तर** (Technological Stage)—इस युग में मानव ने मशीनों एवं विज्ञान के सहारे उत्पादन के अनेक यन्त्रों का निर्माण किया। उत्पादन में मानव व पशु शक्ति के स्थान पर जड़-शक्ति (कोयला, पेट्रोल, बिजली) का प्रयोग प्रारम्भ हुआ और उत्पादन बड़े पैमाने पर तीव्र गति से होने लगा। बड़े-बड़े कारखानों व फैक्टरियों की नींव रखी गयी। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं आर्थिक सहयोग बढ़ा। वर्तमान में हम इसी अवस्था में हैं।

2.7 पारिवारिक जीवन का उद्विकास (Evolution of Family Life)

बैकोफन तथा मॉर्गन ने परिवार के उद्विकासीय क्रम को प्रस्तुत किया। बैकोफन का मत है कि प्राथमिक अवस्था में पारिवारिक जीवन अनिश्चित एवं शिथिल था, उस समय कामाचार की स्थिति थी, अत: पितृत्व अनिश्चित था। धीरे-धीरे इस अवस्था में परिवर्तन आया और बहुपति-विवाही परिवारों की स्थापना हुई। जब जीवनयापन के साधनों में वृद्धि हुई तो बहुपत्नी-विवाही परिवारों का उदय हुआ। सभ्यता व संस्कृति के विकास के साथ-साथ विवाह एवं परिवार से सम्बन्धित विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए, स्त्री-पुरुष के समान अधिकारों की धारणा विकसित हुई तथा एक-विवाही परिवारों की स्थापना हुई। लुईस मॉर्गन ने परिवार के उद्विकास के निम्नांकित पांच स्तरों का उल्लेख किया है :

1. **समरक्त परिवार** (Consanguine Family)—प्रारम्भिक अवस्था में यौन सम्बन्ध स्थापित करने के कोई नियम नहीं थे, यहां तक कि भाई-बहिनों में भी परस्पर यौन-सम्बन्ध हो जाते थे। इसलिए ऐसे परिवारों को समरक्त परिवार कहा गया।
2. **समूह परिवार** (Punaluan Family)—इस प्रकार के परिवार में एक परिवार के सभी भाइयों का विवाह दूसरे परिवार की सभी बहिनों से होता था। इसमें प्रत्येक व्यक्ति सभी स्त्रियों का पति था तथा प्रत्येक स्त्री सभी पुरुषों की पत्नी।
3. **सिण्डेस्मियन परिवार** (Syndasmian Family)—इस प्रकार के परिवार में एक व्यक्ति का विवाह एक स्त्री से होता था, परन्तु वह परिवार में विवाहित सभी स्त्रियों से यौन-सम्बन्ध रख सकता था।
4. **पितृसत्तात्मक परिवार** (Patriarchal Family)—इस अवस्था में परिवार पर पुरुष का आधिपत्य था। वह एक से अधिक पत्नियाँ रख सकता था। स्त्री की तुलना में उसके अधिकार अधिक थे।
5. **एक-विवाही परिवार** (Monogamous Family)—उद्विकासीय क्रम में यह अन्तिम स्तर है जो वर्तमान में अधिकांश समाजों में चल रहा है। इसमें एक पुरुष एक समय में एक ही स्त्री से विवाह करता है। यह स्त्री-पुरुष की समानता पर आधारित है।

नोट

2.8 कला का उद्विकास (Evolution of Art)

एच. सी. हेड्डन ने कला का उद्विकास प्राकृतिक, प्रतीकात्मक व ज्यामितिक स्तर से माना है। प्रारम्भ में मानव प्राकृतिक दृश्यों को ज्यों-का-त्यों चित्रित करता था फिर उसने प्रतीकों के माध्यम से वस्तुओं को चित्रित किया और उसके बाद रेखाओं के माध्यम से कला का प्रदर्शन किया।

2.9 धर्म का उद्विकास (Evolution of Religion)

टायलर ने धर्म का उद्विकास बहुदेववाद से एकदेववाद की ओर माना है। प्रारम्भ में मानव ने प्रत्येक प्राकृतिक शक्ति के पीछे एक देवता की कल्पना की, इससे बहुदेववाद का जन्म हुआ और कई देवी-देवताओं की पूजा व आराधना की जाने लगी। आज यह धारणा प्रचलित है कि ईश्वर एक ही है, उसके नाम व स्वरूप अलग-अलग हैं।

2.10 सामाजिक उद्विकास की वास्तविकता (समालोचना) [Reality (Criticism) of Social Evolution]

उद्विकासवादियों ने सामाजिक उद्विकास को क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया है, किन्तु अनेक विद्वानों ने इसकी आलोचना की है:

1. **उद्विकासवादियों का यह कहना सत्य नहीं है कि सभी समाजों का उद्विकास एक ही प्रक्रिया द्वारा हुआ है।** सभी समाजों पर एक-सा नियम लागू करना ठीक नहीं है। प्रत्येक समाज अलग-अलग परिस्थितियों की देन होता है। अत: समाजों का उद्विकास एक ही प्रक्रिया से मानना तर्कसंगत नहीं है।
2. उद्विकासवादियों ने प्रत्येक समाज के उद्विकास के समान स्तर माने हैं जो कि सही नहीं है। यह भी हो सकता है कि किसी समाज में कोई चरण पहले व कोई बाद में या दो स्तर साथ-साथ भी चल सकते हैं।
3. **गोल्डन वीजर** का मत है कि उद्विकासवादियों ने प्रसार के महत्व को भुला दिया है।
4. उद्विकासवादियों ने आविष्कार के महत्त्व को भुला दिया है, सामाजिक उद्विकास स्वत: कम ही होता है आविष्कार उसे गति प्रदान करते हैं।
5. **मैकाइवर** एवं **पेज** का मत है कि समाज का उद्विकास जीवों की भांति नहीं होता है। सामाजिक उद्विकास में मानव का प्रयत्न महत्त्वपूर्ण होता है जबकि जीवों के उद्विकास में प्राकृतिक शक्तियां ही सब कुछ होती हैं।
6. **गिन्सबर्ग** का मत है कि यह धारणा कि उद्विकास एक सरल स्थिति से जटिल स्थिति की ओर होने वाला परिवर्तन है, एक गम्भीर विवाद का विषय है क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक परिवर्तन के साथ सामाजिक जीवन जटिल होगा ही। मानव अपने ज्ञान एवं विज्ञान के सहारे जटिलता को सरल बनाने का प्रयत्न करता है।
7. उद्विकासवादियों की अध्ययन पद्धति भी दोषपूर्ण है, वे आरामतलब वैज्ञानिक थे। प्रत्यक्ष अवलोकन के स्थान पर उन्होंने अनुमान एवं यात्रियों के वर्णन को ही सही माना।
8. उद्विकास आन्तरिक शक्तियों के कारण होता है, किन्तु वे आन्तरिक शक्तियां कौन-सी हैं, जो इसके लिए उत्तरदायी हैं, उन शक्तियों का उल्लेख उद्विकासवादियों ने नहीं किया।
9. **नाडेल** का मत है कि उद्विकास उन अवधारणाओं में से है जिनको प्रयोग द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। उद्विकास के कोई स्पष्ट नियम नहीं हैं।
10. **ऑगबर्न** उद्विकास की अवधारणा को अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं मानते। वे लिखते हैं, "उद्विकास ने वंशानुक्रम के नियम की उपलब्धि के प्रयास, सामाजिक संस्थाओं के विकास एवं परिवर्तन तथा चयन में थोड़े-से सार्थक और महत्त्वपूर्ण परिणाम प्रस्तुत किये हैं।"

नोट

उपर्युक्त कमियों के बावजूद भी उद्विकास की अवधारणा ने समाज एवं संस्कृति में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। **मैकाइवर** कहते हैं, "विभिन्न अवस्थाओं को एक-दूसरे से पृथक् करने में इस सिद्धान्त ने महत्त्वपूर्ण योग दिया है।" यह सिद्धान्त यह भी स्पष्ट करता है कि समाज कोई आकस्मिक घटना नहीं है, वरन् यह लम्बे एवं क्रमिक उद्विकास का परिणाम है। किन्तु समकालीन समाज-वैज्ञानिकों ने सामाजिक परिवर्तनों का अध्ययन उद्विकासीय ढंग से करना लगभग त्याग दिया है। इसमें एक कठिनाई ऐतिहासिक प्रमाण जुटाने की भी है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

4. ..... आंतरिक शक्तियों के कारण होता है, किन्तु वे आंतरिक शक्तियाँ कौन सी हैं, जो इसके लिए उत्तरदायी हैं।
5. उद्विकास उन ..... में से है जिनको प्रयोग द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता।
6. ..... उद्विकास की अवधारणा को अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं मानते।

2.11 सामाजिक उद्विकास के कारक (Factors of Social Evolution)

ऑगबर्न ने सामाजिक उद्विकास के निम्नांकित चार कारकों का उल्लेख किया है–

1. **आविष्कार** (Invention)—समाज में सर्वाधिक परिवर्तन आविष्कार के कारक होते हैं। आविष्कार मानसिक योग्यता, मांग और अन्य सांस्कृतिक तत्वों पर आधारित होते हैं। इन तीनों की उपलब्धि जितनी अधिक होगी, उस समाज में उतने ही अधिक आविष्कार होंगे और वे परिवर्तन भी उत्पन्न करेंगे।
2. **संचय** (Accumulation)—किसी संस्कृति के तत्वों का ज्यों-ज्यों संचय बढ़ता जाता है, वह समृद्ध होती जाती है तथा इससे आविष्कार के अवसर भी बढ़ जाते हैं।
3. **प्रसार** (Diffusion)—एक समाज द्वारा किये गये आविष्कार का प्रसार जब दूसरे समाज में भी होता है तो सामाजिक विकास एवं परिवर्तन व्यापक एवं शीघ्र होते हैं।
4. **सामंजस्य** (Adjustment)—विभिन्न समाजों में तथा अपने ही समाज में विभिन्न संगठनों, समूहों एवं संस्थाओं के बीच सामंजस्य बढ़ने पर भी परिवर्तन शीघ्र आते हैं क्योंकि एक अंग में परिवर्तन दूसरे में परिवर्तन पैदा करता है।

2.12 उद्विकास के स्वरूप (Forms of Evolution)

उद्विकासवादियों ने उद्विकास के तीन प्रमुख स्वरूपों का उल्लेख किया है–समरेखीय, बहुरेखीय तथा चक्रीय या पैराबोलिक।

1. **समरेखीय उद्विकास** (Unilinear Evolution)—प्रारम्भिक उद्विकासवादियों की मान्यता थी कि समाज का उद्विकास एक सीधी रेखा में एक निश्चित क्रम से हुआ है। विश्व के सभी समाज और संस्कृतियां कुछ निश्चित स्तरों से होकर गुजरती हैं और उनमें विकास का एक ही नियम रहा है। विभिन्न स्थानों पर समान रूप से उद्विकास का कारण मानव की मानसिक एकता (Psychic Unity of Mankind) है। इसका अर्थ है–यदि मनुष्यों को समान पर्यावरण मिले तो वे समान रूप से सोचेंगे। यही कारण है कि विभिन्न स्थानों पर समान आविष्कार (Parallel invention) हुए हैं। समरेखीय उद्विकास को मानने वाले विद्वानों में मॉर्गन, कॉम्ट, बैकोफन, टायलर, डेड्डन, लेविब्रुहल, आदि प्रमुख हैं। समरेखीय उद्विकासवादी समाज, संस्कृति, धर्म, आर्थिक जीवन, परिवार, विवाह, कला एवं भाषा, आदि के विकास के कुछ निश्चित स्तरों व क्रम

नोट

का उल्लेख करते हैं। उदाहरण के लिए, मॉर्गन समाज का विकास जंगली अवस्था, बर्बर अवस्था व सभ्य अवस्था से मानते हैं। मॉर्गन ने परिवार के उद्विकास के पांच स्तरों–समरक्त परिवार, समूह परिवार, सिंडेस्मियन परिवार, पितृसत्तात्मक परिवार तथा एक-विवाही परिवार का उल्लेख किया है। टायलर धर्म का उद्विकास बहुदेववाद से एकदेववाद की ओर मानते हैं। आर्थिक जीवन का विकास शिकारी, पशुपालन, कृषि एवं प्रौद्योगिक अवस्थाओं से हुआ है।

क्या आप जानते हैं कला का उद्विकास प्राकृतिक, प्रतीकात्मक एवं ज्यामितीय स्तरों से हुआ है। कोई भी समाज या संस्कृति उद्विकास के किस स्तर पर है, इसका मूल्यांकन इस आधार पर किया जाना चाहिए कि वे किस अवस्था को पार कर चुके हैं?

2. **बहुरेखीय उद्विकास** (Multilinear Evolution)—**जूलियन स्टीवर्ड** ने उद्विकास के समरेखीय सिद्धान्त के स्थान पर बहुरेखीय सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उनकी मान्यता है कि विश्व के सभी समाज और संस्कृतियां उद्विकास के समान स्तरों से नहीं गुजरे हैं वरन् भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न क्रम रहा है।

   स्टीवर्ड ने पेरन, मेसो अमरीका, मेसोपोटामिया, मिस्र और चीन की संस्कृतियों और समाजों का अध्ययन करने पर बताया कि ये सभी विभिन्न क्रमों से उद्विकसित होकर समान अवस्थाओं में पहुंची हैं। बहुरेखीय उद्विकासवादियों का मत है कि उद्विकास का कोई एक ही क्रम न होकर अनेक क्रम हैं। उदाहरण के लिए, एक समाज पहले पशुपालन अवस्था में रहकर फिर शिकारी, कृषि व औद्योगिक अवस्था को प्राप्त कर सकता है। परिवार बहुपति विवाही, बहुपत्नी विवाही, समूह विवाही से एक-विवाही की स्थिति में पहुंच सकता है। इस प्रकार बहुरेखीय उद्विकासवाद का जन्म समरेखीय उद्विकासवाद की आलोचना के रूप में हुआ।

3. **चक्रीय या पैराबोलिक उद्विकास** (Cyclic or Parabolic Evolution)—इस प्रकार के उद्विकास में विश्वास करने वाले विद्वानों का मत है कि उद्विकास एक चक्र के रूप में एक घड़ी के पेण्डुलम की तरह कभी इधर कभी उधर या उतार-चढ़ाव के क्रम में होता है। उद्विकास से सम्बन्धित यह मत सबसे बाद में आया। अत: उन्हें नव-उद्विकासवादी कहा जाता है। **लेसली वाइट** इस प्रकार के विचारकों में प्रमुख हैं। उनका मत है कि उद्विकास एक सीधी रेखा में न होकर अनुव्रत वक्र रेखा (parabolic curve) के रूप में होता है। पैराबोला का तात्पर्य घोड़े के खुर में ठोकी जाने वाली नाल से है जिसकी आकृति कोष्ठक में दिये गये चित्र के समान होती है (⊃)।

इसके अनुसार कोई भी सामाजिक संस्था एक विशिष्ट रूप में प्रारम्भ होती है, धीरे-धीरे वह इसके विपरीत दिशा की ओर विकसित होती है और आगे चलकर पुन: अपने मूल रूप की ओर मुड़ जाती है, किन्तु एक नये और उच्च रूप में। इसके कुछ उदाहरण भी दिये गये हैं जैसे प्रारम्भ में सामूहिक सम्पत्ति पायी जाती थी, धीरे-धीरे व्यक्तिगत सम्पत्ति का महत्व बढ़ा और आज पुन: राज्य के द्वारा सम्पत्ति पर सामूहिक अधिकार की धारणा पनपी है। इसी प्रकार से प्रारम्भ में मानव वस्त्रों के अभाव में नंगा रहता था। एक समय ऐसा आया, जब वह पूरे शरीर को वस्त्र से ढकता था और पुन: फैशन के नाम पर कम-से-कम वस्त्र पहनने लगा है। इसी प्रकार से प्रारम्भ में यौन अनाचार की स्थिति थी, फिर एक-विवाह का प्रचलन हुआ और आज पुन: यौन स्वतन्त्रता की दलील दी जाने लगी है। पैराबोला के रूप में उद्विकास को हम नीचे दिये गये चित्र द्वारा प्रकट कर सकते हैं।

नोट

चित्र 2.1

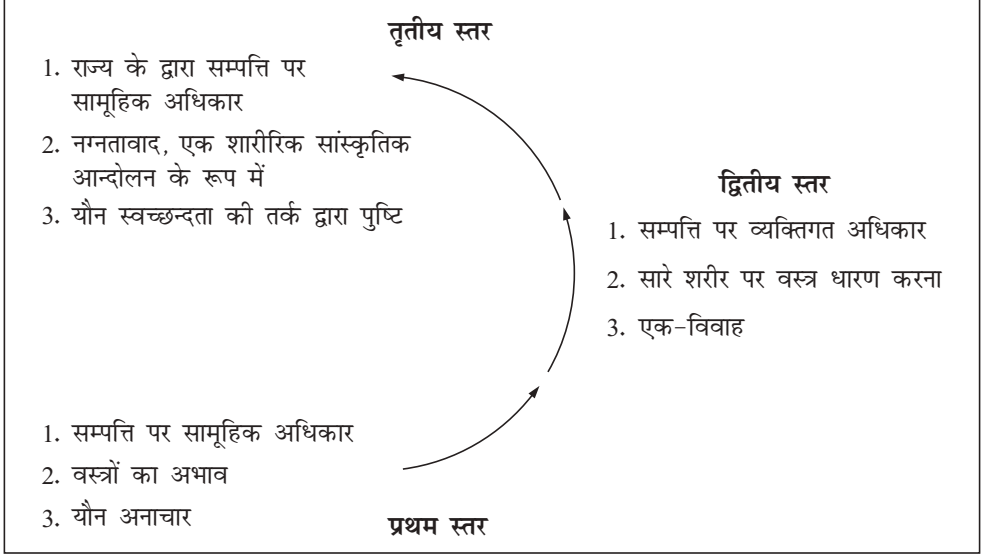

2.13 सामाजिक उद्विकास एवं सामाजिक परिवर्तन (Social Evolution and Social Change)

सामाजिक उद्विकास एक सामाजिक परिवर्तन के अर्थ और परिभाषा का उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। सामाजिक परिवर्तन एक तटस्थ शब्द है तो अच्छाई, बुराई अथवा किसी दिशा या परिवर्तन के गुण व मात्रा, आदि का बोध नहीं कराता है जबकि उद्विकास एक ऐसा परिवर्तन है जिसमें दिशा, क्रम, गुण, आदि निश्चित होते हैं। इस अर्थ में सामाजिक उद्विकास सामाजिक परिवर्तन का एक भाग है और दोनों का ही सम्बन्ध समाज में घटित होने वाले परिवर्तनों से है। सामाजिक परिवर्तन एवं सामाजिक उद्विकास के भेद को हम इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं:

1. सामाजिक परिवर्तन की कोई निश्चित दिशा नहीं होती, यह ऊपर-नीचे, आगे-पीछे किसी भी दिशा में हो सकता है जबकि सामाजिक उद्विकास की एक दिशा निर्धारित है, यह सदैव सरलता से जटिलता, समानता से भिन्नता की ओर होता है।
2. सामाजिक परिवर्तन सामाजिक ढांचे व कार्य अथवा दोनों में से किसी एक पक्ष में भी हो सकता है जबकि सामाजिक उद्विकास में समाज के ढांचे एवं कार्य दोनों में परिवर्तन आता है।
3. सामाजिक परिवर्तन समाज की आन्तरिक एवं बाह्य दोनों ही शक्तियों के कारण आ सकता है जबकि सामाजिक उद्विकास समाज की आन्तरिक शक्तियों के कारण होता है।
4. सामाजिक उद्विकास में श्रम-विभाजन और विशेषीकरण बढ़ जाता है जबकि सामाजिक परिवर्तन में ऐसा होना आवश्यक नहीं है।
5. सामाजिक परिवर्तन एक व्यापक प्रक्रिया है और उद्विकास उसका एक ढंग या स्वरूप है। इस अर्थ में प्रत्येक उद्विकास परिवर्तन है, किन्तु प्रत्येक परिवर्तन उद्विकास नहीं है।
6. सामाजिक उद्विकास के लिए कुछ स्तर एवं क्रम निर्धारित किये गये हैं जबकि सामाजिक परिवर्तन की कोई दिशा, क्रम व स्तर निश्चित नहीं हैं।
7. सामाजिक उद्विकास की प्रक्रिया धीमी एवं निरन्तर होती है जबकि सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया धीमी, तेज निरन्तर एवं रुक-रुककर किसी भी रूप में हो सकती है।

नोट

8. सामाजिक उद्विकास में गुणात्मक परिवर्तन होते हैं, जबकि सामाजिक परिवर्तन में गुणात्मक एवं संख्यात्मक दोनों ही प्रकार के परिवर्तन सम्मिलित हैं।
9. सामाजिक उद्विकास के चरणों की पुनरावृत्ति नहीं होती जबकि सामाजिक परिवर्तन में इस प्रकार का कोई नियम नहीं है, सामाजिक परिवर्तन नयी दिशा में जाकर पुनः उसी स्थिति की ओर भी लौट सकता है।

2.14 प्रगति (Progress)

प्रगति सामाजिक परिवर्तन का एक विशेष ढंग या प्रक्रिया है जिसमें वांछित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए सचेत प्रयत्न किये जाते हैं। प्रगति के बारे में ऑगस्ट कॉम्ट से लेकर आधुनिक समाजशास्त्रियों ने अपने विभिन्न मत व्यक्त किये हैं, किन्तु इसकी कोई एक सर्वमान्य वैज्ञानिक व्याख्या नहीं की जा सकी है। विभिन्न गुणों के आधार पर प्रगति को भिन्न-भिन्न रूपों में परिभाषित किया गया है। प्राचीन समय में आध्यात्मिक लक्ष्यों को प्राप्त करने को प्रगति माना जाता था, किन्तु वर्तमान में भौतिक लक्ष्यों की प्राप्ति एवं सुख-सुविधाओं में वृद्धि को ही प्रगति माना गया है। प्रगति का सामाजिक मूल्यों से घनिष्ठ सम्बन्ध है और हर समाज के अपने-अपने मूल्य होते हैं। यही कारण है कि प्रगति की अवधारणा प्रत्येक समाज में अलग-अलग पायी जाती है।

2.15 सामाजिक प्रगति का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Social Progress)

प्रगति में भी परिवर्तन निहित है, किन्तु यह परिवर्तन नियोजित एवं सामाजिक मूल्यों के अनुरूप होता है। अंग्रेजी का 'Progress' शब्द लैटिन भाषा के 'Progredior' से बना है जिसका अर्थ है 'to step forward' अर्थात् 'आगे बढ़ना'। इस प्रकार वांछित लक्ष्य की ओर परिवर्तन एवं आगे बढ़ना प्रगति कहलाता है। लक्ष्य, स्थान व समाजों के अनुसार प्रगति की धारणा में परिवर्तन पाया जाता है। एक समय में जिसे प्रगति कहा जाता है, दूसरे समय में उसी स्थिति को अवनति कहा जा सकता है।

प्रगति को विभिन्न विद्वानों ने निम्न प्रकार से परिभाषित किया है :

लेस्टर वार्ड के अनुसार, "प्रगति वह है जो मानवीय सुख में वृद्धि करती है।"

हॉर्नेल हार्ट के अनुसार, "सामाजिक प्रगति सामाजिक ढांचे में वे परिवर्तन हैं जो कि मानवीय कार्यों को मुक्त करें, प्रेरणा और सुविधा प्रदान करें तथा उसे संगठित करें।"

ऑगबर्न एवं **निमकॉफ** के अनुसार, "प्रगति का अर्थ होता है–अच्छाई के लिए परिवर्तन और इसीलिए प्रगति में मूल्य-निर्धारण होता है।"

लम्ले के अनुसार, "प्रगति एक परिवर्तन है लेकिन यह इच्छित अथवा मान्यता प्राप्त दिशा में होने वाला परिवर्तन है, किसी भी दिशा में होने वाला परिवर्तन नहीं है।"

हॉबहाउस के अनुसार, "प्रगति का तात्पर्य सामाजिक जीवन में ऐसे गुणों की वृद्धि होना है जिन्हें वे अपने में आत्मसात कर सकें तथा उनके सामाजिक मूल्यों को विवेकपूर्ण बना सकें।"

नोट्स **गुरविच** तथा **मूर** के अनुसार, "प्रगति स्वीकृत मूल्यों के सन्दर्भ में इच्छित मूल्यों की ओर बढ़ना है।"

गिन्सबर्ग के अनुसार, "प्रगति का अर्थ उस दिशा में होने वाला विकास है जो सामाजिक मूल्यों को विवेकयुक्त हल प्रस्तुत करता हो।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि **प्रगति समाज द्वारा स्वीकृत मूल्यों की ओर परिवर्तन है जिससे मानव सुख एवं कल्याण में वृद्धि होती है।**

नोट

2.16 सामाजिक प्रगति की विशेषताएँ (Characteristics of Social Progress)

सामाजिक प्रगति की अवधारणा को अधिक स्पष्टत: समझने के लिए हम यहां उसकी विशेषताओं का उल्लेख करेंगे :

1. **प्रगति वांछित दिशा में परिवर्तन है**–किसी भी दिशा में परिवर्तन को प्रगति नहीं कहते हैं वरन् सामाजिक मूल्यों के अनुरूप तथा वांछित लक्ष्यों की ओर होने वाला परिवर्तन प्रगति है।
2. **प्रगति तुलनात्मक है**–प्रगति की अवधारणा तुलनात्मक है अर्थात् समय और स्थान के अनुसार यह बदलती रहती है। एक समाज में जनसंख्या की वृद्धि प्रगति मानी जा सकती है तो दूसरे समाज में नहीं।
3. **प्रगति सामूहिक जीवन से सम्बन्धित होती है**–प्रगति का सम्बन्ध किसी व्यक्ति विशेष के मूल्य या लाभ से न होकर सामूहिक लाभ एवं मूल्यों से है।
4. **प्रगति स्वचालित नहीं होती है**–प्रगति कभी स्वत: नहीं होती है वरन् उसके लिए सचेत एवं नियोजित प्रयत्न करने पड़ते हैं। उदाहरण के लिए, ग्रामीण प्रगति के लिए समन्वित ग्रामीण विकास योजनाएं बनायी गयीं।
5. **प्रगति का सम्बन्ध केवल मनुष्यों से है**–प्रगति की चर्चा हम केवल मानव समाज में ही कर सकते हैं क्योंकि मूल्य की अवधारणा उन्हीं में पायी जाती है, पशुओं में नहीं।
6. **प्रगति में लाभ अधिक एवं हानि कम होती है।**
7. **प्रगति की धारणा परिवर्तनशील है**–इसका सम्बन्ध सामाजिक मूल्यों से है और सामाजिक मूल्य स्थिर नहीं होते वरन् समय के साथ परिवर्तित होते रहते हैं। भारत में ही कभी आध्यात्मिक लक्ष्यों की पूर्ति को प्रगति माना जाता था जबकि वर्तमान में भौतिक लक्ष्यों की अधिकाधिक पूर्ति को प्रगति कहा जाता है।
8. **प्रगति मूल्यों पर आधारित है**–सामाजिक प्रगति का घनिष्ठ सम्बन्ध सामाजिक मूल्यों से है। सामाजिक मूल्य ही किसी दशा को अच्छा या बुरा बताते हैं। अत: जिन लक्ष्यों को सामाजिक मूल्यों द्वारा उचित ठहराया जाता है उसे सामाजिक प्रगति कहा जाता है।

2.17 सामाजिक प्रगति के मापदण्ड (Tests of Social Progress)

प्रश्न यह उठता है कि हम सामाजिक प्रगति को कैसे मापें और यह कहें कि अमुक परिवर्तन प्रगति है। इस सन्दर्भ में विभिन्न विचारकों ने सामाजिक प्रगति के विभिन्न मापदण्ड माने हैं। अर्थशास्त्री **पीगू** आर्थिक कल्याण को, तो अन्य अर्थशास्त्री उद्योग, उत्पादन, व्यापार एवं वाणिज्य, जीवन-स्तर, आय, आदि में वृद्धि को प्रगति मानते हैं। सुखवादी दार्शनिकों के अनुसार अधिकांश लोगों का अधिकांश सुख ही प्रगति है। धर्मशास्त्री एवं नीतिशास्त्रियों के अनुसार आध्यात्मिक उन्नति एवं नैतिक गुणों में वृद्धि ही प्रगति है। जीवनशास्त्री रक्त की शुद्धता, दीर्घायु, स्वास्थ्य में वृद्धि, आदि को प्रगति मानते हैं। साहित्यकार सुन्दर साहित्यिक रचनाओं को, तो कलाकार कला की उन्नति को प्रगति मानते हैं। वैज्ञानिक विभिन्न प्रकार के नवीन आविष्कारों की वृद्धि को प्रगति की कसौटी मानते हैं। स्पष्ट है कि प्रगति के बारे में विद्वानों में कोई एकमत नहीं है।

बोगार्डस ने प्रगति के चौदह मापदण्डों का उल्लेख इस प्रकार किया है–(1) सार्वजनिक हित के लिए प्राकृतिक स्रोतों का लाभकारी उपयोग, (2) शारीरिक व मानसिक दृष्टि से अधिक स्वस्थ व्यक्तियों का होना, (3) स्वस्थ वातावरण में वृद्धि, (4) मनोरंजन के उपयोगी साधनों में वृद्धि, (5) पारिवारिक संगठन की मात्रा में वृद्धि, (6) रचनात्मक कार्यों के लिए व्यक्तियों को अधिक-से-अधिक अवसर प्राप्त होने की सुविधाएं, (7) व्यापार और उद्योग में जनता के अधिकारों में वृद्धि, (8) सामाजिक दुर्घटनाओं, बीमारियों, बेकारी और मृत्यु के विरुद्ध सामाजिक बीमे की सुविधाओं में वृद्धि, (9) समाज में अधिकांश लोगों के जीवन स्तर में वृद्धि, (10) सरकार और जनता के बीच पारस्परिक सहयोग की मात्रा में अधिकाधिक वृद्धि, (11) कला का अधिकाधिक प्रसार, (12) मानव में धार्मिक

नोट

एवं आध्यात्मिक पक्षों का विशेष विकास, (13) व्यावसायिक, बौद्धिक और कल्याणकारी शिक्षा का विस्तार, (14) सहयोगी एवं सहकारी जीवन में वृद्धि।

क्या आप जानते हैं **हॉर्नेल हार्ट** के अनुसार सामाजिक प्रगति के मापदण्ड इस प्रकार हैं : (1) आयु का अधिक होना, (2) मानसिक स्वास्थ्य, (3) अवकाश का अधिक समय।

टॉड ने सम्पत्ति, स्वास्थ्य, जनसंख्या, व्यवस्था, स्थायित्व तथा अवसरों की वृद्धि के प्रगति को मापदण्ड माना है। **डिवाइन** ने सामाजिक प्रगति के निम्नांकित मापदण्डों का उल्लेख किया है–(1) प्राकृतिक साधनों का संरक्षण और उनका सबकी भलाई के लिए उपयोग, (2) शारीरिक व मानसिक दृष्टि से दुर्बल लोगों की संख्या में कमी, (3) अस्वस्थ पर्यावरण, अस्वास्थ्यकर मकानों, असन्तोषजनक सफाई और संक्रामक रोगों का अभाव, (4) हानिकारक मनोरंजन में कमी व स्वस्थ मनोरंजन में वृद्धि, (5) स्वस्थ और सम्पन्न परिवारों एवं बच्चों की संख्या में वृद्धि, (6) रचनात्मक कार्यों के लिए अधिक अवसर, (7) उद्योग और व्यापार में मजदूर, पूंजीपति तथा जन-साधारण का मिला-जुला अधिकार, (8) सामाजिक बीमा का अधिकतम प्रसार, (9) अधिकतम लोगों के लिए अच्छी आमदनी, पौष्टिक भोजन, स्वास्थ्यप्रद मनोरंजन, आदि की व्यवस्था, (10) सरकार एवं जनता में अधिकाधिक सहयोग, (11) अच्छे संगीत, कविता, चित्रकारी और अन्य कलात्मक वस्तुओं की रुचि में वृद्धि, (12) व्यावसायिक, बौद्धिक तथा कल्याणकारी शिक्षा का प्रसार (13) अधिकांश लोगों के जीवन में धार्मिक एवं आध्यात्मिक पक्ष का विकास, (14) जनता में मिल-जुलकर काम करने की भावना में वृद्धि।

हॉबहाउस ने समुदाय की प्रगति के लिए उचित जनसंख्या, कार्यकुशलता, स्वतन्त्रता तथा पारस्परिक सेवा की प्रवृत्ति को आवश्यक कसौटी माना है। विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रगति के अनेक मापदण्डों का उल्लेख किया गया है, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वे सभी एक साथ प्राप्त किये जायें। सभी मापदण्डों को प्राप्त करना भी कठिन है। अत: जो समाज इनमें से जितने मापदण्डों को प्राप्त कर लेता है वह उतना ही प्रगतिशील माना जाता है।

2.18 सामाजिक प्रगति में सहायक दशाएँ (Conditions Helpful to Social Progress)

1. **शिक्षा का उच्च स्तर** (High Standard of Education)—शिक्षा मानव के ज्ञान का द्वार खोलती है। शिक्षा के द्वारा व्यक्ति को नवीन वस्तुओं तथा स्थितियों का ज्ञान होता है। शिक्षा के अभाव में न तो आविष्कार ही सम्भव है और न ही प्रगति। शिक्षा ही वैचारिक विकास के लिए उत्तरदायी है और वही लोगों में प्रगति के प्रति चेतना उत्पन्न करती है।
2. **प्रौद्योगिक एवं वैज्ञानिक प्रगति** (Technological and Scientific Development)—सामाजिक प्रगति के लिए विज्ञान का विकास एवं प्रौद्योगिक उन्नति भी आवश्यक है। मशीनों के प्रयोग से बड़ी मात्रा में और तीव्र गति से उत्पादन होता है, वाणिज्य और व्यापार में भी वृद्धि होती है। इसके परिणामस्वरूप किसी समाज की आर्थिक दशा में सुधार होता है जो प्रगति के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि है। यही नहीं, बल्कि किसी समाज की प्रगति के लिए यातायात एवं संचार के नवीन साधनों, रेल, मोटर, वायुयान, रेडियो, टेलीविजन, टेलीफोन, समाचार-पत्रों, आदि का विकास भी आवश्यक है जिससे ज्ञान की वृद्धि होती है और सामाजिक प्रगति सम्भव हो पाती है।
3. **नवीन आविष्कार** (New Inventions)—नवीन आविष्कार के सहारे मानवीय समस्याओं का समाधान किया जाता है और मानवीय सुख-सुविधाओं में वृद्धि की जाती है। इस प्रकार आविष्कार प्रगति की सम्भावनाओं में वृद्धि करते हैं।

नोट

4. **आदर्श जनसंख्या और स्वास्थ्य**–कोई भी समाज ऐसी स्थिति में ही प्रगति कर सकता है जब उसके सदस्यों की संख्या आदर्श हो तथा वे शारीरिक और मानसिक दृष्टि से स्वस्थ हों। अधिक जनसंख्या, बेकारी, गरीबी, भुखमरी, अकाल, महामारी एवं प्राकृतिक विपदाएं लाती हैं। ऐसी स्थिति में सामाजिक प्रगति की आशा धूमिल हो जाती है। इसी प्रकार से यदि लोगों का स्वास्थ्य ठीक नहीं है और लोग शारीरिक और मानसिक दृष्टि से कमजोर हैं तो वे लोग काम नहीं कर पायेंगे और सामाजिक प्रगति में अपना कोई योगदान नहीं दे पायेंगे।

5. **अनुकूल भौगोलिक पर्यावरण** (Favourable Geographical Environment)—सामाजिक प्रगति के लिए अनुकूल भौगोलिक पर्यावरण भी आवश्यक है। जिस देश में प्राकृतिक स्त्रोतों, खनिज पदार्थों, लोहा, चांदी, सोना, कोयला, यूरेनियम, पेट्रोलियम, आदि की बहुलता होती है वह अधिक प्रगति कर सकता है। इसी प्रकार से जिन स्थानों का भौगोलिक पर्यावरण अनुकूल होता है वहां के समाज ही प्रगति कर पाते हैं। रेगिस्तानी, पहाड़ी, दलदली एवं बर्फीले स्थान के वासियों को प्रगति के लिए अधिक संघर्ष करना होता है। इसी प्रकार से जहां अत्यधिक गर्मी और अत्यधिक सर्दी पड़ती है वहां पर भी सामाजिक प्रगति के अवसर कम होते हैं। अत: सामाजिक प्रगति के लिए आदर्श भौगोलिक परिस्थितियां होनी चाहिए।

6. **सामाजिक सुरक्षा** (Social Security)—जिस समाज में लोगों को सुरक्षा प्राप्त होती है उसके प्रगति करने के अवसर भी अधिक होते हैं। जीवन की सुरक्षा एवं उच्च पद प्राप्त करने के अवसरों की उपलब्धि लोगों में आत्म-विश्वास पैदा करती है। जिस समाज में जाति-पाति का भेद-भाव, छुआछूत एवं शोषण का अभाव हो, वह प्रगति करने की अधिक क्षमता रखता है।

7. **स्वतन्त्रता एवं समानता** (Liberty and Equality)—स्वतन्त्र देश गुलाम देश की अपेक्षा अधिक प्रगति कर सकता है क्योंकि स्वतन्त्रता लोगों में उत्तरदायित्व की भावना पैदा करती है, उनमें आत्मविश्वास और सम्मान के विचार जाग्रत करती है। इसी प्रकार से अवसर की समानता भी लोगों में आशा और विश्वास को उत्पन्न करती है।

8. **योग्य नेतृत्व** (Able Leadership)—जिस देश के नेता समाज के लिए त्याग और बलिदान के लिए तत्पर रहते हों और सामाजिक हितों को अपने हितों से अधिक प्राथमिकता देते हों, ऐसा समाज ही प्रगति कर पाता है। योग्य नेता ही समाज को सही दिशा-निर्देश दे सकते हैं।

9. **आत्म-विश्वास** (Self-confidence)—सामाजिक प्रगति के लिए समाज के लोगों में यह आत्म-विश्वास होना आवश्यक है कि वे प्रगति कर सकते हैं। आत्म-विश्वास के अभाव में कोई भी समाज प्रगति नहीं कर सकता।

10. **न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति** (Fulfilment of Minimum Requirements)—किसी भी समाज की प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि उसके सदस्यों को भोजन, वस्त्र और मकान की सुविधाएं उपलब्ध हों। इनके अभाव में सदस्यों का अस्तित्व बना रहना सम्भव नहीं हो पायेगा। भूखे और नंगे व्यक्ति से प्रगति की आशा नहीं की जा सकती।

11. **राजनीतिक स्थिरता** (Political Stability)—सामाजिक प्रगति के लिए देश में राजनीतिक स्थिरता या स्थिर सरकार आवश्यक है। जब सरकारें जल्दी-जल्दी बदलती हों या राजनीतिक उपद्रव और क्रान्तियां होती हों तो समाज में भय, आतंक और निराशा का वातावरण पाया जाता है। ऐसी स्थिति में समाज प्रगति नहीं कर सकता। स्थिर शासन में ही प्रगति के लिए योजनाबद्ध प्रयास सम्भव हैं। इसी प्रकार सामाजिक प्रगति के लिए युद्ध का अभाव एवं मधुर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का होना भी आवश्यक है।

12. **कार्य में विश्वास** (Belief in Action)—सामाजिक प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि लोगों में धार्मिक नियतिवाद एवं भाग्यवाद के स्थान पर स्वयं की शक्ति एवं कार्य में विश्वास हो। जब लोग सब कुछ ईश्वर की मर्जी पर छोड़ देते हैं और स्वयं प्रयास नहीं करते तो वे प्रगति नहीं कर सकते।

नोट

2.19 रूपान्तरण या परिवर्तन (Transformation)

परिवर्तन की परिभाषा एवं अर्थ (Meaning and Definition of Change)

परिवर्तन एक 'मूल्य-मुक्त' (Value-Free) सम्प्रत्यय है। इसका सम्बन्ध अच्छे-बुरे, सही-गलत, विकास-ह्रास आदि से नहीं है। फिचर के अनुसार, "परिवर्तन पहले की अवस्था या अस्तित्व के प्रकार में अन्तर को कहते हैं।" मुख्यत: परिवर्तन का सम्बन्ध निम्न तीन घटकों से होता है–वस्तु, समय और भिन्नता।

परिवर्तन के घटक (Components of Change)

परिवर्तन की व्याख्या, विश्लेषण एवं मूल्यांकन का सम्बन्ध तीन घटकों–(1) वस्तु, (2) समय, और (3) भिन्नता से है।

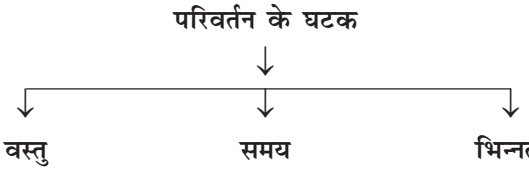

पहला : यह स्पष्ट एवं सुनिश्चित होना चाहिये कि परिवर्तन किस वस्तु या विषय में देखा जा रहा है। दूसरा : परिवर्तन के लिये समय के अन्तराल का होना आवश्यक है अर्थात् एक समय बिन्दु पर परिवर्तन को नहीं देखा जा सकता है। तीसरा: परिवर्तन दो समय बिन्दुओं पर वस्तु के रूप, रंग, आकार-प्रकार, संरचना और कार्यों आदि में पूर्ण रूप से भिन्नता आने पर ही माना जाता है। इसे शिक्षा का उदाहरण लेकर देख सकते हैं। शिक्षा वस्तु है। इसमें भारत में परिवर्तन का अध्ययन करने के लिये वैदिक काल और वर्तमान काल के दो समय बिन्दुओं को लेकर देखेंगे कि शिक्षा की पद्धति, उपकरण, उद्देश्य, संरचना और कार्यों में कितनी भिन्नताएँ आई हैं। अगर भिन्नता आई है तो निष्कर्ष देंगे कि भारत में शिक्षा में परिवर्तन हुआ है।

निष्कर्षत: परिवर्तन किसी वस्तु अथवा विषय में दो समयों के मध्य प्रतीत होने वाली भिन्नता है। परिवर्तन की अग्रलिखित विशेषताएँ होती हैं–

1. परिवर्तन किसी भी भौतिक अथवा अभौतिक वस्तु को निश्चित दिशा में विचलन की स्थिति है।
2. यह विचलन या तो प्राकृतिक नियमों द्वारा स्वत: ही होता है अथवा मानव समाज द्वारा योजनाबद्ध रूप में हो सकता है।
3. परिवर्तन से वस्तु का सम्पूर्ण रूप बदलता है अथवा उसका कोई पक्ष-विशेष प्रभावित होता है।
4. परिवर्तन एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है अर्थात् यह सर्वत्र पाया जाता है।
5. परिवर्तन सार्वकालिक प्रघटना है अर्थात् हर काल में किसी-न-किसी रूप में परिवर्तन अवश्य होता है।

उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर ही फिचर ने पहले की अवस्था या अस्तित्व के प्रकार के अन्तर को परिवर्तन कहा है। परिवर्तन क्यों होता है? इसके उत्तर में ग्रीन का मानना है कि प्रत्येक समाज असन्तुलन के दौर से गुजर रहा है। कुछ व्यक्ति सम्पूर्ण सन्तुलन की इच्छा रखते हैं तथा कुछ इसके लिए प्रयास करते हैं।

सामाजिक परिवर्तन एक अवश्यम्भावी तथ्य है। डेविस ने इसकी निश्चितता प्रकट करते हुए लिखा है, "हम स्थायित्व एवं सुरक्षा के लिए प्रयत्नशील हो सकते हैं, समाज के स्थायित्व का भ्रम चारों ओर फैलाया जा सकता है, निश्चयात्मकता के प्रति खोज निरन्तर बनी रह सकती है और विश्व अनन्त है। इस विषय में हमारा विश्वास दृढ़ हो सकता है, लेकिन यह तथ्य सदैव विद्यमान रहने वाला है कि विश्व के अन्य तत्त्वों की तरह समाज में अपरिहार्य रूप से और बिना किसी छूट के सदैव परिवर्तन होता रहता है।"

नोट

परिवर्तन की प्रकृति को विल्बर्ट मूर ने इस प्रकार स्पष्ट किया है–

(1) प्रत्येक समाज अथवा संस्कृति में परिवर्तन नियमित रूप से और बार-बार होते रहते हैं। (2) परिवर्तन देश-काल की दृष्टि से सापेक्ष हैं। किसी काल विशेष में हुए परिवर्तन समस्त विश्व को प्रभावित कर सकते हैं। परिवर्तन के प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों प्रकार के परिणाम हो सकते हैं। (3) चूँकि समकालीन परिवर्तन 'प्रत्येक स्थान' पर सम्भाव्य हैं और प्रत्येक स्थान पर इनके परिणाम महत्त्वपूर्ण और अर्थपूर्ण हो सकते हैं, इसलिए इनका दोहरा महत्त्व है। (4) पहले के समय की तुलना में समकालीन परिवर्तन अधिक हुए हैं अर्थात् समकालीन परिवर्तन नियोजित अधिक हैं। (5) कोई सामान्य-सा परिवर्तन भी व्यक्तिगत जीवन व समाज के व्यापक क्षेत्रों को प्रभावित कर सकता है। (6) परिवर्तन की प्रकृति संचयी होती है। अर्थात् एक के बाद दूसरा परिवर्तन आपस में मिले और जुड़े हुए रूप में नई कार्य पद्धतियों को जन्म देते हैं। इस बीच कई कार्य पद्धतियाँ अनुपयोगी हो जाती हैं।

सामाजिक प्रगति एवं सामाजिक परिवर्तन (Social Progress and Social Change)

सामाजिक प्रगति भी सामाजिक परिवर्तन है। सामाजिक परिवर्तन की अनेक प्रक्रियाएं एवं ढंग हैं, उनमें सामाजिक उद्विकास, प्रगति, विकास एवं क्रान्ति, आदि प्रमुख हैं।

क्या आप जानते हैं इस सन्दर्भ में यह प्रश्न किया जाता है कि **क्या प्रत्येक परिवर्तन प्रगति है?** (Is every change progress?) इस प्रश्न का हमारा उत्तर नकारात्मक होगा अर्थात् हम **प्रत्येक परिवर्तन को प्रगति नहीं कह सकते।**

परिवर्तन तो एक तटस्थ प्रक्रिया है, यह अच्छाई व बुराई किसी भी दिशा में हो सकता है, किन्तु जब वह समाज द्वारा निर्धारित मूल्यों की ओर होता है तो उसे हम प्रगति कहेंगे अन्यथा नहीं। किसी परिवर्तन को प्रगति कहें या नहीं, इसके लिए हमें परिवर्तन के प्रभावों एवं परिणामों को भी देखना होगा। यदि सामाजिक परिवर्तन निर्धारित लक्ष्यों की ओर है, समाज के लिए लाभप्रद एवं कल्याणकारी है, मानवीय सुख-सुविधाओं में वृद्धि करता है तो उसे हम प्रगति कहेंगे, दूसरे अर्थों में, जो परिवर्तन प्रगति की कसौटियां या मापदण्डों के अनुरूप होता है, उसे ही प्रगति कहा जायेगा अन्यथा नहीं। सामाजिक प्रगति एवं परिवर्तन में निम्नांकित भेदों द्वारा यह बात और अधिक स्पष्ट हो जायेगी :

1. सामाजिक प्रगति में उद्देश्य निश्चित होता है, उसी की ओर बढ़ना प्रगति कहलाता है जबकि सामाजिक परिवर्तन का कोई लक्ष्य नहीं होता।
2. सामाजिक प्रगति की दिशा निश्चित होती है जबकि सामाजिक परिवर्तन की कोई दिशा तय नहीं है, यह किसी भी दिशा में हो सकता है।
3. सामाजिक प्रगति का सम्बन्ध सामाजिक मूल्यों से है। यह एक नैतिक अवधारणा है जबकि सामाजिक परिवर्तन नैतिक दृष्टि से एक तटस्थ प्रक्रिया है जिसका सामाजिक मूल्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है।
4. सामाजिक प्रगति में समाज को लाभ होता है जबकि सामाजिक परिवर्तन से लाभ एवं हानि दोनों ही हो सकते हैं।
5. सामाजिक प्रगति स्वचालित नहीं होती, उसके लिए प्रयास करने होते हैं जबकि सामाजिक परिवर्तन स्वचालित एवं नियोजित दोनों ही हो सकता है।

इस प्रकार सामाजिक प्रगति सामाजिक परिवर्तन का एक अंग है। यह समाज द्वारा निश्चित, इच्छित एवं मान्यता प्राप्त दिशा में परिवर्तन है।

2.20 सारांश (Summary)

- समाजशास्त्र के जनक अगस्ट कॉम्ट ने भी उद्विकास प्रगति और विकास में अंतर नहीं कर पाए। हॉबहाउस ने विकास और प्रगति का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है।

नोट

- मेकाइवर एवं पेज के अनुसार "जब परिवर्तन में निरंतरता ही नहीं होती वरन् परिवर्तन की एक दिशा भी होती है तो ऐसे परिवर्तन से हमारा तात्पर्य उद्विकास से होता है।"
- प्रगति मूल्यों पर आधारित होती है।
- परिवर्तन की प्रकृति संचयी होती है।

2.21 शब्दकोश (Keywords)

1. **सामाजिक परिवर्तन (Social Change)**–किसी समाज के सामाजिक संगठन, उसकी किन्हीं सामाजिक संस्थाओं अथवा सामाजिक भूमिकाओं के प्रतिमानों में अथवा सामाजिक प्रक्रियाओं में होने वाले किसी भी प्रकार के रूपांतरण, बदलाव की प्रक्रिया को सामाजिक परिवर्तन कहते हैं।
2. **सामाजिक प्रगति (Social Progress)**–स्वीकृत एवं वांछित लक्ष्य अथवा लक्ष्यों की दिशा में होने वाले सामाजिक परिवर्तन को सामाजिक प्रगति कहते हैं।

2.22 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. डार्विन का उद्विकासीय सिद्धांत क्या है?
2. प्रगति की अवधारणा को समझाएँ।
3. परिवर्तन के अर्थ समझाएँ।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. स्वरूप
2. उद्विकास
3. सार्वभौमिक
4. उद्विकास
5. अवधारणाओं
6. ऑगवर्न।

2.23 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. विकास का समाजशास्त्र – *एम. अहमद, न्यू एज इन्टरनेशनल।*
2. विकास का समाजशास्त्र – *राव राममेहर सिंह, अर्जुन पब्लिकेशन।*

नोट

इकाई–3: संरचना में परिवर्तन और संरचना का परिवर्तन (Change in Structure and Change of Structure)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

3.1 समाज : एक संरचना या ढाँचे के रूप में (Society : As a Creation or Infra-structure)

3.2 परिवर्तन के आंतरिक और बाह्य स्त्रोत (Endogenous and Exogenous Sources of Change)

3.3 सामाजिक परिवर्तन के आंतरिक और बाह्य स्त्रोत (Endogenous and Exogenous Sources of Social Change)

3.4 भारत में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ (Process of Social Change in India)

3.5 संस्कृतिकरण (Sanskritisation)

3.6 लघु एवं महान् परम्पराएँ (Little and Great Traditions)

3.7 आधुनिकीकरण (Modernisation)

3.8 आधुनिकीकरण : परिवर्तन की एजेंसियाँ, मास मीडिया, शिक्षा और संचार (Modernisation : Agents of Change, Mass Media, Education and Communication)

3.9 एथनिसिटी, सांस्कृतिक पहचान और परिवर्तन (Ethnicity, Cultural Identity and Change)

3.10 आधुनिकीकरण और परिवर्तन की समस्याएँ (Modernisation and Problems of Change)

3.11 सारांश (Summary)

3.12 शब्दकोश (Keywords)

3.13 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

3.14 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- भारतीय सामाजिक संरचना में परिवर्तन क्या-क्या हुए हैं? इसकी जानकारी प्राप्त होती है।
- भारतीय सामाजिक संरचना का परिवर्तन कैसे हुआ? इसकी जानकारी मिलती है।

नोट

प्रस्तावना (Introduction)

जो समाज को एक संरचना या ढाँचे के रूप में देखते हैं वे इसकी कल्पना संस्थाओं की एक ऐसी समष्टि के रूप में करते हैं जो सामाजिक जीवन के लिए आधारभूत ढांचा साबित होती है। इस दृष्टि से, समाज संस्थाओं का एक संकलन मात्र ही नहीं है बल्कि संस्थाओं की एक जटिल संरचना है। ये संस्थाएं एक-दूसरे से संबंधित होती हैं और एक-दूसरे पर हावी होती है। **गिन्सबर्ग** के अनुसार "ये उन्हें उन सबसे अलग करती हैं जिनमें परस्पर इस तरह का संबंध नहीं होता है या जो एक-दूसरे से व्यवहार के स्तर पर भिन्न होते हैं"। 'प्रस्थिति' और 'भूमिका' की अवधारणाओं के आलोक में समाज को एक संरचना या ढाँचे के रूप में देखा जा सकता है।

3.1 समाज : एक संरचना या ढाँचे के रूप में (Society : As a Creation or Infra-structure)

अगर हम अपने चारों ओर नजर दौड़ाएं तो व्यवहार के अनेक मानदंड या मानक दृष्टिगोचर होते हैं। इनमें से ऐसे मानक बहुत कम हैं जो सार्वत्रिक रूप से हर किसी पर लागू होते हैं। कुछ मानक एक पूरे समूह पर लागू होते हैं जबकि कुछ अन्य मात्र एक व्यक्ति पर। अत: हर सभ्य समाज यह मानता है कि कानूनी दृष्टि से हत्या एक अत्यंत गंभीर व दंडनीय अपराध है। यह एक सार्वत्रिक मानदंड है पर अगर यह बात सिद्ध हो जाती है कि किसी ने आत्मरक्षार्थ घर में जबरन घुस आने वाले किसी गुंडे की हत्या की तो उसे दंडित नहीं भी किया जा सकता है। इसी तरह जब कोई सैनिक रणभूमि में लोगों को मारता है तो उसे कानूनन कोई दंड नहीं भोगना पड़ेगा। इन दृष्टांतों से यह स्पष्ट होता है कि यह सवाल कि कोई सामाजिक मानदंड खास-खास व्यक्तियों पर लागू होता है अथवा नहीं उनकी सामाजिक प्रस्थिति पर निर्भर करता है। किसी खास प्रस्थिति से जुड़ा मानदंड दूसरी मानदंडों वाले लोगों के लिए पूरी तरह अस्वीकार्य होगा। इन प्रतिमानों का संयोजन भूमिका (रोल) कहलाती है। प्रस्थिति और भूमिका एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। प्रस्थिति (स्टेटस) अन्य अनेक प्रस्थितियों के बरक्स एक खास प्रस्थिति है। भूमिका आचार-व्यवहार की वह प्रणाली है जिसकी उन लोगों से आशा की जाती है जो एक खास प्रस्थिति के अन्तर्गत आते हैं।'

स्पष्टत: प्रस्थिति सिर्फ सामाजिक पहचान का प्रतीक है। किसी जटिल समाज में लोगों के बीच सामाजिक अंत:क्रियाओं की एक बहुत बड़ी तादाद 'व्यक्तिगत अंत:क्रियाओं के बजाय प्रस्थितियों की अंत:क्रियाएं हैं।' नाइयों, बस कंडक्टरों, बस चालकों और अनेक अन्य लोगों के साथ हममें से हर कोई सामाजिक तौर पर संबद्ध है। यह एक दिलचस्प बात है कि यद्यपि हम इनमें बहुतों के नामपतों के बजाए सिर्फ उनकी प्रस्थिति के बारे में जानते हैं, उनसे हमारा सामाजिक संबंध होता है। किसी बस में सवार लोगों के बीच परस्पर तथा उनके और बस कंडक्टर के बीच प्रस्थितिमूलक अंत:क्रियाएँ होती हैं पर उनके बीच व्यक्तिगत जान-पहचान के आधार पर अंत:क्रियाओं की संभावना बहुत कम होती है।

अगर हम किसी खास 'काल-बिन्दु' (प्वाइंट आफ टाइम) को ध्यान में रखें तो प्रस्थिति तथा भूमिका-ये दोनों ही अवधारणाएं स्थिर (स्टेटिक) प्रतीत होती हैं। प्रस्थिति निश्चित और अपरिवर्तनशील होती हैं। यह बात भूमिका के संदर्भ में भी सत्य है। इस दृष्टि से देखा जाए तो समाज वस्तुत: एक संरचना या ढांचा ही है।

पर जब हम किसी 'कालावधि' (पीरियड आफ टाइम) पर विचार करते हैं तो प्रस्थिति और भूमिका गत्यामक (डायनेमिक) अवधारणाएं प्रतीत हाती हैं। समय-सयम पर दूसरी प्रस्थितियों के सापेक्ष खास प्रस्थिति में परिवर्तन होता रहता है। भूमिका में भी तदनुरूपी बदलाव आता है। मसलन शिक्षकों व छात्रों के बीच आज से पचास साल पहले जिस तरह का संबंध था वैसा संबंध आज नहीं है। प्रस्थिति और भूमिका के परिप्रेक्ष्य में इस दौरान अच्छा-खासा बदलाव आया है। हम बड़ी आसानी से यह कल्पना कर सकते अब कि भविष्य में सयम के साथ इसी तरह के परिवर्तन होते रहेंगे। यदाकदा किसी खास प्रस्थिति में नई बाध्यताओं और नए दायित्वों का समावेश होता रहेगा जबकि पुरानी बाध्यताएं तथा पुराने दायित्व खत्म होते जाएंगे। उदाहरण के लिए अगर कोई नया अधिनियम यह प्रावधान देता

नोट

कि छात्र संघ के महासचिव को महाविद्यालय के अधिशासी निकाय (गवर्निंग बाडी) का 'अपदेन' सदस्य भी होना चाहिए तो यह अतिरिक्त दायित्व इस पद पर आसीन व्यक्ति की प्रस्थिति और भूमिका दोनों को बदल देगा। हम एक ही पद पर आसीन दो अलग-अलग व्यक्तियों की स्थिति पर भी विचार कर सकते हैं (जिनकी प्रस्थिति एक समान है) जो बिल्कुल भिन्न प्रकार की भूमिकाएं निभाते हैं (अर्थात् अलग-अलग तरह से अपने-अपने प्रकार्यों का संपादन करते हैं)। लगभग सभी क्षेत्रों में एक पद पर आसीन दो अलग-अलग व्यक्ति अलग-अलग तरह से अपने दायित्वों का निर्वाहन करते हैं। मिसाल के तौर पर एक ही महाविद्यालय में क्रमवार ढंग से पदासीन होने वाले दो प्राचार्य अनुशासन बरकरार रखने के लिए दो तरह के तरीके अपना सकते हैं।

कालाविधि के संदर्भ में देखने से यह प्रतीत होता है कि समाज एक प्रक्रिया है और सामाजिक संबंध निरंतर प्रवाह या गतिमयता की स्थिति में होते हैं। अगर समाज में किसी तरह का संतुलन है तो इसे हम चर या गत्यात्मक संतुलन (मूविंग इक्वीलिब्रियम) मान सकते हैं।

जाहिर है समाज को एक प्रक्रिया और एक संरचना-इन दोनों रूपों में देखा जा सकता है। अत: इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि जो लेखक समाज को सामाजिक संबंधों की एक व्यवस्था या प्रक्रिया के रूप में देखते हैं उन्हें अपने विश्लेषण में संस्थाओं (अर्थात् प्रस्थिति एवं भूमिका के जटिल ढांचे) को जगह देनी ही होगी। जो समाज को एक संरचना या ढाँचे के रूप में देखते हैं उन्हें सामाजिक संबंधों को भी तरजीह देनी होगी जो स्पष्टत: समय के साथ लगातार बदलते रहते हैं। अत: स्पष्ट है कि दोनों दृष्टिकोण परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं।

अतंत: हमें यह मानना पड़ेगा कि किसी ऐसे व्यक्ति के लिए जो समाज का अध्ययन करता है, समाज के बारे में इन दोनों दृष्टिकोणों की अनिवार्यता अकारण नहीं है। जैसाकि मैकाइवर कहते हैं–"समाज कालक्रम में ही जीवित रहता है। यह निरंतर होने की प्रक्रिया है। बनी-बनायी चीज या उत्पाद नहीं है।" समाज का सार यही है, फिर भी अगर हमें समाज का विश्लेषण करना है और इसके विभिन्न अवयवों के भेद को स्पष्ट करते हुए उनके अंत: संबंध का अध्ययन करना है तो इसे संरचना मानने के सिवा और कोई चारा नहीं है। अगर विश्लेषण का विषय निरंतर बदलता रहता है और उसमें नवीनता दिखाई देती है तो इस तरह का विश्लेषण संभव नहीं हैं। चिकित्सा विज्ञान का कोई छात्र मानव शरीर के बारे में जानने के लिए कंकाल का अध्ययन करता है। इसी तरह एक संरचना के रूप में समाज का विश्लेषण उसके सारतत्व को समझने की दिशा में एक कदम है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. ..... के संदर्भ में देखने से यह प्रतीत होता है कि समाज एक प्रक्रिया है और सामाजिक संबंध निरन्तर प्रवाह की स्थिति में होते हैं।
2. जाहिर है ..... को एक प्रक्रिया और एक संरचना–इन दोनों रूपों में देखा जा सकता है।
3. किसी ऐसे व्यक्ति के लिए जो समाज का अध्ययन करता है, समाज के बारे में इन दोनों दृष्टिकोणों की ..... अकारण नहीं है।

3.2 परिवर्तन के आंतरिक और बाह्य स्त्रोत (Endogenous and Exogenous Sources of Change)

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को समाजशास्त्रियों ने अपने-अपने संदर्श से देखा है। हाल में सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन के लिये योगेन्द्र सिंह ने एक नया सैद्धान्तिक मॉडल रखा है। इस संदर्श में हमें उनकी पुस्तक **माडर्नाइजेशन ऑफ इण्डियन ट्रेडिशन** (Modernisation of Indian Tradition, 1995) का उल्लेख अवश्य करना चाहिए।

नोट

नोट्स योगेन्द्र सिंह ने भारत में होने वाले सामाजिक परिवर्तन के विश्लेषण की एक बहुत अच्छी कवायद की है। वे परिवर्तन की कतिपय मुख्य प्रक्रियाओं को मिलाकर एक मिश्रित प्रारूप तैयार करते हैं और यह प्रारूप ही सामाजिक परिवर्तन के **आंतरिक स्त्रोतों** (Endogenous or Orthogenetic Sources) और **बाह्य स्त्रोतों** (Exogenous Sources) के नाम से जाना जाता है।

योगेन्द्र सिंह का कहना है कि भारतीय समाज में कुछ परम्पराएँ हैं, एक सामाजिक संरचना है। **परम्परा और संरचना** (Tradition and Structure) समाज को बनाते हैं। आज जो आधुनिकीकरण की वृहद् प्रक्रिया चल रही है वह इन परम्पराओं और सामाजिक संरचना दोनों को प्रभावित करती है। जब हम आंतरिक स्त्रोतों की बात करते हैं तो इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक परम्परा और संरचना में कुछ ऐसा होता है कि अन्दर की ताकतों से ही परिवर्तन आता है। उदाहरण के लिये जाति व्यवस्था में अपने आप ही सोपान व्यवस्था कमजोर हो जाती है या सामाजिक निर्योग्यताएँ ढीली पड़ जाती हैं। बाहर से जब जाति को न बदला जाये और वह अपनी ताकतों से अन्दर ही अन्दर बदल जाये तो इसमें परिवर्तन का स्त्रोत आंतरिक होता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि परिवर्तन का स्त्रोत सामाजिक संरचना से बाहर का होता है। इसे **योगेन्द्र सिंह** बाह्य स्त्रोत कहते हैं। इस तरह परिवर्तन के ये दोनों स्त्रोत–आंतरिक और बाह्य–सामाजिक परम्परा और संरचना को बदलते हैं और आधुनिकीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जो इन दोनों प्रकार के स्त्रोतों को परिवर्तन के लिये तैयार करती है।

अपने इस सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हुए **योगेन्द्र सिंह** कहते हैं कि हमने प्राय: सामाजिक संरचना में होने वाले परिवर्तन का विश्लेषण किया है और परम्परा को छोड़ दिया है। उनका तर्क है कि समाज में आने वाले परिवर्तन को समझने के लिये हमे परम्परा और संरचना दोनों का अध्ययन करना चाहिये। यहाँ हम योगेन्द्र सिंह द्वारा दिये गये इन दोनों स्त्रोतों का विश्लेषण करेंगे।

टास्क परिवर्तन के आंतरिक और बाह्य स्त्रोत क्या हैं? संक्षिप्त वर्णन करें।

3.3 सामाजिक परिवर्तन के आंतरिक और बाह्य स्त्रोत (Endogenous and Exogenous Sources of Social Change)

योगेन्द्र सिंह कहते हैं कि भारत में सामाजिक परिवर्तन की किसी भी व्याख्या को करना बहुत कठिन कार्य है। कठिन इसलिये कि यहाँ सामाजिक संरचना की गहराई बहुत अधिक है। इस समाज में एकाधिकता है। कई संस्कृतियाँ और उपसंस्कृतियाँ हैं, भाषाएँ और बोलियाँ हैं, और कई धार्मिक सम्प्रदाय हैं। यहाँ कोई एक परम्परा नहीं है, अगणित परम्पराएँ हैं। लोगों की कोई एक महत्त्वाकांक्षा नहीं है, महत्त्वाकांक्षाओं का एक पूरा अम्बार है। ऐसी अवस्था में यह पहचान करना कि कहाँ सामाजिक परिवर्तन प्रभावशाली है और कहाँ नहीं, कठिन काम है। यह सब होते हुए भी वे सामाजिक परिवर्तन को परिभाषित करते हैं।

सामाजिक परिवर्तन और वैचारिकी (Social Change and Ideology)

वास्तविक जीवन में सामाजिक परिवर्तन में वैचारिकी होती है और इसलिये सामाजिक परिवर्तन गैर-वैज्ञानिक होता है। इसमें नैतिकता होती है, उद्विकास होता है। सामाजिक परिवर्तन के साथ संस्कृति और मूल्य जुड़े होते हैं। इन मूल्यों और वैचारिकी के लिये कोई सर्वसम्मति नहीं होती और कभी-कभी सर्वसम्मति भी होती है। प्रकार्यवादियों का तो कहना है कि समाज की संरचना में **मतैक्य** (Consensus) होता है। यदि समाज में जाति व्यवस्था है तब सभी इसे स्वीकार करते हैं। संघर्ष सिद्धान्तवेत्ता सामाजिक संरचना में **तनाव** (Tension) और संघर्ष की भूमिका को महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं। उनके हिसाब से समाज में यदि जातियाँ हैं तब उच्च जातियों और दलितों में संघर्ष होता

नोट

है। हम सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या की इन कठिनाइयों को अतिरंजित नहीं करना चाहते। हम तो यह कहते हैं कि कई बार मतैक्य और संघर्ष दोनों ही समाज के लिये एकीकरण का काम करते हैं।

इस सामान्य भूमिका के बाद अब हम सामाजिक परिवर्तन के **आंतरिक स्त्रोतों** (Endogenous Sources) का उल्लेख करेंगे।

भारतीय समाज की अपनी एक एकता है। इसमें परिवर्तन आये हैं लेकिन समाज की निरन्तरता बराबर बनी हुई है। इस देश में परम्पराएँ ऐसी हैं जो एकता को बनाये रखती हैं। रुचिकर बात यह है कि समाज में कई परम्पराएँ हैं। इसमें विभिन्नता भी बहुत है। फिर भी इनके पीछे जो मूल्य है, विश्वास है वे समाज की निरन्तरता को बनाये रखते हैं, उदाहरण के लिये भारत में परिवारर के कई स्वरूप हैं। यहाँ संयुक्त परिवार हैं, एकाकी परिवार हैं, पितृवंशीय परिवार हैं। इनकी परम्पराएँ भी हैं लेकिन परिवार की इन परम्पराओं के पीछे जो मूल्य हैं वे इतने ताकतवर हैं कि सैकड़ो वर्षों के बाद भी आज संयुक्त परिवार के प्रति हमारा एक अगाध प्रेम है। यह वास्तव में एक मूल्य, विश्वास है जो एकता और निरन्तरता देता है।

परम्परा बदलती नहीं हों ऐसा नहीं है। परम्परा के अन्दर ही ऐसे तत्त्व हैं जो परम्परा को बदलते रहते हैं इन तत्वों को योगेन्द्र सिंह परिवर्तन के आंतरिक स्त्रोत कहते हैं।

क्या आप जानते हैं हमारी प्राचीन परम्पराओं में एक प्रकार का **आदिम** (Primordial) तत्व था। हम आदिवासियों की तरह रहते थे। जवाहरलाल नेहरु कहते हैं कि सिंधु घाटी के लोग अपने पेट के ऊपर ताम्बे की पत्तियाँ बाँधते थे। वे समझते थे कि उनका ज्ञान पेट में होता है और यह ज्ञान फूटकर बाहर न निकल जाये; इसलिये वे ताम्बे की पट्टियाँ बाँधते थे। यह तो बाद में पता चला कि मनुष्य का दिमाग उसके पेट में नहीं रहता, मस्तिष्क में रहता है। हमारी परम्पराओं की यह आदिम अवस्था थी।

किसी बाह्य सम्पर्क से आये बिना परम्पराओं की इस व्यवस्था में अपने आप उद्विकास हुआ। अब हम इस आदिम अवस्था से आगे बढ़े। इस तरह का परिवर्तन परम्परा के आंतरिक स्त्रोतों के द्वारा ही होता है। इस परिवर्तन को **योगेन्द्र सिंह** आंतरिक स्त्रोत से होने वाला परिवर्तन कहते हैं।

आंतरिक स्त्रोतो से होने वाले परिवर्तन में वे **महान् परम्परा** को रखते हैं। यह महान् परम्परा रामायण, महाभारत, पुराण आदि हैं, से बनी है। इसमें यदि आंतरिक कारकों से परिवर्तन आता है तो यह मूल संरचना को नहीं बदलता और परम्परा की निरन्तरता बनी रहती है।

योगेन्द्र सिंह कहते हैं कि ऐसी परिस्थितियाँ भी आती हैं अब किसी परम्परा में बाहर से परिवर्तन आता है। उदाहरण के लिये यह महान् परम्परा जब स्थानीय लोगों के पास पहुँचती हैं तब ये लोग अपनी आवश्यकताओं के अनुसार इसमें परिवर्तन कर देते हैं। यहाँ यह परिवर्तन बाह्य स्त्रोतों द्वारा होता है। उदाहरण के लिये **मेकिम मेरियट** कहते हैं कि जब गाँव में जन्माष्टमी के बाद गोवर्धन पर्वत घर के आँगन मे बनाया जाता है तो लोग इसका अर्थ निकालते हैं कि पशु धन में वृद्धि हो जाये। वैसे गोवर्धन का अर्थ पहाड़ से होता है जिसे कृष्ण ने अपने हाथों से उठाया था। महान् परम्परा में परिवर्तन स्थानीय लोगों की आवश्यकताओं के अनुसार हो जाता है। यह परिवर्तन बाह्य स्त्रोतों से होता है।

महान् परम्परा में भी परिवर्तन हो सकता है। यह परिवर्तन आधुनिकीकरण के माध्यम से हो सकता है। हम जिस तर्क को दे रहे हैं वह यह है कि परिवर्तन के स्त्रोत आन्तरिक और बाह्य दोनों होते हैं। कई बार ये दोनों स्त्रोत एक साथ करते हैं और परस्पर विरोधी भी होते हैं। कितनी रुचिकर बात है कि उत्तर भारत में निम्न जातियाँ संस्कृतिकरण द्वारा **द्विज** जातियों का अनुकूलन करती हैं वहीं दक्षिण भारत में निम्न जातियाँ उच्च जातियों अर्थात् ब्राह्मणों का विरोध करती हैं। ये दोनों प्रक्रियाएँ जाति व्यवस्था में एक साथ काम करती हैं, और दोनों परस्पर विरोधी हैं। योगेन्द्र सिंह कहते हैं कि आंतरिक और बाह्य स्त्रोत परस्पर विरोधी होकर भी दोनों समाज के एकीकरण में सहायक होते हैं।

नोट

3.4 भारत में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ (Process of Social Change in India)

सामाजिक परिवर्तन के अंतरिक और बाह्य दोनों स्रोतों के आधार पर हमें देश में मुख्य रूप से निम्न प्रक्रियाएँ देखने को मिलती हैं–

(1) संस्कृतीकरण (Sanskritisation),

(2) लघु एवं महान् परम्पराएँ (Little and Great Traditions),

(3) आधुनिकीकरण (Modernisation).

3.5 संस्कृतीकरण (Sanskritisation)

भारत की पारम्परिक सामाजिक संरचना में सांस्कृतिक गतिशीलता का विश्लेषण संस्कृतिकरण की अवधारणा करती है। इस अवधारणा के प्रणेता **एम.एन. श्रीनिवास** हैं। **श्रीनिवास** ने कुर्ग का अध्ययन किया था और इसमें उन्होंने पाया कि **निम्न जातियाँ, जाति की सोपानिक व्यवस्था में अपनी प्रस्थिति को ऊँचा उठाने के लिये ब्राह्मणों के रीति-रिवाज को अपनाने लगी।** ऐसा करने में इन निम्न जातियों ने अपनी कुछ परम्पराओं को छोड़ दिया। उन्होंने मद्यपान पर निषेध लगा दिया, मांसाहार छोड़ दिया और अपने देवी-देवताओं के ऊपर जो नर बलि करती थी, उसे बन्द कर दिया। उन्होंने ब्राह्माणों की भोजन परम्परा को अपना लिया। पहनावा भी ऐसा ही कर लिया तथा धर्मविधि भी ब्राह्मणों की ही अपना ली। **श्रीनिवास** कहते हैं कि इन निम्न जातियों का विश्वास है कि एक-दो पीढ़ी में चलकर उनका स्थान जाति की सोपानिक व्यवस्था में ऊँचा उठ जायेगा।

संस्कृतिकरण की अवधारणा ब्राह्मणीकरण की अवधारण से अधिक वृहद् है, इसका परिवेश विशाल है। **श्रीनिवास** को लगा कि निम्न जातियाँ ब्राह्मणों का ही नहीं अन्य ऊँची जातियों का अनुकरण भी करती है। इन ऊँची जातियों में क्षत्रिय भी हैं। जाट और वैश्य भी हो सकते हैं। इस सम्पूर्ण सांस्कृतिक परिवर्तन में मुख्य बात तो जाति की सोपानिक व्यवस्था में अपनी प्रस्थिति को ऊँचा उठाना है। जातियाँ कोई भी हो सकती हैं। लेकिन एक बात श्रीनिवास अवश्य कहते हैं कि कहीं पर भी शुद्र जातियों को निम्न जातियों ने अपने अनुकरण का मॉडल नहीं बनाया है।

संस्कृतीकरण के लक्षण (Characteristics of Sanskritisation)

जब मैसूर की जातियों के अध्ययन के आधार पर श्रीनिवास ने संस्कृतीकरण की अवधारणा को रखा तब इस पर कई आलोचनाएँ हुईं। यह सब होते हुए भी आज सांस्कृतिक परिवर्तन के क्षेत्र में यह अवधारणा महत्त्वपूर्ण समझी जाती है। इसके निम्नलिखित लक्षण हैं:

(1) संस्कृतीकरण की अवधारणा सामाजिक और सांस्कृतिक गतिशीलता का अध्ययन करती है।

(2) यह परिवर्तन आंतरिक स्रोतों द्वारा होता है। जाति एक व्यवस्था है; इसका सोपान है। इसमें जब किसी पायदान पर खड़ी हुई जाति ऊँचा उठने का प्रयास करती है तो इस परिवर्तन का कारण जाति व्यवस्था के अन्दर ही है। निम्न जातियाँ जाति व्यवस्था से बाहर अपनी प्रस्थिति को सुधारना नहीं चाहती। इसी कारण हम इस सांस्कृतिक परिवर्तन का स्रोत आंतरिक समझते हैं।

(3) संस्कृतीकरण शीर्ष (Vertical) है।

(4) संस्कृतीकरण की अवधारणा का केन्द्र परम्परा होती है और प्रत्येक जाति की एक ऐतिहासिक परम्परा होती है। इस परम्परा के अनुसार जाति की सोपान व्यवस्था में कोई जाति शीर्ष पर होती है, कोई मध्य में और कोई निम्न स्तर पर। यह स्तर परम्परा सम्मत होता है।

संस्कृतीकरण का इतिहास बहुत लम्बा है। इसका प्रारम्भ ब्राह्मणीकरण से है और तब ऊँची जातियों का अनुकरण संस्कृतीकरण कहा जाने लगा। आज तो हमारे देश में आदिवासी, मुसलमान या अन्य गैर-हिन्दू जातियाँ जब ऊँची जातियों के मूल्यों को अपनाती हैं तब यह संस्कृतीकरण कहलाता है। परिवर्तन की इस दिशा को देखकर श्रीनिवास

नोट

संस्कृतिकरण की नवीनतम परिभाषा में कहते हैं कि **यह वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा निम्न हिन्दू जातियाँ या जनजातियाँ या अन्य समूह अपने रीति-रिवाजों, धर्म विधियों, विचारधारा, जीवन पद्धति आदि में द्विज जातियों की प्रस्थिति को प्राप्त करने के लिये सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन करती हैं।**

3.6 लघु एवं महान् परम्पराएँ (Little and Great Traditions)

लघु एवं महान् परम्परा की अवधारणा को सबसे पहले **रोबर्ट रेडफील्ड** ने मेक्सिको के गाँवों के अध्ययन में लागू किया था। इस प्रयोग से **मिल्टन सिंगर** और **मेकिम मेरियट** प्रभावित हुए। इन दोनों मानवशास्त्रियों ने **रेडफील्ड** की इस अवधारणा को भारतीय गाँवों के अध्ययन पर लागू किया है। सिंगर और मेरियट जब भारतीय गाँवों का अध्ययन करते हैं तब वे दो तत्त्वों को महत्त्व देते हैं। पहला तत्त्व तो भारतीय सभ्यता है और दूसरा तत्त्व परम्परा। वे कहते हैं कि सभ्यता और परम्परा दोनों का ही उद्विकास होता है। पहला उद्विकास तो आंतरिक स्त्रोतों द्वारा होता है और दूसरा उद्विकास **बाह्य** या **विजातीय** (Heterogenous) प्रक्रियाओं द्वारा। हुआ यह है कि भारतीय सभ्यता और परम्परा, दोनों पर ही बाहरी संस्कृतियों या सभ्यताओं का प्रभाव पड़ा है।

परम्पराएँ और सभ्यता बराबर बदलते रहते हैं। पहली अवस्था में हमारी सभ्यता या परम्परा **लोक प्रधान** (Folk Dominated) रही है। यह लोक सभ्यता महान् परम्परा बन जाती है। इस महान् परम्परा में संस्कृत ग्रन्थों, वेदों, पुराणों उपनिषदों और अन्य ग्रन्थों की प्रधानता होती है। इस महान् परम्परा में ब्राह्मणों की भूमिका प्रभावी होती है। **इस भाँति महान् परम्परा वह है जिसमें सभ्यता और परम्पराएँ ऐतिहासिक होती हैं,** जिसमें शास्त्रीय ग्रन्थ होते हैं और जिसमें द्विज जातियों की प्रधानता होती है।

मेकिम मेरियट ने महान् और लघु परम्परा का अध्ययन अलीगढ़ जिले के किशनगढी गाँव में किया है। यहाँ **मेकिम मेरियट** दो और अवधारणाओं को प्रस्तुत करते हैं:

(1) सार्वभौमिकरण (Universalisation)

(2) स्थानीयकरण (Parochialisation)

सार्वभौमिकरण वह है जिसकी मान्यता सम्पूर्ण हिन्दू जातियों में हैं। इसका आधार पवित्र की धारणा होती है। महाकाव्यों और संस्कृत ग्रन्थों में जिन धर्मविधियों का उल्लेख हैं वे पवित्र विधियाँ हैं। देश के विभिन्न भागों में कोई भी महान् परम्परा को संदेह की दृष्टि से नहीं देखता है। यह परम्परा सभी जातियों के लिए अनुकरणीय है।

महान् परम्परा जब स्थानीय स्तर पर आती है तब इसके अनुकूलन में अन्तर आ जाता है। गाँव की नदी या उसके पास बहता हुआ नाला गंगा समझा जाता है। महान् परम्परा की गंगा, यमुना, सरस्वती गाँव में तो नहीं आ सकती और इसलिये गाँव की कोई भी नदी गंगा समझी जाती है। महान् परम्परा का यह **स्थानीयकरण** (Parochialisation) है। **सार्वभौमिकरण और स्थानीयकरण ऐसी प्रक्रियाएँ हैं जो महान् परम्परा और लघु परम्परा के बीच में अन्तः क्रिया स्थापित करती हैं। यहाँ यह आग्रहपूर्वक कहा जाना चाहिये कि महान् और लघु परम्परा में अन्तः क्रिया की प्रक्रिया बराबर चलती रहती है। इस अन्तःक्रिया के कारण जहाँ महान् परम्परा में बदलाव आता हैं वहाँ लघु परम्परा ताकतवर होती जाती है।**

3.7 आधुनिकीकरण (Modernisation)

एम.एन. श्रीनिवास ने सामाजिक और सांस्कृतिक गतिशीलता के विश्लेषण के लिये पश्चिमीकरण की अवधारणा को रखा था। उनका तात्पर्य यह था कि पश्चिमी संस्कृति अर्थात् ब्रिटिश संस्कृति के सम्पर्क में आने से भारत की जाति व्यवस्था में बहुत बड़ा अन्तर आया। इस अर्थ में **पश्चिमी संस्कृति के सम्पर्क के परिणामस्वरूप जातियों में जो परिवर्तन आया है, वह पश्चिमीकरण है,** वे लिखते है–

अंग्रजों के 150 वर्षों के प्रशासन के परिणामस्वरूप भारतीय समाज और संस्कृति में–तकनीकी, संस्था, विचारधारा, मूल्य–जो परिवर्तन आया है, वह पाश्चात्यकरण है।

नोट

श्रीनिवास पश्चिमीकरण के अन्तर्गत मानववाद और युक्तायुक्त (Rationality) पर अधिक जोर देते हैं। यह अंग्रेजी शासन के परिणामस्वरूप था कि हमारे यहाँ विज्ञान का विकास हुआ, प्रौद्योगिकी आगे बढ़ी, शिक्षण संस्थाएँ स्थापित हुईं, राष्ट्रीयता का विकास हुआ तथा एक नयी प्रकार की राजनीतिक संस्कृति पैदा हुई; यह सब पाश्चात्यकरण है। बाद में चलकर **श्रीनिवास** ने अपनी पुस्तक **आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन** (Social Change in Modern India, 1996) में पश्चिमीकरण के स्थान पर **आधुनिकीकरण** का प्रयोग किया है। इस प्रयोग को करते हुए भी उनकी पंसदगी पश्चिमीकरण की है। वे कहते हैं कि पश्चिमीकरण का भारत के साथ ऐतिहासिक सम्बन्ध है। हमारे लिये तो अंग्रेजी शासन का प्रभाव ऐतिहासिक है। दूसरा, पश्चिमीकरण की अवधारणा में मानववाद और युक्तायुक्त होते हैं जो आधुनिकीकरण में नहीं हैं। यह सब होते हुए भी आजकल आधुनिकीकरण एक व्यापक प्रक्रिया समझी जाती है और इसलिए यहाँ हम इसका विस्तार से विवरण देंगे।

आधुनिकीकरण अर्थ और व्याख्या (Modernisation Meaning and Analysis)

भारतीय सभ्यता और परम्पराएँ आदिम हैं। इन्हें हम महान् परम्परा में देख सकते हैं। इस महान् परम्परा को बाह्य स्त्रोतों ने प्रभावित किया है। पिछले दिनों में ये बाह्य स्त्रोत शक, हूण, मुसलमान, पारसी, अंग्रेज आदि की संस्कृतियों से सरोकार रखते थे। आज ये स्त्रोत विविध हैं और आधुनिकीकरण के इन स्त्रोतों में वैश्वीकरण और उदारीकरण बहुत बड़े स्त्रोत हो गये हैं। इन सब स्त्रोतों ने जिनमें आंतरिक स्त्रोत भी सम्मिलित हैं, भारतीय समाज और उसकी संस्कृति को बहुत अधिक प्रभावित किया है।

आधुनिकीकरण की कई व्याख्याएँ हैं। योगेन्द्र सिंह मूल्यों पर अधिक जोर देते हैं। ये मूल्य मानव अधिकार, मानवता, सामाजिक न्याय, विकास का अधिकार, नागरिक अधिकार आदि से जुड़े हुए हैं। यदि हम आधुनिकीकरण के अर्थ को समाजशास्त्रीय संस्थापकों के संदर्भ में रखें तब हमें इस पद की स्पष्टता मिल जाती है। **दुर्खीम** के समय में यूरोप में आधुनिकीकरण आ गया था। 18वीं शताब्दी में औद्योगिक क्रान्ति आ गयी थी। यांत्रिक समाज परिवर्तित होकर सावयवी समाज बन रहा था। दस्तकारी और गृह उद्योग समाप्ति के कगार पर थे। ऐसी अवस्था में **दुर्खीम** ने आधुनिकीकरण की व्याख्या की। उन्होंने कहा कि **यांत्रिक समाज का सावयवी समाज बनना ही आधुनिकीकरण है।** दूसरे शब्दों में जब स्तरीकरण बढ़ जाता है तब आधुनिकीकरण आ जाता है या आधुनिकीकरण स्तरीकरण को लाता है।

कार्ल मार्क्स ने भी आधुनिकीकरण के प्रभाव को देखा था। उन्होंने कहा कि **यह वह अवस्था है जिसमें वस्तुओं का पण्यीकरण** (Commodification) **हो जाता है।** इसका अर्थ हुआ समाज में आर्थिकीकरण ही सब कुछ है। कला, साहित्य, सौन्दर्य, सभी पण्य वस्तु बन जाते हैं; यह आधुनिकीकरण है। इस समाज में प्रत्येक वस्तु बाजार में बिकने के लिये होती है। आदमी पैसे लेकर गाता है, नृत्य करता है, साहित्य लिखता है, खेल खेलता है। इस भाँति **मार्क्स के अनुसार आधुनिकीकरण और कुछ न होकन पण्यीकरण मात्र है।**

हमारे तीसरे समाजशास्त्रीय संस्थापक **मेक्स वेबर** हैं। वेबर ने भी औद्योगीकरण को देखा था। उन्होंने इस प्रक्रिया को आधुनिकीकरण के साथ जोड़ा और तब उन्होंने कहा कि यूरोप में औद्योगीकरण ने एक **अधिकारीतन्त्र समाज** (Bureaucratic Society) की स्थापना की है। इस अधिकारीतन्त्र को उन्होंने धर्म में भी पाया। अधिकारीतन्त्र का मुख्य आधार **युक्तायुक्त** (Rationality) है।

टास्क आधुनिकीकरण का विस्तारपूर्वक वर्णन करें।

देखा जाये तो आधुनिकीकरण एक प्रकार का आदर्श प्रारूप है जिसके माध्यम से हम भारतीय समाज में आने वाले परिवर्तन की व्याख्या करते हैं। हाल में **दीपांकर गुप्ता** ने अपनी पुस्तक **मिस्टेकन मोडरनिटी** (Mistaken Modernity, 2000) में आधुनिकता को लेकर हमारे देश में जो गलतफहमियाँ हैं, उनका खुलासा किया है। वे कहते हैं कि सामान्यतया हमारे देश में आधुनिकता का अर्थ तकनीकी विकास से लिया जाता है। दूसरा इसका अर्थ

नोट

अर्वाचीन (Contemporary) से लिया जाता है। हम समझते हैं कि यदि हमारे पास मोटरकार का कोई आधुनिकतम मॉडल है, और जो आजकल बहुत प्रचलित है तब मतलब हुआ हम आधुनिक हैं। **दीपांकर गुप्ता** आधुनिकता के इस अर्थ से समहत नहीं हैं। यह तो एक प्रकार का पश्चिमी संस्कृति का नशा (Westoxication) है। उनके अनुसार आधुनिकता वह है जिसमें निम्नलिखित लक्षण हों–

(1) व्यक्ति की गरिमा,

(2) सार्वभौमिक मानकों की स्वीकारोक्ति,

(3) अर्जित स्थिति को मान्यता देना, और प्रदत्त स्थिति को अस्वीकार करना, और

(4) सार्वजनिक जीवन के प्रति जवाबदारी।

दीपांकर गुप्ता ने आधुनिकीकरण के जो लक्षण बताये हैं उनका सरोकार वास्तव में लोगों का **लोगों के साथ सम्बन्ध से है।** हमें हमारे सामाजिक सम्बन्धों में यह मानकर चलना चाहिये कि सभी लोग समान है, न कोई बड़ा है, और न छोटा। हम सभी लोग भारतीय समाज में नागरिक हैं।

नोट्स यदि हम आधुनिकीकरण के अर्थ को मेक्स वेबर में खोजें तब कहना पड़ेगा कि यह युक्तायुक्त (Rational) या औचित्यवाद है।

3.8 आधुनिकीकरण : परिवर्तन की एजेंसियाँ, मास मीडिया, शिक्षा और संचार (Modernisation : Agents of Change, Mass Media, Education and Communication)

यह सही है कि हमारे देश में आधुनिकीकरण का प्रारम्भ ब्रिटिशराज के समय से है। जब हमें लगा कि ब्रिटिश सम्पर्क के कारण इस देश में परिवर्तन आ रहें हैं तब हमने व्यवस्थित रूप से हमारी परम्पराओं का अध्ययन किया। 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही **डी. पी. मुखर्जी** ने कहा कि उपनिवेशवादी संस्कृति के संदर्थ में हमें अपनी परम्पराओं को अपने ऐतिहासिक संदर्भ में समझना होगा। **यह देखना होगा कि हमारी परम्पराएँ किस भाँति विदेशी संस्कृति को अपनाती है।** योगेन्द्र सिंह कहते हैं कि पिछले पचास वर्षों में भारतीय समाजशास्त्रियों ने इस बात का विश्लेषण किया कि बाह्य स्रोतों से निर्मित पाश्चात्य संस्कृति का स्वरूप हमारी परम्पराओं को क्या रूप देता है। इन दशकों में भारतीय संस्कृति का **आनुभविक-एथनोग्राफिक** Empirical-ethnographic) अध्ययन समाजशास्त्रियों ने किया। इन अध्ययनों की एक धारा भारतीय समाजशास्त्रियों की है जिन्होंने विभिन्न परम्पराओं का अध्ययन करके उनके बीच में जो **संयोजन** (Linkage) है उसकी पहचान की जाये। दूसरी धारा अमेरीकी सामाजिक मानवशास्त्रियों की है जिन्होंने भारतीय संदर्भ में यहाँ के समुदायों का अध्ययन किया। **इन्होंने बताया कि भारतीय सामाजिक परिवर्तन लोक समुदाय** से चलकर कृषक समुदाय तक आता है और फिर आधुनिक समाज पर रुकता है।

हाल में सामाजिक अध्ययन की एक तीसरी धारा भी सामने आयी है। यह धारा **पीपल ऑफ इण्डिया** (POI) के प्रकाशन से आई है **के.एस. सिंह** के नेतृत्व में भारत के 4000 से ऊपर समुदायों का अध्ययन हुआ है। इसके निष्कर्ष दूरगामी हैं। उदाहरण के लिये **के.एस. सिंह** बताते हैं कि भारत में अब क्षेत्रीय स्वायत्तता उभर कर आ रही है। प्रत्येक अंचल अपनी माँगों को लेकर दावे कर रहा है। अब ये अंचल अधिक सुदृढ़ हो रहे हैं। इस अनुसंधान की इन तीनों धाराओं को ध्यान में रखकर हम भारतीय समाज में आधुनिकीकरण के कारण आने वाले परिवर्तन का विस्तार से विश्लेषण करेंगे।

अर्वाचीन परिवर्तन (Contemporary Changes)

पिछले कुछ वर्षों में भारतीय समाज में बहुत बड़े परिवर्तन आये हैं और सन् 1991 के बाद वैश्वीकरण और उदारीकरण के कारण जो परिवर्तन आया है उसके बहुत बड़े परिणाम भारतीय समाज पर पड़े हैं। ढ़ाँचागत परिवर्तन

नोट

को सरकार की अर्थनीति बनाने के कारण बाज़ार तथा विदेशी निवेश इस देश की **ज़मीनी हकीकत** (Grassroot Reality) बन गये हैं। इस नई आर्थिक नीति के कारण महँगाई तेजी से बढ़ गयी है; निर्यात-वृद्धि की दर कम हुई है और आयात लगातार बढ़ रहा है। आज गरीबी रेखा के नीचे, आर्थिक सुधारों के आरम्भ होने के समय की अपेक्षा कई अधिक लोग रह रहे हैं। मतलब हुआ देश में गरीबी बढ़ी है। वैश्वीकरण और उदारीकरण की नीतियों नें सामाजिक विकास के उद्देश्यों जैसे गरीबी हटाने, रोजगार में वृद्धि करने तथा सामाजिक सेवाएँ बढ़ाने पर उल्टा प्रभाव पड़ा है। **एक प्रकार से देश में अभिजात्यकरण हो रहा है।** पूँजीवाद की जड़े मजबूत हो रही हैं।

आधुनिकीकरण द्वारा पैदा किये गये इस सामाजिक परिवर्तन में मास मीडिया की भूमिका बहुत शक्तिशाली है, जिसे हम आधुनिक समाज कहते हैं। इसका बहुत बड़ा लक्षण मास मीडिया और बाज़ार है। यह मीडिया के कारण ही है कि दूर-दराज का गाँव सीधा न्यूयार्क और पेरिस जुड़ गया है। सामान्यतया मीडिया को प्रिन्ट मीडिया और इलेक्ट्रोनिक मीडिया के अर्थ में लिया जाता है। जहाँ प्रिन्ट मीडिया में समाचार पत्र, पुस्तकें, पत्र-व्यवहार आदि सम्मिलित हैं वहाँ इलेक्ट्रोनिक मीडिया में टेलीविजन, कम्प्यूटर, सेल्यूलर फोन, रेडियो, फैक्स आदि सम्मिलित हैं

मीडिया के इन माध्यमों ने दूरियों को समेट लिया हैं। आधुनिकीकरण के जिन परिवर्तनों की हम चर्चा करते हैं, उनमें शिक्षा और संचार भी महत्त्वपूर्ण साधन है।

नोट्स हमारे देश में **इन्फोरमेशन टेक्नोलोजी** ने जो क्रान्ति उपस्थित की है, वह अन्याय है। इधर वाणिज्य में प्रबन्ध पाठ्यक्रम तथा विज्ञान में तकनीकी के पाठ्यक्रम इतने विकसित हुए हैं कि संसार भर में भारतीय विशेषज्ञों की धाक बैठ गयी है।

योगेन्द्र सिंह कहते हैं कि आर्थिक तथा तकनीकी क्षेत्रों में होने वाले परिवर्तनों के अतिरिक्त आधुनिकीकरण ने सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन प्रस्तुत किये हैं। सम्पूर्ण देश में लोगों की **जीवनपद्धति** (Life Style) और **अवकाश** (Leisure) की गतिविधियाँ बदल गयी हैं। अब उपयोग की पद्धतियाँ कुछ दूसरी ही हो गयी हैं। किसी भी शहर के नुक्कड़ पर फास्ट फूड की दुकानें मिल जाती हैं; पोशाक का तौर-तरीका बदल गया है; सिन्थेटिक वस्तुएँ अधिक काम में आने लगी हैं; आवागमन के साधन एक से बढ़कर एक नये हैं अब माँस खाना, मुर्गा खाना और शराब पीना उपभोग के शौकिया साधन हो गये हैं। मज़ेदार बात है कि सामान्य लोग भी फल-फूल खाने लगे हैं, सब्जियाँ खाने का रिवाज बढ़ गया है और लोग दूध तथा दूध की वस्तुओं को अधिक काम में लेने लगे हैं। हरित क्रान्ति जो 1970 के दशक में हुई थी अब उसकी पूरक **श्वेत क्रान्ति** (White Revolution) आ गयी है। ये सब परिवर्तन भारतीय समाज में बहुत बड़े परिवर्तन हैं। इस हिन्दू प्रवासी समाज में, **के.एस. सिंह** बताते हैं, 90 प्रतिशत लोग माँसाहारी हैं और केवल 10 प्रतिशत शाकाहारी। **नेशनल सेम्पल सर्वे** भी ऐसे ही परिवर्तन को प्रमाणित करता है।

सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में परिवर्तन की दिशा एकदम क्रान्तिकारी है। अब जातियों, जनजातियों, अल्पसंख्यकों या आँचलिक समूहों में क्षेत्रीयता की भावना अधिक आने लगी है। इस बात के भी प्रमाण हैं कि प्रजातान्त्रिक और धर्म निरपेक्ष शक्तियाँ ताकतवर होने लगी हैं। हमने पंचायती राज में पिछड़े वर्गों को आरक्षण देकर प्रोत्साहित किया है। स्त्रियों का सबलीकरण किया है। इस क्षेत्र से लोग दूसरे क्षेत्र में यानी राजस्थान के मारवाड़ी दक्षिण भारत में और केरल के ईसाई सारे उत्तर-भारत में बिना हिचकिचाहट के आ-जा रहे हैं। यह एक एकीकरण की नयी शक्ति है। **पीपल ऑफ इण्डिया** (POI) प्रोजेक्ट बताता है कि देश में कुल 91 सांस्कृतिक क्षेत्र हैं और लगभग प्रत्येक राज्य में एकाधिक क्षेत्र हैं। केवल गोवा ही ऐसा है जिसमें कोई उपक्षेत्र नहीं है।

भारतीय समाज में आधुनिकीकरण के परिणामस्वरूप जो विभिन्नता और एकता आयी है वह स्पष्ट रूप से बताती है कि इस समाज में परम्पराओं का केन्द्रीय स्थान है। ये परम्पराएँ ही हैं जो इतने परिवर्तनों के बाद भारतीय समाज की पहचान को बनाये हुए हैं। अब हम इस समाज की एथनिसिटी और सांस्कृतिक पहचान को आधुनिकीकरण द्वारा लाये गये परिवर्तन के संदर्भ में देखेंगे।

नोट

3.9 एथनिसिटी, सांस्कृतिक पहचान और परिवर्तन (Ethnicity, Cultural Identity and Change)

राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप इस देश में व्यापार के क्षेत्र में बहुत बड़े परिवर्तन आये हैं। हुआ यह है कि बहुत बड़े परिवर्तन के होते हुए भी समाज के विभिन्न अंगों में संयोजन बना हुआ है। जाति, जनजाति, धार्मिक समूहों, सांस्कृतिक अंचल आदि पृथक् होते हुए भी आपस में जुड़े हुए हैं। यहाँ तक सब ठीक है। देश में एकीकरण आया है। लेकिन राजनीतिक कारकों ने एक नई माँग भी उत्पन्न कर दी है। अब लोग अपनी **सांस्कृतिक पहचान** (Cultural Autonomy) की बात करने लगे हैं। उदाहरण के लिये अब देश के आदिवासी यह कहने लगे हैं कि हमें पुन: अपने धर्म की ओर लौटना चाहिये। एक तरफ उन्हें हिन्दू बनाया जा रहा है, और दूसरी ओर ईसाई। घबराये हुए वे कहते हैं: अपने धर्म की ओर लौटो। **के.एस. सिंह** कहते हैं कि अब दलित लोग अपनी इस माँग को बुलन्द कर रहे हैं कि हम अपनी सांस्कृतिक पहचान को बनाये रखेंगे। दलितों का इस तरह की माँग करना बताता है कि वे ब्राह्मणवाद से अपने आपको पृथक् करना चाहते हैं। उच्च हिन्दू जातियों से भी उनका मोह भंग हो गया है। **के.एस. सिंह** की इस बात का समर्थन **गेल ओम्वेट** (Gail Omvredt) और **एम.एस. गोरे** भी कहते हैं। इस प्रक्रिया को मीडिया, सामाजिक गतिशीलता और राजनीतिक भागीदारी ने और अधिक गति दी है। धर्म का जो राजनीतिकरण हुआ है इसने भी समस्याओं को बढ़ा दिया है।

3.10 आधुनिकीकरण और परिवर्तन की समस्याएँ (Modernisation and Problems of Change)

आधुनिकीकरण ने भारतीय समाज में कई समस्याएँ पैदा कर दी हैं। हमारे यहाँ औद्योगीकरण से पहले व्यवस्था में जो साम्यानुकूलन था उसे आधुनिकीकरण ने बिगाड़ दिया है। उत्पादन की विधियाँ बदल गयी हैं और इसके परिणामस्वरूप सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं में बदलाव आ गया है। **देखा जाये तो पिछले 50-70 वर्षों में इस देश में क्रान्तियाँ आयी हैं। पहली क्रान्ति तो औद्योगिक क्रान्ति है और दूसरी प्रजातान्त्रिक। इन दोनों क्रान्तियों ने परम्परागत साम्यानुकूलन** (Traditional Equilibrium) **को उलट-पुलट दिया है।** औद्योगिक क्रान्ति राष्ट्र निर्माण की बात करती है। इसका परिणाम यह होता है कि हम एक विश्व समुदाय या वैश्वीय सभ्यता के साथ जुड़ जाते हैं। जब ऐसा होने लगता है **तब सबसे बड़ा खतरा स्थानीय और आँचलिक संस्कृतियों की पहचान का पैदा हो जाता है। जब हम राष्ट्र निर्माण के काम में जुट जाते हैं तो इससे आर्थिक और औद्योगिक विकास होता है। यह विकास गैर-बराबरी को बढ़ावा देता है।** उदाहरण के लिये हरित और श्वेत क्रान्ति ने गाँवों में गैर-बराबरी को बढ़ा दिया है। इसी तरह औद्योगिक विकास ने पर्यावरण को नष्ट कर दिया है। गंदी बस्तियाँ आ गयीं हैं।

रुचिकर बात यह है कि इन प्रक्रियओं के परिणामस्वरूप देश के विभिन्न अँचलों में सांस्कृतिक पहचान का मुद्दा उभरकर सामने आ गया। अब आदिवासी जातियाँ और धार्मिक समूह अपनी पहचान पर ज़ोर देने लगे हैं। आये दिन नये देवी-देवताओं का आविर्भाव हो रहा है। नित नई शोभा यात्राएँ निकल रही हैं। कहीं भी ऐसा नहीं लग रहा है कि उद्योग और उत्तर-उद्योग के विकास के स्तर पर पहुँच कर हम मानवीय समस्याओं के साथ रू-ब-रू हो रहे हों। परिणाम यह हो रहा है कि **हमारी संयुक्त परिवार की परम्परा टूट रही है। गाँवों की एकता समाप्त हो रही है और शहरों का पर्यावरण जानलेवा हो गया है।** आधुनिकीकरण की इस प्रक्रिया में हमारे परम्परागत मूल्य खतरे में आ गये हैं। यदि यही चलता रहा तब हम विध्वंस के कगार पर खड़े हो जायेंगे। योगेन्द्र सिंह कहते हैं:

आधुनिकीकरण का हमारे मूल्यों, सांस्कृतिक व्यवहारों, पारिस्थितिकी और मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य और जीवन की गुणवत्ता पर ऐसा प्रभाव पड़ा है कि इसका परिणाम हमारे लिये विध्वंसकारी होगा।

हमारा सांस्कृतिक संघर्ष बहुत गहरा है। आधुनिकीकरण ने हमारी परम्पराओं और नये मूल्यों में एक अद्भुत भेंट करवा दी है। इसके कारण हमारे परम्परागत मूल्यों का क्षय हुआ है, जन संस्कृति की संरचना कमजोर हो गयी है

नोट

और इससे हमारी मुख्यधारा की सांस्कृतिक परम्परा ढीली पड़ गयी है और इस सबका सम्बन्ध एक नये बाजार की संस्कृति के साथ जुड़ गया है। हमारा विचार है कि यदि आधुनिकीकरण के इस दौर में हमारी परम्परागत परिवार व्यवस्था टूट गयी और गाँव तथा मोहल्ले के सम्बन्ध कमज़ोर हो गये तब अन्य विकसित समाजों की तरह हमारे समाज की सामाजिक तथा सांस्कृतिक व्यवस्था में संकट आ जायेगा।

3.11 सारांश (Summary)

- समाज को एक संरचना और प्रक्रिया दोनों रूपों में देखा जाता है।
- संरचना और प्रक्रिया दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।
- परम्परा और संरचना समाज को बनाते हैं। आज जो आधुनिकीकरण की वृहद् प्रक्रिया चल रही है वह इन परम्पराओं तथा सामाजिक संरचना दोनों को प्रभावित करती है।
- सामाजिक परिवर्तन के आंतरिक और बाह्य दोनों स्रोतों के आधार पर देश में तीन प्रक्रियाएँ देखने को मिलती हैं। ये हैं–सांस्कृतिक लघु एवं महान् परम्पराएं तथा आधुनिकीकरण।

3.12 शब्दकोश (Keywords)

1. **सार्वभौमिक (Universalisation)**–जब लघु परम्परा के तत्व (देवी-देवताओं प्रथाएँ, अनुष्ठान, आदि) ऊपर की ओर बढ़ते हैं, उनके फैलाव का क्षेत्र बढ़ता है तब वे महत् परम्परा के स्तर तक पहुँच जाते हैं और उनका मूल स्वरूप परिवर्तित हो जाता है, तब इस प्रक्रिया को सार्वभौमिकरण कहते हैं।
2. **आधुनिकीकरण (Modernisation)**–आधुनिकीकरण के अर्थ को मैक्सवेबर में खोजें तब करना पड़ेगा कि यह युक्तायुक्त या औचित्यवाद है।

3.13 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. सामाजिक परिवर्तन के आंतरिक और बाह्य स्रोत क्या-क्या हैं?
2. संस्कृतिकरण का क्या अभिप्राय है?
3. आधुनिकीकरण अथवा पश्चिमीकरण का क्या अर्थ है?
4. भारत में सामाजिक संरचना में परिवर्तन की प्रक्रियाओं को बताएँ।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. कालाविधि
2. समाज
3. अनिवार्यता।

3.14 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. परिवर्तन और विकास का समाजशास्त्र – *प्रफुल्ल चन्द्र तायल, हिन्दी बुक सेन्टर।*
2. विकास का समाजशास्त्र – *सिंह शिव बहल, रावत पब्लिकेशन।*

नोट

इकाई–4: सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त : रेखीय, चक्रीय और वक्ररेखीय (Theories of Social Change : Linear, Cyclical and Curvilinear)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

4.1 विषय-वस्तु (Subject Matter)

4.2 सामाजिक परिवर्तन के चक्रीय सिद्धांत (Cyclical Theories of Social Changes)

4.3 सारांश (Summary)

4.4 शब्दकोश (Keywords)

4.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

4.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- सामाजिक परिवर्तन के रेखीय सिद्धांत की जानकारी।
- सामाजिक परिवर्तन के चक्रीय सिद्धांत की व्यवस्था।

प्रस्तावना (Introduction)

समाज में सामाजिक परिवर्तन किन कारणों से तथा किन नियमों के अन्तर्गत होता है, उसकी गति एवं दिशा क्या होती है, इन प्रश्नों को लेकर प्राचीन समय से ही विद्वान् अपने-अपने मत व्यक्त करते रहे हैं। प्रारम्भ में दार्शनिकों ने सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत प्रस्तुत किये, बाद में समाजशास्त्रियों ने भी अपना योग दिया। समाजिक परिवर्तन की व्याख्या कुछ विद्वानों ने सिद्धान्तों के प्रतिपादन द्वारा की है। उनका विश्वास है कि समाज में परिवर्तन इन्हीं नियमों एवं सिद्धान्तों के अनुसार होते हैं।

19वीं सदी में काम्ट, हीगल एवं कार्ल मानहीम जैसे विचारकों ने सामाजिक परिवर्तन में विचारों की भूमिका को बहुत महत्व दिया। सामाजिक परिवर्तन के सन्दर्भ में उन विद्वानों ने भी सिद्धान्त प्रस्तुत किये जो समाज के उद्विकास एवं प्रगति को समझने में रुचि रखते थे। क्राम्ट, स्पेन्सर, हॉबहाउस, आदि विद्वानों ने कहा कि सामाजिक परिवर्तन एक सीधी रेखा में कुछ निश्चित स्तरों से होकर गुजरता है और प्रत्येक समाज को इन स्तरों से गुजरना होता है। ये स्तर कौन-से होंगे, इस बारे में उनमें मत-भिन्नता है। यह मत बाद में आने वाले सामाजिक-वैज्ञानिकों जैसे मॉर्गन, टायलर,

नोट

हेनरीमैन, वेस्टरमार्क, हेड्डन एवं लेविब्रुहल, आदि ने भी स्वीकार किया और इस आधार पर परिवार, विवाह, धर्म, कला, तर्क एवं संस्कृति में परिवर्तन की उद्विकासीय प्रवृत्ति का उल्लेख किया। उस समय यह धारणा बनी कि परिवर्तन सदैव सरलता से जटिलता, समानता से असमानता तथा बुराई से अच्छाई की ओर होता है।

4.1 विषय-वस्तु (Subject Matter)

सामाजिक परिवर्तन के रेखीय सिद्धान्तकार उद्विकासवादियों से प्रभावित थे। वे इस मत को नहीं मानते कि परिवर्तन चक्रीय गति से होता है वरन् उनका मत है कि परिवर्तन सदैव एक सीधी रेखा में नीचे से ऊपर की ओर विभिन्न चरणों में होता है। उद्विकासीय एवं रेखीय सिद्धान्तकारों में काम्ट, **स्पेन्सर, हॉबहाउस** आदि प्रमुख हैं। कॉम्टे समाज के उद्विकासीय रूप को तीन स्तरों (धार्मिक से वैज्ञानिक तक), स्पेन्सर चार स्तरों (शिकारी से औद्योगिक तक) तथा मार्क्स पाँच स्तरों (आदिम साम्यवादी से आधुनिक साम्यवादी तक) के रूप में मानते हैं। **मार्क्स** एवं **वेबलिन** सामाजिक परिवर्तन के रेखीय क्रम को तो प्रस्तुत करते ही हैं, किन्तु ये दोनों ही आर्थिक एवं प्रौद्योगिक कारकों को अधिक महत्त्व देते हैं, अत: इनके सिद्धान्तों को निर्धारणवादी सिद्धान्त (Deterministic Theories) भी कहते हैं। हम यहाँ रेखीय एवं उद्विकासीय सिद्धान्तों का उल्लेख करेंगे :

1. काम्ट का सिद्धान्त (Theory of Comte)

कॉम्टे ने सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध मानव के बौद्धिक विकास से जोड़ा है। उन्होंने बौद्धिक विकास एवं सामाजिक परिवर्तन के तीन स्तर माने हैं :

(*i*) धार्मिक स्तर (Theological Stage); (*ii*) तात्विक स्तर (Metaphysical Stage); (*iii*) वैज्ञानिक स्तर (Positive stage)।

धार्मिक स्तर समाज की प्राथमिक अवस्था थी जिसमें मानव प्रत्येक घटना को ईश्वर एवं धर्म के सन्दर्भ में समझने का प्रयत्न करता था। विश्व की सभी क्रियाओं का आधार धर्म और ईश्वर को ही माना गया। उस समय अलग-अलग स्थानों पर धर्म के विभिन्न रूप; जैसे बहुदेववाद, एकदेववाद अथवा प्रकृति-पूजा प्रचलित थे। सामाजिक विकास का **द्वितीय स्तर तात्विक स्तर** है जिसमें मानव घटनाओं की व्याख्या उनके गुणों के आधार पर करता था। इस अवस्था में मानव का अलौकिक शक्ति में विश्वास कम हुआ और प्राणियों में विद्यमान अमूर्त शक्ति को ही समस्त घटनाओं के लिए उत्तरदायी माना गया। सामाजिक विकास का तीसरा स्तर वैज्ञानिक स्तर है जो कि वर्तमान में विद्यमान है। **वैज्ञानिक स्तर** में मानव सांसारिक घटनाओं की व्याख्या धर्म, ईश्वर एवं अलौकिक शक्ति के आधार पर नहीं करता वरन् वैज्ञानिक नियमों एवं तर्क के आधार पर करता है। वह कार्य और कारण के सह-सम्बन्धों को ज्ञात कर नियमों एवं सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है, मानव घटनाओं का अवलोकन कर उनकी तार्किक एवं वैज्ञानिक व्याख्या करके सत्य तक पहुँचने का प्रयास करता है। इस प्रकार चिन्तन के विकास के साथ-साथ सामाजिक संरचना, संगठन एवं व्यवस्थाओं का भी विकास एवं परिवर्तन हुआ है।

समालोचना—नि:सन्देह समाज में होने वाले परिवर्तनों में एक योजनाबद्ध एवं क्रमबद्ध व्याख्या काम्ट का सराहनीय प्रयास है, किन्तु उनके इस सिद्धान्त को पूरी तरह सही नहीं माना जा सकता। उन्होंने मानव चिन्तन और सामाजिक विकास के तीन स्तरों का उल्लेख किया है उन स्तरों से विश्व के सभी समाज गुजरे हों, यह आवश्यक नहीं है। ये स्तर किसी समाज में पहले व किसी में बाद में अथवा दो स्तर साथ-साथ भी चल सकते हैं।

2. स्पेन्सर का सिद्धान्त (Spencer's Theory)

स्पेन्सर ने भी सामाजिक परिवर्तन का उद्विकासीय सिद्धान्त प्रस्तुत किया। आपने सामाजिक परिवर्तन को प्राकृतिक प्रवरण (Natural selection) के आधार पर प्रकट किया है। स्पेन्सर डार्विन के उद्विकास से प्रभावित थे। डार्विन ने जीवों के उद्विकास का सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसे स्पेन्सर ने समाज पर भी लागू किया। डार्विन का मत था कि जीवों में अस्तित्व के लिए संघर्ष (Struggle for existence) पाया जाता है। इस संघर्ष में वे ही प्राणी बचे

नोट

रहते हैं जो शक्तिशाली होते हैं और प्रकृति से अनुकूलन कर लेते हैं, कमज़ोर इस संघर्ष में समाप्त हो जाते हैं (Survival of the fittest and elimination of the unfit)। चूँकि प्रकृति भी ऐसे जीवों का वरण करती है जो योग्य एवं सक्षम होते हैं, अत: इस सिद्धान्त को **'प्राकृतिक प्रवरण का सिद्धान्त'** कहते हैं। चूँकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, अत: उसके प्रवरण अथवा जन्म और मृत्यु-दर पर सामाजिक कारकों; जैसे- प्रथाओं, मूल्यों एवं आदर्शों का भी प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। इस प्रवरण में श्रेष्ठ मनुष्य ही बचे रहते हैं जो समाज का निर्माण करते हैं और उसमें परिवर्तन लाते हैं। प्रत्येक नयी पीढ़ी पुरानी पीढ़ी से ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में अधिक उन्नति होती है और समाज को आगे की ओर बढ़ाती है, इस प्रकार समाज क्रमश: आगे बढ़ता और परिवर्तित होता जाता है। इस प्रकार स्पेन्सर सामाजिक परिवर्तन के लिए अप्राकृतिक एवं सामाजिक प्रवरण को आधार मानते हैं।

स्पेन्सर के अतिरिक्त जैविकीय कारकों को सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी मानने वालों में गोबिन्यू व लापोज आदि भी प्रमुख हैं। इन विद्वानों की मान्यता है कि समाज का निर्माण और प्रगति उन लोगों द्वारा सम्भव है जो प्रजातीय दृष्टि से श्रेष्ठ होते हैं। जब किसी समाज में प्रजातीय दृष्टि से हीन व्यक्ति होते हैं तो वह समाज पतन की ओर जाता है और जब उसमें शारीरिक व मानसिक दृष्टि से श्रेष्ठ व्यक्ति होते हैं तो वह समाज प्रगति करता है।

स्पेन्सर व जीववादियों के सिद्धान्तों की अनेक विद्वानों ने यह कहकर आलोचना की कि मानव समाज पर प्राकृतिक प्रवरण को लागू नहीं किया जा सकता। इन्होंने परिवर्तन के अन्य सिद्धान्तों की अवहेलना की है।

3. कार्ल मार्क्स का सिद्धान्त (Theory of Karl Marx)

कार्ल मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन को प्रौद्योगिक एवं आर्थिक कारकों से जनित माना है। अत: उनके सिद्धान्त को आर्थिक निर्धारणवाद (Economic Determinism) अथवा सामाजिक परिवर्तन का प्रौद्योगिक सिद्धान्त (Technological Theory of Social Change) कहा जाता है। मार्क्स का सिद्धान्त वर्तमान समय में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं क्रांतिकारी सिद्धांत माना जाता है। उन्होंने इतिहास की भौतिक व्याख्या की और कहा कि मानव इतिहास में अब तक जो परिवर्तन हुए हैं, वे उत्पादन प्रणाली (Mode of production) में परिवर्तन के कारण ही हुए हैं। उनका मत है कि जनसंख्या, भौगोलिक परिस्थितियों एवं अन्य कारणों का मानव के जीवन पर प्रभाव तो पड़ता है, किन्तु वे परिवर्तन के निर्णायक कारक नहीं हैं। निर्णायक कारक तो आर्थिक कारक अर्थात् उत्पादन प्रणाली ही है।

मार्क्स ने अपने सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि मनुष्य को जीवित रहने के लिए कुछ भौतिक मूल्यों (जैसे—रोटी, कपड़ा, निवास आदि) की आवश्यकता होती है। इन मूल्यों या आवश्यकताओं को जुटाने के लिए मानव को उत्पादन करना होता है। उत्पादन करने के लिए उत्पादन के साधनों (Means of production) की आवश्यकता होती है। जिन साधनों के द्वारा व्यक्ति उत्पादन करता है, उन्हें प्रौद्योगिकी कहते हैं। प्रौद्योगिकी में छोटे-छोटे औजार तथा बड़ी-बड़ी मशीनें सम्मिलित हैं।

प्रौद्योगिकी में जब परिवर्तन आता है तो उत्पादन प्रणाली में भी परिवर्तन आता है। मार्क्स का मत है कि मानव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किसी-न-किसी उत्पादन प्रणाली (Mode of production) को अपनाता है। उत्पादन प्रणाली दो पक्षों से मिलकर बनी होती है, **एक**, उत्पादन के उपकरण या प्रौद्योगिकी, श्रमिक, उत्पादन का अनुभव एवं श्रम-कौशल और **दूसरा**, उत्पादन के सम्बन्ध। किसी भी वस्तु के उत्पादन के लिए हमें औजार, श्रम, अनुभव एवं कुशलता की आवश्यकता होती है। साथ ही जो लोग उत्पादन के कार्य में लगे होते हैं, उनके बीच कुछ आर्थिक सम्बन्ध भी पैदा हो जाते हैं; जैसे—किसान कृषि क्षेत्र में उत्पादन करने के दौरान मज़दूरों, सुनार, लुहार एवं उसके द्वारा उत्पादित वस्तु के खरीदारों से सम्बन्ध बनाता है। जब उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन होता है तो समाज में भी परिवर्तन आता है। उत्पादन प्रणाली की यह विशेषता है कि यह किसी भी अवस्था में स्थिर नहीं रहती, सदैव बदलती रहती है। उत्पादन प्रणाली समाज का मूल है और उसी पर समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक-राजनीतिक संरचनाएँ, विश्वास, कला, साहित्य, प्रथाएँ, विज्ञान एवं दर्शन टिके हुए हैं। जिस प्रकार की उत्पादन प्रणाली होती है समाज की **'अधिसंरचना'** (Super-structure) अर्थात् ऊपरी संरचना जिसमें धर्म, प्रथाएँ, राजनीति, साहित्य, कला, विज्ञान एवं संस्कृति आदि आते हैं, भी उसी प्रकार की बन जाती है। जब उत्पादन प्रणाली बदलती है तो समाज

नोट

चित्र 4.1 उत्पादन प्रणाली

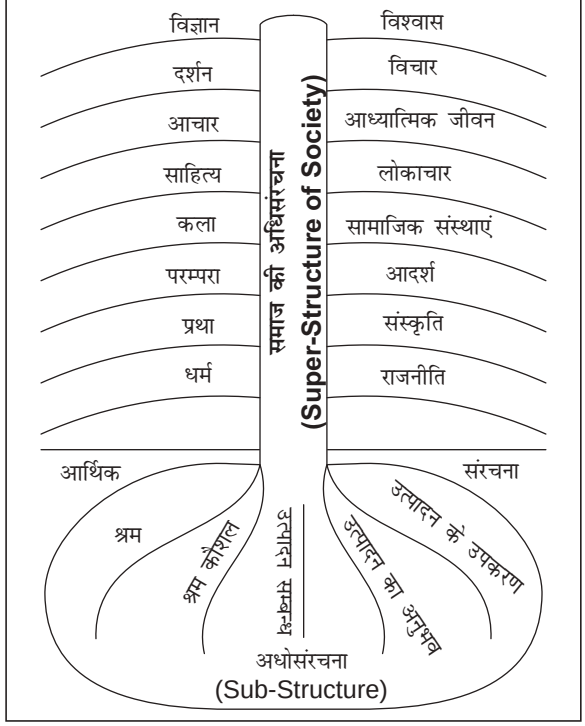

की ऊपरी संरचना में भी परिवर्तन आता है और समाज की संस्थाएँ बदलती हैं तथा सामाजिक परिवर्तन घटित होता है। मार्क्स का कहना है कि जब हाथ की चक्की से उत्पादन किया जाता था तो एक विशेष प्रकार का समाज था और आज जब बिजली की चक्की है तो दूसरे प्रकार का समाज है जो पहले प्रकार के समाज से भिन्न है। इसी प्रकार कृषि का कार्य जब हल एवं बैलों की सहायता से तथा उत्पादन का कार्य कुटीर उद्योगों में छोटे-छोटे औजारों से किया जाता था तो एक विशेष प्रकार का समाज, संस्कृति, धर्म एवं राजनीति थी और आज जबकि कृषि में ट्रैक्टर एवं वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग तथा बड़ी-बड़ी मशीनों एवं कारखानों द्वारा औद्योगिक उत्पादन हो रहा है तो एक भिन्न प्रकार का समाज पाया जाता है। इन दोनों अवस्थाओं की राजनीति, धर्म, संस्कृति, कला, साहित्य, दर्शन, प्रथा, नैतिकता एवं लोकाचारों में बहुत अन्तर है। अत: स्पष्ट है कि उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन होने पर ही समाज में परिवर्तन आता है। उत्पादन में लगे लोगों के पारस्परिक सम्बन्धों में भी परिवर्तन आता है। आज के युग में पूँजीपति व श्रमिकों में जो सम्बन्ध पाये जाते हैं वे कृषि युग के भूस्वामियों एवं मजदूरों के सम्बन्धों से इसीलिए भिन्न हैं।

मार्क्स का मत है कि उत्पादन के सम्बन्धों के सम्पूर्ण योग से ही समाज की आर्थिक संरचना (Economic structure) का निर्माण होता है। उदाहरण के लिए, कृषि युग में जमींदारों, कृषकों एवं कृषि-श्रमिकों के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों से एक विशेष प्रकार की आर्थिक संरचना का निर्माण हुआ जिसे हम कृषि अर्थव्यवस्था कहते हैं। वर्तमान समय में पूँजीपतियों, कारखाने के स्वामियों एवं श्रमिकों के सम्बन्धों से मिलकर बनने वाली आर्थिक संरचना कृषि युग की आर्थिक संरचना से भिन्न है, इसे हम औद्योगिक आर्थिक संरचना या औद्योगिक अर्थव्यवस्था कहते हैं। संक्षेप में, मार्क्स के अनुसार उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं जब उत्पादन के उपकरणों (प्रौद्योगिकी), उत्पादन के कौशल, ज्ञान, उत्पादन के सम्बन्ध आदि जो कि आर्थिक संरचना का निर्माण करते हैं, में परिवर्तन आता है तो सम्पूर्ण सामाजिक-सांस्कृतिक अधि-संरचना (Super-structure) में भी परिवर्तन आता है जिसे हम सामाजिक परिवर्तन कहते हैं।

मार्क्स का मत है कि इतिहास के प्रत्येक युग में दो वर्ग रहे हैं। मानव समाज का इतिहास इन दो वर्गों के संघर्ष का ही इतिहास है। आपने समाज के विकास को पाँच युगों में बाँटा और प्रत्येक युग में पाये जाने वाले दो वर्गों का उल्लेख किया। एक वह वर्ग जिसका उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व रहा है और दूसरा वह जो श्रम के द्वारा

नोट

जीवनयापन करता है। इन दोनों वर्गों में अपने-अपने हितों को लेकर संघर्ष होता है। प्रत्येक वर्ग-संघर्ष का अन्त नये समाज एवं नये वर्गों के उदय के रूप में हुआ है। वर्तमान में भी पूँजीपति और श्रमिक दो वर्ग हैं जो अपने-अपने हितों को लेकर संघर्षरत हैं। मार्क्स कहते हैं कि वर्गों की रचना एवं प्रकृति ही समाज व्यवस्था का निर्धारण करती है। एक युग के वर्ग-संघर्ष के परिणामस्वरूप नये वर्गों का जन्म होता है जो नयी समाज व्यवस्था को जन्म देता है। इस प्रकार वर्ग-संघर्ष एवं उसके परिणामस्वरूप नये वर्गों के जन्म के कारण ही समाज में परिवर्तन होते हैं। इस तरह मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन में वर्ग-संघर्ष की भूमिका को भी महत्त्वपूर्ण माना है।

समालोचना

1. मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन के लिए केवल एक ही कारक—आर्थिक कारक (उत्पादन प्रणाली) को उत्तरदायी मानकर परिवर्तन के अन्य कारकों की अवहेलना की है। सामाजिक, धार्मिक, भौगोलिक एवं जनसंख्यात्मक कारकों का भी सामाजिक परिवर्तन में महत्त्वपूर्ण हाथ होता है और स्वयं आर्थिक कारक भी अन्य कारकों से प्रभावित होते हैं।
2. मार्क्स कहते हैं कि सामाजिक परिवर्तन प्रौद्योगिकी, आर्थिक सम्बन्ध एवं आर्थिक संरचना में परिवर्तन के कारण आते हैं, किन्तु वे यह स्पष्ट करने में असमर्थ रहे हैं कि प्रौद्योगिकी आदि में परिवर्तन क्यों होता है या उसे परिवर्तित करने वाले कौन से कारक हैं?
3. मार्क्स द्वारा प्रयुक्त शब्दों; जैसे आर्थिक कारक, उत्पादन की शक्तियाँ तथा सम्बन्ध, आर्थिक सुधार, प्रौद्योगिकी आदि की स्पष्टत: व्याख्या नहीं की गयी है। कुछ विद्वान इसमें केवल आर्थिक प्रविधियों को ही सम्मिलित करते हैं जबकि एन्जिल एवं सेलिगमैन आदि ने उत्पादन से सम्बन्धित सभी दशाओं को आर्थिक कारकों के अन्तर्गत सम्मिलित किया है।
4. मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष पर अधिक जोर दिया है, किन्तु समाज की नींव संघर्ष पर नहीं वरन् सहयोग पर आधारित है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त को वैज्ञानिक आधार प्रदान करने का पूरा प्रयास किया है फिर भी आपने आर्थिक कारकों पर आवश्यकता से अधिक बल दिया। मानव केवल अपनी आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने वाला पुतला मात्र ही नहीं है। **मैक्स वेबर** ने मार्क्स के सिद्धान्त की आलोचना की है। वे आर्थिक कारकों के स्थान पर धर्म को सामाजिक परिवर्तन का आधार मानते हैं।

4. थॉर्सटीन वेबलिन का सिद्धान्त (Theory of Thorstein Veblen)

वेबलिन सामाजिक परिवर्तन के लिए प्रौद्योगिक दशाओं को उत्तरदायी मानते हैं। उनका मत है कि प्रौद्योगिक दशाएँ प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं। इसलिए उनके सिद्धान्त को 'प्रौद्योगिक निर्णयवाद' कहा जाता है। वेबलिन ने मानवीय विशेषताओं को दो भागों में विभाजित किया है: (*i*) **स्थिर विशेषताएँ**—जिनका सम्बन्ध मानव की मूलप्रवृत्तियों और प्रेरणाओं से है जिनमें बहुत कम परिवर्तन होता है। (*ii*) **परिवर्तनशील विशेषताएँ**, जैसे-आदतें, विचार, मनोवृत्तियाँ आदि। सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध मानव की इन दूसरी विशेषताओं से है, विशेष रूप से मानव की विचार करने की आदतों से। वेबलिन का सिद्धान्त इस प्रकार है :

टास्क सामाजिक उद्विकास एवं सामाजिक विकास में अंतर बताइए।

मनुष्य अपनी आदतों द्वारा नियन्त्रित होता है और वह उनका दास है। वे आदतें किस प्रकार की होंगी, यह मानव के भौतिक पर्यावरण पर निर्भर है, भौतिक पर्यावरण में भी विशेषकर प्रौद्योगिकी पर। जब भौतिक पर्यावरण अर्थात् प्रौद्योगिकी में परिवर्तन आता है तो मानव की आदतें भी बदलती हैं। मानव की आदतों का निर्माण कैसे होता है? इसका उत्तर देते हुए वेबलिन कहते हैं कि मानव जिस प्रकार के कार्य तथा प्रविधि द्वारा अपना जीवनयापन करता

नोट

है, उसी प्रकार की उसकी आदतें एवं मनोवृत्तियाँ होती हैं। जीवनयापन के लिए मनुष्य जिस प्रकार की प्रविधि को अपनाता है, अपनी आदतों को भी वह उसके अनुकूल ढालता है। ये आदतें व्यक्ति को एक निश्चित प्रकार का जीवन व्यतीत करने को बाध्य करती हैं और उसके द्वारा किया जाने वाला कार्य उसके विचारों को प्रभावित करता है। मानव जिस प्रकार का कार्य करता है, वैसा ही सोचता भी है। उदाहरण के लिए, सैनिक, कृषक, डॉक्टर, इंजीनियर आदि जिस प्रकार का कार्य करते हैं उनके विचार एवं आदतें भी वैसी ही हो जाती हैं। मनुष्य जीवनयापन के लिए कौन-सा कार्य करेगा, यह उसके भौतिक पर्यावरण पर निर्भर है। भौतिक पर्यावरण मानव के कार्य को एवं कार्य मानव के विचारों एवं आदतों को निश्चित करता है। उदाहरण के लिए, कृषि युग में मानव जीवनयापन के लिए एक विशेष प्रौद्योगिकी को काम में लाता था, उसी के अनुसार उसका भौतिक पर्यावरण भी बना हुआ था। कृषि कार्य के आधार पर ही मानव की आदत एवं मनोवृत्तियाँ बनी हुई थीं, किन्तु जब मशीनों का आविष्कार हुआ तो मानव का भौतिक पर्यावरण बदला, प्रौद्योगिकी बदली, काम की प्रकृति बदली और उसके साथ-साथ मानव की आदतों एवं मनोवृत्तियों में भी परिवर्तन आया।

आदतें ही धीरे-धीरे स्थापित एवं सुदृढ़ होकर संस्थाओं का रूप ग्रहण करती हैं। संस्थाएँ ही सामाजिक ढाँचे का निर्माण करती हैं। अत: जब आदतों में परिवर्तन होता है तो सामाजिक संस्थाओं एवं ढाँचे में भी परिवर्तन आता है जिसे हम सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। संक्षेप में, **वेबलिन** के विचारों को हम इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं–मानव अपनी आदतों द्वारा नियन्त्रित होता है, आदतों का निर्माण भौतिक पर्यावरण एवं प्रौद्योगिक के अनुसार होता है, आदतें ही सामाजिक संस्थाओं का निर्माण करती हैं एवं सामाजिक संस्थाएँ सामाजिक ढाँचे का। अत: जब प्रौद्योगिक एवं भौतिक पर्यावरण में परिवर्तन होता है तो मानव की आदतों, संस्थाओं एवं सामाजिक ढाँचे में भी परिवर्तन आता है। सामाजिक संरचना में परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन है। इस प्रकार वेबलिन सामाजिक परिवर्तन को नवीन प्रविधियों एवं प्रौद्योगिकीय कारकों से जनित मानते हैं। इसलिए ही उन्हें प्रौद्योगिक निश्चयवादी कहा जाता है। वेबलिन भौतिक पर्यावरण में परिवर्तन को एक स्वाभाविक घटना मानते हैं।

समालोचना–वेबलिन के सिद्धान्त में भी लगभग वही कमियाँ हैं जो मार्क्स के सिद्धान्त में हैं क्योंकि उन्होंने भी मार्क्स की तरह प्रौद्योगिकी को ही सामाजिक परिवर्तन का कारक माना है।

(1) वेबलिन ने मानव को अपनी आदतों द्वारा नियन्त्रित प्राणी माना है, लेकिन यह सही नहीं है। मानव आदत के बजाय अपने विवेक से अधिक नियन्त्रित होता है। (2) प्रौद्योगिक परिवर्तन से ही सामाजिक परिवर्तन आता है, यह कहना उचित नहीं है क्योंकि कभी-कभी भौतिक पर्यावरण बिल्कुल नहीं बदलता फिर भी नैतिक, धार्मिक एवं अन्य कारकों के कारण समाज में परिवर्तन आ जाता है। (3) वेबलिन का सिद्धान्त भी उसी प्रकार से एकपक्षीय है जिस प्रकार से अन्य कारकवादियों या निर्धारणवादियों के सिद्धान्त। सामाजिक परिवर्तन किसी एक कारक का प्रतिफल न होकर कई कारकों का परिणाम है। यह एक जटिल प्रक्रिया है जिसे वेबलिन ने अति सरल रूप में प्रस्तुत किया है।

उपर्युक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त सामाजिक परिवर्तन के कुछ अन्य सिद्धान्त भी हैं जिनका हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख करेंगे। **माल्वस ने सामाजिक परिवर्तन के लिए जनसंख्या वृद्धि का सिद्धांत प्रस्तुत किया।** उनका मत है कि मानव समाज में खाद्य-पदार्थों के उत्पादन की तुलना में जनसंख्या वृद्धि तीव्र गति से होती है। जनसंख्या वृद्धि ज्यामितिक प्रकार से अर्थात् 1, 2, 4, 8, 16, 32, 64, आदि के क्रम में होती है। इसकी तुलना में खाद्य-सामग्री की वृद्धि अंकगणितीय प्रकार से अर्थात् 1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, आदि के क्रम में होती है। फलस्वरूप एक समय ऐसा आता है जब जनसंख्या के लिए खाद्य-पदार्थों का अभाव हो जाता है यदि बढ़ती जनसंख्या पर रोक नहीं लगायी जाती है तो किसी भी देश की जनसंख्या 25 वर्षों में दुगनी हो जाती हैं जब जनसंख्या बढ़ती है या घटती है तो समाज में परिवर्तन घटित होते हैं।

सैडलर ने भी जनसंख्या सम्बन्धी सिद्धान्त का समर्थन किया और जनसंख्या वृद्धि का सम्बन्ध मानव की सुख-समृद्धि एवं पारस्परिक सम्बन्धों से जोड़ा है। वे यह मानते हैं कि मानव के विकास के साथ-साथ उसकी

नोट

सन्तानोत्पत्ति की क्षमता में कमी आयी है और सुख-समृद्धि में वृद्धि हुई है। ये सभी बातें सामाजिक परिवर्तन के लिए भी उत्तरदायी हैं। थॉमस ने सामाजिक परिवर्तन के लिए विभिन्न संस्कृतियों के मिश्रण एवं सात्मीकरण को उत्तरदायी माना है।

मैक्स वेबर ने अपनी पुस्तक 'दी प्रोटेस्टैण्ट एथिक एण्ड दी स्पिरिट ऑफ केपिटलिज़्म' में धर्म को ही सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी माना। उनका मत है जब यूरोप में रोमन केथोलिक धर्म था तो एक दूसरे प्रकार का समाज था, किन्तु जब प्रोटेस्टैण्ट धर्म आया तो आधुनिक पूंजीवादी समाज की नींव पड़ी। उन्होंने विश्व के छः महान् धर्मों (हिन्दू, ईसाई, इस्लाम, चीनी आदि) का अध्ययन करके बताया कि केवल प्रोटेस्टैण्ट धर्म में ही वे बातें मौजूद थीं जो आधुनिक पूंजीवाद को जन्म दे सकती थीं। उनका मत है कि प्रत्येक धर्म के आचरण के नियम पाये जाते हैं जो लोगों के विचारों एवं व्यवहारों को तय करते हैं। अतः जब धर्म बदलता है तो समाज में भी परिवर्तन आता है। धर्म को वे परिवर्तन लाने वाला 'चल' (Variable) मानते हैं। प्रोटेस्टैण्ट धर्म की आर्थिक आचार-संहिता में कुछ तत्व इस प्रकार बताये गये हैं : ईमानदारी सबसे अच्छी नीति है, एक पैसा बचाना एक पैसा कमाना है, समय ही धन है, पैसा पैसे को पैदा करता है, जल्दी सोना और जल्दी जागना मनुष्य को स्वस्थ, अमीर और बुद्धिमान बनाता है, कार्य ही पूजा है इत्यादि। इन सभी आचार नियमों ने प्रोटेस्टैण्ट मतावलम्बियों के जीवन एवं व्यवहार को प्रभावित किया और आधुनिक पूंजीवाद को जन्म दिया जिससे कि समाज-व्यवस्था ही बदल गयी। वेबर के सिद्धान्त की भी कई आलोचनाएं की जाती हैं। वे यह स्पष्ट नहीं कर सके कि स्वयं धर्म में परिवर्तन क्यों आता है।

ऑगबर्न ने अपनी पुस्तक 'Social Change' में 1922 **में सामाजिक परिवर्तन के 'सांस्कृतिक विलम्बना' नामक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।** उन्होंने संस्कृति को दो भागों में बांटा—भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति। भौतिक संस्कृति के अन्तर्गत हम हजारों भौतिक वस्तुओं, जैसे वायुयान, रेल, पंखा, घड़ी, बर्तन, फर्नीचर, वस्त्र, पुस्तकें आदि को ले सकते हैं। अभौतिक संस्कृति में धर्म, कला, दर्शन, ज्ञान, विज्ञान, विश्वास, साहित्य आदि को गिन सकते हैं। **ऑगबर्न** की मान्यता है कि पिछले कुछ वर्षों में दोनों ही संस्कृतियों में बहुत विकास हुआ है। उनका मत है कि अभौतिक संस्कृति की तुलना में भौतिक संस्कृति तीव्र गति से बदलती है। इस कारण भौतिक संस्कृति आगे बढ़ जाती है और अभौतिक संस्कृति उससे पिछड़ जाती है। **भौतिक संस्कृति का आगे बढ़ जाना व अभौतिक संस्कृति का पीछे रह जाना ही 'सांस्कृतिक पिछड़न या सांस्कृतिक विलम्बन' कहलाता है।** यह दशा संस्कृति में असन्तुलन की दशा है। इस असन्तुलन को समाप्त करने के लिए सामंजस्य तथा अनुकूलन का प्रयत्न किया जाता है, इस दौरान समाज में भी परिवर्तन होते हैं। इसी प्रकार से जब इन दो संस्कृतियों में असन्तुलन पैदा होता है तो समाज पर भी उसका प्रभाव पड़ता है, उसमें भी परिवर्तन आते हैं। ऑगबर्न के इस सिद्धान्त की विस्तार में व्याख्या सामाजिक परिवर्तन के सांस्कृतिक कारकों के अन्तर्गत की गयी है।

4.2 सामाजिक परिवर्तन के चक्रीय सिद्धान्त (Cyclical Theories of Social Changes)

चक्रीय सिद्धान्तकारों का मत है कि समाज में परिवर्तन का एक चक्र चलता है। हम जहाँ से प्रारम्भ होते हैं, घूम-फिरकर पुनः वहीं पहुँच जाते हैं। इस प्रकार के विचारों की प्रेरणा विद्वानों को सम्भवतः प्रकृति से मिली होगी। प्रकृति में हम देखते हैं कि ऋतु का एक चक्र चलता है और सर्दी, गर्मी एवं वर्षा की ऋतुएँ एक के बाद एक पुनः-पुनः आती हैं। इसी प्रकार से रात के बाद दिन एवं दिन के बाद रात का चक्र भी चलता रहता है। प्राणी भी जन्म और मृत्यु के दौर से गुजरते हैं। हम जन्म लेते हैं, युवा होते हैं, वृद्ध होते हैं और मर जाते हैं। मरकर फिर जन्म लेते हैं, और पुनः वही क्रम दोहराते हैं।

नोट

नोट्स परिवर्तन के इस चक्र को कई विद्वानों ने समाज पर भी लागू किया और कहा कि परिवार समाज और सभ्यताएँ उत्थान और पतन के चक्र से गुजरते हैं।

इसकी पुष्टि के लिए उन्होंने विश्व की अनेक सभ्यताओं का उल्लेख किया और कहा कि इतिहास इस बात का साक्षी है कि जो सभ्यताएँ आज फल-फूल रही हैं और प्रगति के उच्च शिखर पर हैं, वे कभी आदिम और पिछड़ी अवस्था में थीं और आज जो सभ्यताएँ नष्टप्राय दिखायी दे रही हैं, भूतकाल में वे विश्व की श्रेष्ठ सभ्यताएँ रह चुकी हैं। इस प्रकार चक्रीय सिद्धान्तकार सामाजिक परिवर्तन को जीवन-चक्र के रूप में देखते हैं। चक्रीय सिद्धान्तकारों में स्पेंग्लर, टॉयनबी, पैरटो एवं सोरोकिन प्रमुख हैं। हम यहाँ उनके सिद्धान्तों का उल्लेख करेंगे–

(1) स्पेंग्लर का सिद्धान्त (Theory of Oswald Spengler)

सामाजिक परिवर्तन के बारे में जर्मन विद्वान **ओस्वाल्ड स्पेंग्लर** ने 1918 में अपनी पुस्तक 'The Decline of the West' में अपना चक्रीय सिद्धान्त प्रस्तुत किया। इस पुस्तक में उन्होंने सामाजिक परिवर्तन के उद्विकासीय सिद्धान्तों की आलोचना की और कहा कि परिवर्तन कभी भी एक **सीधी रेखा (straight line)** में नहीं होता है। स्पेंग्लर का मत है कि समाजिक परिवर्तन का एक चक्र चलता है, हम जहाँ से प्रारम्भ होते हैं, घूम-फिरकर पुनः वहीं पहुँच जाते हैं। जैसे– मनुष्य जन्म लेता है, युवा होता है, वृद्ध होता है और मर जाता है तथा फिर जन्म लेता है। यही चक्र मानव समाज एवं सभ्यताओं में भी पाया जाता है। मानव की सभ्यता एवं संस्कृति भी उत्थान और पतन, निर्माण और विनाश के चक्र से गुजरती हैं। वे भी मानव शरीर की तरह जन्म, विकास और मृत्यु को प्राप्त होती हैं। अपनी बात को सिद्ध करने के लिए अपने विश्व की आठ सभ्यताओं (अरब, मिस्त्र, मेजियन, माया, रूसी एवं पश्चिमी संस्कृतियों, आदि) का उल्लेख किया और उनके उत्थान एवं पतन को दर्शाया। स्पेंग्लर ने पश्चिमी सभ्यता के बारे में कहा कि यह अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच गयी है। उद्योग एवं विज्ञान के क्षेत्र में उसने अभूतपूर्व प्रगति की है, किन्तु अब वह धीर-धीरे क्षीणता एवं स्थिरता की स्थिति में पहुँच रही है, अतः इसका विनाश अवश्यम्भावी है। उन्होंने जर्मन संस्कृति के बारे में भी ऐसे ही विचार प्रकट किये और कहा कि यह भी अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी है और अब इसका पतन निकट है।

क्या आप जानते हैं स्पेंग्लर की भविष्यवाणी उस समय सत्य प्रतीत हुई जब द्वितीय विश्व-युद्ध के समय जर्मनी का पतन हुआ। स्पेंग्लर ने कहा कि युद्ध एवं शस्त्रों का निर्माण सभ्यता के पतन के सूचक हैं।

उनका मत है कि भविष्य में, पश्चिमी समाजों का आज जो दबदबा है, समाप्त हो जायेगा और उनकी सम्पन्नता एवं शक्ति नष्ट हो जायेगी। आपने कहा कि दूसरी ओर एशिया के देश जो अब तक पिछड़े हुए थे, कमजोर एवं सुस्त थे, अपनी आर्थिक एवं सैनिक शक्ति के कारण प्रगति एवं निर्माण के पथ पर बढ़ेंगे। वे पश्चिमी समाजों के लिए एक चुनौती बन जायेंगे। इस प्रकार पश्चिम एवं एशिया के समाजों के उदाहरणों द्वारा स्पेंग्लर ने सामाजिक परिवर्तन की चक्रीय प्रवृति को स्पष्ट किया है।

समालोचना–स्पेंग्लर के इस सिद्धान्त ने बहुत समय तक लोगों को अपनी ओर आकर्षित किया, किन्तु इसे पूरी तरह स्वीकार नहीं किया जा सकता। स्पेंग्लर ने संस्कृति एवं सभ्यता की तुलना सावयव से की है जिसे आज कोई स्वीकार नहीं करता। आपने ऐतिहासिक तथ्यों को तोड़-मरोड़कर अपने पक्ष की पुष्टि की तथा काल्पनिक आधार पर युद्धों से पश्चिमी समाज के विनाश की घोषणा की। स्पेंग्लर ने यह भी नहीं बताया कि किसी सभ्यता, समाज व संस्कृति का अन्तिम बिन्दु कौन-सा है जिसके बाद ह्रास प्रारम्भ हो जाता है। आपका यह कहना भी कि पश्चिमी समाज विकास के चरम स्वरूप को प्राप्त कर चुका है, त्रुटिपूर्ण है क्योकि अब भी उसके विकास का कार्य जारी है। स्पेंग्लर के सिद्धान्तों को हम पूर्णतः वैज्ञानिक नहीं मान सकते। उनके सिद्धान्त से उनका निराशावाद प्रकट होता है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

नोट

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. पश्चिमी समाजों का आज जो ..... समाप्त हो जायेगा और उनकी स्वतंत्रता और शक्ति नष्ट हो जायेगी।
2. पश्चिमी और एशिया के समाजों को उदाहरण द्वारा स्पेंग्लर ने सामाजिक परिवर्तन की ..... को स्पष्ट किया है।
3. स्पेंग्लर ने संस्कृति और सभ्यता की तुलना ..... से की है जिसे आज कोई स्वीकार नहीं करता।

(2) टॉयनबी का सिद्धान्त (Theory of Toynbee)

अर्नाल्ड जे. टॉयनबी एक अँग्रेज इतिहासकार थे। उन्होंने विश्व की 21 सभ्यताओं का अध्ययन किया तथा अपनी पुस्तक 'A Study of history' में सामाजिक परिवर्तन का अपना सिद्धान्त प्रस्तुत किया। विभिन्न सभ्यताओं का अध्ययन करके आपने सभ्यताओं के विकास का एक सामन्य प्रतिमान ढूँढ़ा और सिद्धान्त का निर्माण किया। टॉयनबी के सिद्धान्त को **'चुनौती एवं प्रत्युत्तर का सिद्धान्त' (Challenge and Response Theory of Social Change)** भी कहते हैं। वे कहते हैं कि प्रत्येक सभ्यता को प्रारम्भ में प्रकृति एवं मानव द्वारा चुनौती दी जाती है। इस चुनौती का सामना करने के लिए व्यक्ति को अनुकूलन की आवश्यकता होती है, व्यक्ति इस चुनौती के प्रत्युत्तर में भी सभ्यता व संस्कृति का निर्माण करता है। इसके बाद भौगोलिक चुनौतियों के स्थान पर सामाजिक चुनौतियाँ दी जाती हैं। ये चुनौतियाँ समाज की भीतरी समस्याओं के रूप में अथवा बाहरी समाजों द्वारा दी जाती हैं। जो समाज इन चुनौतियों का सामना सफलतापूर्वक कर लेता है, वह जीवित रहता है और जो ऐसा नहीं कर सकता, नष्ट हो जाता है। इस प्रकार एक समाज निर्माण एवं विनाश तथा संगठन एवं विघटन के दौर से गुजरता है।

सिन्धु व नील नदी की घाटियों में ऐसा ही हुआ है। प्राकृतिक पर्यावरण ने वहाँ के लोगों को चुनौती दी जिसका प्रत्युत्तर उन्होंने निर्माण के द्वारा दिया। सिन्धु व मिस्र की सभ्यताएँ भी इसी प्रकार विकसित हुईं। गंगा व वोल्गा नदी ने भी ऐसी चुनौती दी, किन्तु इसका समुचित प्रत्युत्तर वहाँ के लोगों ने नहीं दिया। अत: वहाँ सभ्यताएँ नहीं पनपीं।

समालोचना–टॉयनबी का सिद्धान्त वैज्ञानिकता से दूर एक दार्शनिकता सिद्धान्त प्रतीत होता है, किन्तु टॉयनबी स्पेंग्लर की तुलना में अधिक आशावादी हैं। उन्होंने परिवर्तन की समाजशास्त्रीय व्याख्या करने का प्रयास किया।

(3) पैरेटो का सिद्धान्त (Theory of Pareto)

विल्फ्रेड पैरेटो ने सामाजिक परिवर्तन का चक्रीय सिद्धान्त जिसे **अभिजात वर्ग के परिभ्रमण का सिद्धान्त** (Theory of Circulation of Elites) कहते हैं का प्रतिपादन अपनी पुस्तक '*Mind and Society*' में किया। उन्होंने सामाजिक परिवर्तन को वर्ग व्यवस्था में होने वाले चक्रीय परिवर्तनों के आधार पर समझाया है। उनका मत है कि प्रत्येक समाज में हमें दो वर्ग दिखायी देते हैं : उच्च या अभिजात वर्ग तथा निम्न वर्ग। ये दोनों वर्ग स्थिर नहीं हैं वरन् इनमें परिवर्तन का चक्रीय क्रम पाया जाता है। निम्न वर्ग के व्यक्ति अपने गुणों एवं कुशलता में वृद्धि करके अभिजात वर्ग (Elite class) में सम्मिलित हो जाते हैं। अभिजात वर्ग के लोगों की कुशलता एवं योग्यता में धीरे-धीरे ह्रास होने लगता है और वे अपने गुणों को खो देते हैं तथा भ्रष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार वे निम्न वर्ग की ओर बढ़ते हैं। उच्च या अभिजात वर्ग में उनके रिक्त स्थान को भरने के लिए निम्न वर्ग में जो व्यक्ति बुद्धिमान, चरित्रवान, कुशल, योग्य एवं साहसी होते हैं, ऊपर की ओर जाते हैं। इस प्रकार उच्च वर्ग से निम्न वर्ग में तथा निम्न वर्ग से उच्च वर्ग में जाने की प्रक्रिया चलती रहती है। इस चक्रीय गति के कारण सामाजिक संरचना में भी परिवर्तन आ सकता है। चूँकि यह परिवर्तन एक चक्रीय गति में होता है, इसलिए इसे सामाजिक परिवर्तन का 'चक्रीय' अथवा 'अभिजात वर्ग के परिभ्रमण का सिद्धान्त' कहते हैं। पैरेटो ने सामाजिक परिवर्तन के चक्रीय सिद्धान्त का उल्लेख राजनीतिक, आर्थिक एवं आदर्शात्मक तीनों क्षेत्रों में किया है।

राजनीतिक क्षेत्र में हमें दो प्रकार के व्यक्ति दिखायी देते हैं–शेर तथा लोमड़ियाँ। 'शेर' लोगों का आदर्शवादी लक्ष्यों में दृढ़ विश्वास होता है जिन्हें प्राप्त करने के लिए वे शक्ति का सहारा लेते हैं और 'शेर' वे लोग हैं जो सत्ता में होते हैं। चूँकि 'शेर' लोग शक्ति का प्रयोग करते हैं, अत: समाज में भयंकर प्रतिक्रिया हो सकती है, अत: वे कूटनीति

नोट

का सहारा लेते हैं और शेर से अपने को 'लोमड़ियों' में बदल देते हैं तथा लोमड़ियों की तरह चालाकी से शासन चलाते हैं एवं सत्ता में बने रहते हैं, किन्तु निम्न वर्ग में भी कुछ लोमड़ियाँ होती हैं जो सत्ता को हथियाने की फिराक में होती हैं। एक समय ऐसा आता है कि उच्च वर्ग की लोमड़ियों से सत्ता निम्न वर्ग की लोमड़ियों के हाथ में आ जाती है। ऐसी स्थिति में सत्ता परिवर्तन के कारण राजनीतिक व्यवस्था एवं संगठन में भी परिवर्तन आता है। पैरेटो का मत है कि सभी समाजों में शासन के लिए तर्क के स्थान पर शक्ति का प्रयोग अधिक होता है। शासन करने वाले लोगों में जब बल का प्रयोग करने की इच्छा व शक्ति कमजोर हो जाती है तब वे शक्ति के स्थान पर लोमड़ियों की तरह चालाकी से काम लेते हैं। शासित वर्ग की लोमड़ियाँ उनसे अधिक चतुर होती हैं, अत: वे उच्च वर्ग की लोमड़ियों से सत्ता छीन लेती हैं। अत: जब शासक बदलते हैं एवं सत्ता परिवर्तन होती है तो समाज में भी परिवर्तन आता है।

आर्थिक क्षेत्र में पैरेटो ने दो वर्गों–सट्टेबाज **(Speculators)** तथा निश्चित आय वर्ग **(Rentiers)** का उल्लेख किया है। पहले वर्ग के लोगों की आय अनिश्चित होती है–कभी कम तथा कभी ज्यादा। इस वर्ग के लोग बुद्धि के द्वारा धन कमाते हैं। इसके विपरीत, दूसरे वर्ग की आय निश्चित होती है। प्रथम वर्ग के लोग आविष्कारक, उद्योगपति एवं कुशल व्यवसायी होते हैं, किन्तु इस वर्ग के लोग अपने हितों की रक्षा के लिए शक्ति एवं चालाकी का प्रयोग करते हैं, भ्रष्ट तरीके अपनाते हैं। इस कारण उनका पतन हो जाता है और उनका स्थान दूसरे वर्ग के ऐसे लोग ले लेते हैं जो ईमानदार होते हैं। इस वर्ग में परिवर्तन के साथ-साथ समाज की अर्थव्यवस्था में भी परिवर्तन आता है।

आदर्शात्मक क्षेत्र में भी दो प्रकार के व्यक्ति पाये जाते हैं–विश्वासवादी एवं अविश्वासी। कभी समाज में विश्वास-वादियों का प्रभुत्व होता है, किन्तु जब वे रूढ़िवादी हो जाते हैं तो उनका पतन हो जाता है और उनका स्थान दूसरे वर्ग के लोग ले लेते हैं।

समालोचना–पैरेटो ने अपने चक्रीय सिद्धान्त को व्यवस्थित एवं बुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है फिर भी आप उन कारणों को स्पष्ट करने में असमर्थ रहे हैं जो वर्गों की स्थिति को परिवर्तित करते हैं।

(4) सोरोकिन का सांस्कृतिक गतिशीलता का सिद्धान्त (Sorokin's Theory of Cultural Dynamics)

सोरोकिन ने अपनी पुस्तक **'Social and cultural Dynamics'** में सामाजिक परिवर्तन का सांकृतिक गतिशीलता का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उन्होंने मार्क्स, पैरेटो एवं वेबलिन के परिवर्तन सम्बन्धी सिद्धान्तों की आलोचना की। उनका मत है कि सामाजिक परिवर्तन उतार-चढ़ाव के रूप में घड़ी के पेण्डुलम की भाँति एक स्थिति से दूसरी स्थिति के बीच होता रहता है। उन्होंने प्रमुख रूप से दो संस्कृतियों–भावात्मक एवं चेतनात्मक–का उल्लेख किया। प्रत्येक समाज संस्कृति की इन दो धुरियों के बीच घूमता रहता है अर्थात् चेतनात्मक से भावात्मक की ओर तथा भावात्मक से चेतनात्मक की ओर आता-जाता रहता है। एक स्थिति से दूसरी स्थिति में जाने के दौरान मध्य में एक स्थिति ऐसी भी होती है जिसमें चेतनात्मक एवं भावात्मक संस्कृति का मिश्रण होता है। इसे सोरोकिन आदर्शात्मक संस्कृति कहते हैं। विभित्र संस्कृतियों के दौर से गुजरने पर समाज में भी परिवर्तन आता है। इन तीनों प्रकार की संस्कृतियों की विशेषताओं का हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख करेंगे :

टास्क सोरोकिन का सांस्कृतिक गतिशीलता का क्या सिद्धांत है? विवेचना करें।

(*i*) **चेतनात्मक संस्कृति (Sensate culture)–**चेतनात्मक संस्कृति को हम भौतिक संस्कृति भी कहते हैं। इस संस्कृति का सम्बन्ध मानव चेतना अथवा इन्द्रियों से होता है अर्थात् इसका ज्ञान हम देखकर, सूँघकर एवं छूकर कर सकते हैं। ऐसी संस्कृति में ऐन्द्रिक आवश्यकताओं व इच्छाओं की पूर्ति पर अधिक जोर दिया जाता है।

नोट

नोट्स इस संस्कृति में वैज्ञानिक आविष्कारों, प्रौद्योगिकी, भौतिक वस्तुओं एवं विलास की वस्तुओं का अधिक महत्त्व होता है। इसमें धर्म, नैतिकता, प्रथा, परम्परा एवं ईश्वर, आदि को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता है।

व्यक्ति एवं सामूहिक पक्ष भी चेतनात्मक संस्कृति के रंग में रंगे होते हैं। पश्चिमी समाज संस्कृति का उदाहरण है।

(*ii*) **भावात्मक संस्कृति (Ideational Culture)**—यह चेतनात्मक संस्कृति के बिल्कुल विपरीत होती है। इसका सम्बन्ध भावना, ईश्वर, धर्म, आत्मा व नैतिकता से होता है। यह संस्कृति आध्यात्मवादी संस्कृति कही जा सकती है। इसमें इन्द्रिय सुख के स्थान पर आध्यात्मिक उन्नति, मोक्ष एवं ईश्वर प्राप्ति को अधिक महत्त्व दिया जाता है। सभी वस्तुओं को ईश्वर कृपा का फल माना जाता है। विचार, आदर्श, कला, साहित्य, दर्शन एवं कानून सभी में धर्म एवं ईश्वर की प्रमुखता पायी जाती है, प्रथा और परम्परा पर अधिक बल दिया जाता है। इस संस्कृति में प्रौद्योगिकी एवं विज्ञान पिछड़ जाते हैं।

(*iii*) **आदर्शात्मक संस्कृति (Ideal Culture)**—यह संस्कृति चेतनात्मक एवं भावात्मक दोनों का मिश्रण होती है, अत: इसमें दोनों की विशेषताएँ पायी जाती हैं। इसमे धर्म एवं विज्ञान, भौतिक एवं आध्यात्मिक सुख दोनों का सन्तुलित रूप पाया जाता है। सोरोकिन इस प्रकार की संस्कृति को ही उत्तम मानते हैं। इसलिए इसे वे आदर्शात्मक संस्कृति कहते हैं।

सोरोकिन का मत है कि विश्व की सभी संस्कृतियाँ चेतनात्मक से भावात्मक के झूले में झूलती रहती हैं प्रत्येक संस्कृति अपनी चरम सीमा पर पहुँचकर पुन: दूसरे प्रकार की संस्कृति की ओर लौट जाती है। जैसा कि चित्र से प्रकट होता है कि चेतनात्मक एवं भावात्मक संस्कृतियाँ परिवर्तन की केवल सीमाएँ हैं, समाज में अधिकांश समय तो आदर्शवादी संस्कृति ही प्रचलित रहती है। संस्कृति में यह परिवर्तन क्यों होता है? इसका कारण सोरोकिन ने प्राकृतिक नियम एवं संस्कृति के आन्तरिक कारण माने हैं क्योंकि परिवर्तन प्रकृति का नियम है, अत: संस्कृति भी इसी नियम के कारण परिवर्तित होती है। इसके अतिरिक्त, संस्कृति की आन्तरिक परिस्थितियाँ भी उसमें परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं। सोरोकिन ने कहा है कि बीसवीं सदी की पश्चिमी सभ्यता चेतनात्मक संस्कृति की चरम सीमा पर पहुँच गयी है अब वह पुन: भावात्मक संस्कृति की ओर लौट जायेगी। चूँकि संस्कृति का समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध है, अत: जब संस्कृति में परिवर्तन होता है तो समाज में भी परिवर्तन आता है।

चित्र 4.2 सोरोकिन द्वारा प्रस्तुत सामाजिक परिवर्तन का क्रम

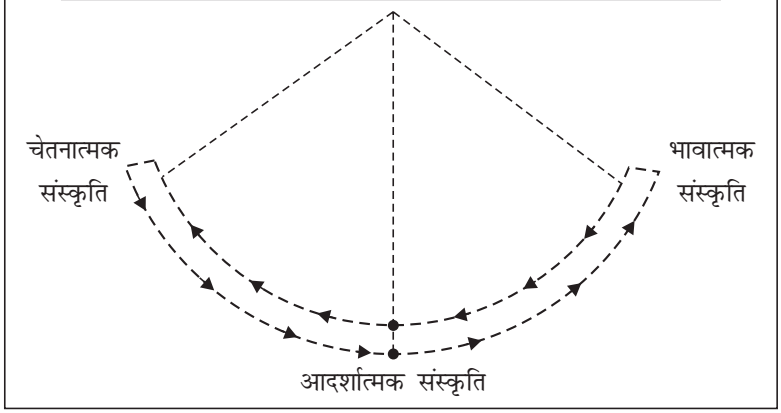

समालोचना—सोरोकिन ने अपने सिद्धान्त को वैज्ञानिक बनाने का प्रयत्न किया है, फिर भी उसमें कई कमियाँ हैं, जैसे— (*i*) संस्कृति को एक अवस्था से दूसरी अवस्था तक पहुँचने में इतना लम्बा समय लग जाता है कि इस आधार पर सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति को प्रकट करना मुश्किल है (*ii*) ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर इस बात को

नोट

सिद्ध करना सम्भव नहीं है कि सभी समाज एक प्रकार की संस्कृति से दूसरे प्रकार की संस्कृति के बीच परिवर्तन के दौर से गुजरते हैं। (*iii*) सोरोकिन सांस्कृतिक परिवर्तन के कारकों को भी स्पष्ट करने में असमर्थ रहे हैं। यह कह देना कि परिवर्तन प्राकृतिक कारणों से होते है एक वैज्ञानिक के लिए पर्याप्त नहीं है।

4.3 सारांश (Summary)

- कॉम्ट, स्पेन्सर, हॉबहाउस ने कहा है कि सामाजिक परिवर्तन सीधी रेखा में कुछ निश्चित स्तरों से होकर गुजरता है और प्रत्येक समाज को इन स्तरों से होकर गुजरना पड़ता है।
- मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन को प्रौद्योगिक एवं आर्थिक कारकों से जनित माना है।
- चक्रीय सिद्धान्त के अनुसार परिवर्तन का एक चक्र चलता है हम जहाँ से प्रारंभ होते हैं घूम फिर कर फिर उसी स्थिति में आ जाते हैं।
- चक्रीय सिद्धान्तकारों में स्पेंग्लर, टायनबी, पैरेटो, सोरोकिन प्रमुख हैं।

4.4 शब्दकोश (Keywords)

1. **चेतनात्मक संस्कृति (Sensate Culture)**–इसे भौतिक संस्कृति भी कहते हैं। ऐसी संस्कृति में ऐन्द्रिक आवयश्कताओं एवं इच्छाओं की पूर्ति पर अधिक जोर दिया जाता है।
2. **भावात्मक संस्कृति (Ideational Culture)**–इसमें ऐन्द्रिक सुख के स्थान पर अध्यात्मिक उन्नति, मोक्ष एवं ईश्वर प्राप्ति को अधिक महत्त्व दिया जाता है।

4.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. काम्ट के सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त क्या हैं?
2. मार्क्स का सामाजिक परिवर्तन का सिद्धान्त क्या है?
3. स्पेंग्लर के चक्रीय सिद्धान्त की व्याख्या करें।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. दबदबा
2. चक्रीय-प्रवृत्ति
3. सावयव।

4.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. विकास का समाजशास्त्र – *वन्दना वोहरा, ओमेगा पब्लिकेशन।*
2. विकास का समाजशास्त्र – *दूबे श्यामाचरन, वानी पब्लिकेशन।*

नोट

इकाई–5: सामाजिक परिवर्तन के कारक : जनसंख्यात्मक, आर्थिक, धार्मिक (Factors of Social Change: Demographic, Economic, Religious)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

5.1 सामाजिक परिवर्तन के जनसंख्यात्मक कारक (Demographic Factors of Social Change)

5.2 सामाजिक परिवर्तन के आर्थिक कारक (Economic Factors of Social Change)

5.3 आर्थिक कारक और सामाजिक परिवर्तन (Economic Factors and Social Change)

5.4 प्रोटेस्टेंट आचार और पूँजीवाद का विकास (Protestant Ethics and Rise of Capitalism)

5.5 सारांश (Summary)

5.6 शब्दकोश (Keywords)

5.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

5.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- सामाजिक परिवर्तन के जनसंख्यात्मक कारक को समझना।
- सामाजिक परिवर्तन के आर्थिक कारक की जानकारी।
- सामाजिक परिवर्तन के धार्मिक कारक।

प्रस्तावना (Introduction)

प्रत्येक घटना के पीछे कोई-न-कोई कारण अवश्य होता है। सामाजिक परिवर्तन भी किसी-न-किसी कारक का ही परिणाम है। सामाजिक परिवर्तन को समझने के लिए हमें उन कारकों अथवा कारणों को भी जानना होगा जो परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं।

विभिन्न विद्वानों ने सामाजिक परिवर्तन के लिए विभिन्न कारकों को उत्तरदायी माना है, जैसे, मार्क्स ने आर्थिक कारक को, कॉम्ट ने बौद्धिक विकास को, स्पेन्सर ने विभेदीकरण की सार्वभौमिक प्रक्रिया को, वेबर ने धर्म को, सोरोविन ने संस्कृति को तथा **ऑगबर्न** ने सांस्कृतिक पिछड़न को। वास्तविकता यह है कि सामाजिक परिवर्तन के लिए कोई एक या कुछ कारक ही उत्तरदायी नहीं हैं वरन् यह अनेक कारकों के सामूहिक प्रभावों से घटित होता है।

नोट

5.1 सामाजिक परिवर्तन के जनसंख्यात्मक कारक (Demographic Factors of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन लाने में जनसंख्यात्मक कारक भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। किसी देश की जनसंख्या, जन्म-दर, मृत्यु-दर, आवास-प्रवास, लिंग अनुपात, बालक, युवा तथा वृद्धों की संख्या, आदि सामाजिक संरचना, सामाजिक संगठन तथा अर्थव्यवस्था को प्रभावित करते हैं। परिवार एवं विवाह का स्वरूप, गरीबी, बेकारी, समृद्धि, परिवार नियोजन, जन्म निरोध सम्बन्धी सरकार की नीति, आदि सभी पर जनसंख्यात्मक कारकों का प्रभाव पड़ता है। जनसंख्या के आधार पर ही उस देश की सामाजिक संरचना ज्ञात की जा सकती हैं। पिछड़े राष्ट्रों की बढ़ती हुई जनसंख्या ने वहां की आर्थिक विकास की गति को प्रभावित किया है, वहां श्रम शक्ति बेकार हुई है, असन्तोष बढ़ा है तथा अपराध और तोड़-फोड़ की कार्यवाहियां हुई हैं। किसी देश के भविष्य का निर्माण करने तथा उसे खुशहाल बनाने में वहां की जनसंख्या का बहुत बड़ा योगदान होता है। जनसंख्या की कमी व अधिकता उत्पादन, आर्थिक विकास, राजनीतिक सम्बन्ध व नियोजित परिवर्तन के नियमों को निर्धारित करने के साथ-साथ सरकार व सामाजिक नीति को भी प्रभावित करते हैं।

जनसंख्यात्मक कारक से तात्पर्य जनसंख्या के आकार, घनत्व, गठन, रचना व गतिशीलता से है।

नोट्स जनसंख्यात्मक कारक को परिभाषित करते हुए सोरोकिन लिखते हैं, "जनसंख्यात्मक कारक का तात्पर्य जनसंख्या के आकार तथा घनत्व में वृद्धि तथा ह्रास से हैं।"

इस प्रकार जनसंख्यात्मक कारकों में हम जनसंख्या के गुणात्मक पक्षों (qualitative aspects) का अध्ययन न करके उसके संख्यिकीय पक्षों (quantitative aspects) जैसे, जन्म-दर, मृत्यु-दर, आवास-प्रवास की दर, वृद्धि एवं ह्रास की दर, स्त्री-पुरुषों का अनुपात, आयु अनुपात, आदि का अध्ययन करते हैं। हमारा उद्देश्य यहां इस बात को स्पष्ट करना है कि जनसंख्यात्मक कारक सामाजिक परिवर्तन लाने में क्या भूमिका निभाते हैं?

I. जनसंख्या के आकार का प्रभाव (Effect of the Size of the Population)

जनसंख्या का आकार भी समाज को प्रभावित करता है। समाज का जीवन-स्तर, गरीबी, बेकारी, अशिक्षा, स्वास्थ्य एवं अनेक अन्य सामाजिक समस्याओं का जनसंख्या के आकर से घनिष्ठ सम्बन्ध है। हमारे सामाजिक मूल्य, आदर्श, मनोवृत्तियां, जीवनयापन के ढंग सभी कुछ जनसंख्या के आकार पर ही निर्भर हैं। राजनीतिक व सैनिक दृष्टि से भी जनसंख्या का आकार महत्त्वपूर्ण है। जिन देशों में जनसंख्या अधिक होती है वे राष्ट्र शक्तिशाली माने जाते हैं, चीन इसका उदाहरण है और जहां जनसंख्या कम होती है वे राष्ट्र कमजोर समझे जाते हैं। इसी प्रकार जिन देशों की जनसंख्या कम है वहां के लोगों का जीवन-स्तर अपेक्षाकृत ऊंचा होता है। ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, कनाडा और अमेरिका के लोगों का जीवन स्तर चीन व भारत के लोगों से कई गुना ऊंचा है क्योंकि वहाँ की जनसंख्या कम है। ग्राम और नगर का भेद भी जनसंख्या के आधार पर ही निर्भर है। जनसंख्या के आकार को निम्नांकित दो कारक प्रभावित करते हैं: (1) जन्म-दर तथा मृत्यु-दर (2) आप्रवास एवं उत्प्रवास।

(1) **जन्म-दर तथा मृत्यु-दर** (Birth Rate and Death Rate)—जन्म-दर और मृत्यु-दर जनसंख्या के आकार को प्रभावित करते हैं। जब किसी देश में मृत्यु-दर की अपेक्षा जन्म-दर अधिक होती है तो जनसंख्या में वृद्धि होती है। इसके विपरीत स्थिति में जनसंख्या घटती है। जब जन्म-दर और मृत्यु-दर में कमी होती है या सन्तुलन होता है तो उस देश की जनसंख्या में स्थिरता पायी जाती है। जिन देशों में जनाधिक्य होता है वहां इस प्रकार की प्रथाएं एवं रीति-रिवाज पाये जाते हैं जिनके द्वारा जन्म-दर को कम किया जा सके। उदाहरण के लिए, वहाँ वृद्धों एवं अक्षम लोगों को मार देने की प्रथा को स्वीकृति प्राप्त होती है, गर्भपात की छूट होती है तथा जन्म निरोध एवं परिवार नियोजन पर अधिक जोर दिया जाता है। ऐसे देशों में छोटे परिवार पर बल दिया जाता है। उदाहरण के लिए, भारत में जनाधिक्य होने के कारण परिवार नियोजन कार्यक्रम को तीव्र गति से लागू किया गया है। साथ ही गर्भपात सम्बन्धी

नोट

नियमों में भी उदारता बरती गयी है। गर्भ निरोध के लिए सरकार द्वारा मुफ्त एवं सस्ते साधनों जैसे, निरोध, लूप, गर्भ निरोधक गोलियाँ, आदि का वितरण किया जाता है तथा स्त्री-पुरुषों के बन्ध्याकरण के ऑपरेशन की सुविधाएं जुटायी जाती हैं। इसके विपरीत, जिन देशों में जनसंख्या कम होती है वहां स्त्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा ऊंची होती है। और जन्म-निरोध, परिवार-नियोजन तथा गर्भपात के विपरीत धारणाएं पायी जाती हैं। साथ ही वहां जन्म-दर को बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन दिया जाता है। द्वितीय विश्व-युद्ध में रूस और जर्मनी की बहुत अधिक जन-हानि हुई, अत: वहां इस प्रकार के नियम बनाये गये व प्रोत्साहन दिये गये जिससे कि जनसंख्या में वृद्धि हो सके।

(2) **आप्रवास एवं उत्प्रवास** (Immigration and Emigration)–**जनसंख्या की गतिशीलता** (Population Mobility) भी सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी है। जब किसी देश में विदेश से आकार बसने वालों की संख्या अधिक होती है तो वहां जनसंख्या में वृद्धि होती है और यदि किसी देश के लोग अधिक संख्या में विदेशों में जाकर रहने लगते हैं, तो उस देश की जनसंख्या घटने लगती है। विदशों से अपने देश में जनसंख्या के आने को **आप्रवास** (Immigration) तथा अपने देश से विदेशों में जनसंख्या के निष्क्रमण को उत्प्रवास (Emigration) कहते हैं। जनसंख्या की गतिशीलता भी दो प्रकार की हो सकती है–दैनिक व कुछ समय के लिए तथा स्थायी रूप से। बड़े-बड़े शहरों में नित्य प्रति खानों, कारखानों व कार्यालयों में काम करने के लिए लोग आस-पास के क्षेत्रों से आते हैं। यात्रा, आदि के लिए भी लोग इधर-उधर गमन करते हैं। कुछ लोग स्थायी रूप से भी बाढ़, भूकम्प, युद्ध एवं अन्य कारणों से एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर बस जाते हैं। आप्रवास एवं उत्प्रवास के कारण विभिन्न संस्कृतियों के व्यक्ति सम्पर्क में आते हैं। वे एक-दूसरे के विचारों, भाषा, प्रथाओं, रीति-रिवाजों, कला, ज्ञान, आविष्कार, खान-पान, पहनावा, रहन-सहन, धर्म आदि से परिचित होते हैं। सम्पर्क के कारण एक संस्कृति दूसरी संस्कृति को प्रभावित करती है। जनसंख्या की गतिशीलता विघटन को भी जन्म देती है। आधुनिक समय में यातायात की सुविधा के कारण गतिशीलता में बहुत अधिक वृद्धि हुई है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. जब किसी देश में विदेश से आकर बसने वालों की संख्या अधिक होती है तो वहाँ जनसंख्या में ..... होती है।
2. विदेशों से अपने देश में ..... के आने को आप्रवास कहते हैं।
3. अपने देश से विदेशों में जनसंख्या के निष्क्रमण को ..... कहते हैं।

II. जनसंख्या की बनावट एवं सामाजिक परिवर्तन (Composition of Population and Social Change)

जनसंख्या की बनावट का सामाजिक परिवर्तन पर प्रभाव पड़ता है जनसंख्या की बनावट को तय करने में लिंग अनुपात, आयु, वैवाहिक सम्बन्ध, व्यवसाय, प्रजाति एवं राष्ट्रीयता, आदि का विशेष महत्त्व है। जब इन कारकों में परिवर्तन होता है तो समाज में भी परिवर्तन आते हैं। हम यहां इनमें से कुछ कारकों का उल्लेख करेंगे।

(क) **आयु** (Age)–यदि किसी देश में वृद्ध लोगों की तुलना में युवक और बच्चे अधिक हैं तो वहाँ परिवर्तन को शीघ्र स्वीकार किया जायेगा, क्योंकि वृद्ध व्यक्ति रूढ़िवादी एवं परिवर्तन विरोधी होते हैं तथा प्रथाओं के कठोर पालन पर बल देते हैं। अधिक आयु के लोगों की संख्या के अधिक होने पर सैनिक दृष्टि से वह समाज कमजोर होता है। युवा लोगों की अधिकता होने पर वह देश और समाज नवीन आविष्कार करने में समक्ष होता है। वहां के लोगों की कार्य-शक्ति अधिक होती है। इसलिए वे निर्माण कार्य करने में सक्षम होते हैं। ऐसे समाज में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक क्रान्तियां आने के अवसर अधिक रहते हैं, किन्तु दूसरी ओर जनसंख्या में युवा लोगों का अधिक अनुपात होने पर अनुभवहीन लोगों की संख्या भी बढ़ जाती है। अनुभव के अभाव में समाज में कई त्रुटियां होने की सम्भावना रहती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आयु संरचना सामाजिक परिवर्तन लाने में एक महत्त्वपूर्ण कारक है।

नोट

क्या आप जानते हैं **लैण्डिस** ने भी लिखा है, **"अत्यधिक मात्रा में आयु संरचना जनसंख्या के सामाजिक कार्य निश्चित करती है।"**

(ख) **लिंग** (Sex) समाज में स्त्री-पुरुषों का अनुपात भी सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित करता है। जिन समाजों में पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की संख्या अधिक होती है, उनमें स्त्रियों की सामाजिक स्थिति निम्न होती है और वहाँ बहु-पत्नी प्रथा का प्रचलन होता है। दूसरी ओर जहां पर स्त्रियों की तुलना में पुरुषों की संख्या अधिक होती है, वहाँ बहु-पति प्रथा का प्रचलन होता है। तथा कन्या-मूल्य की प्रथा पायी जाती है और पत्नी प्राप्त करने हेतु पुरुषों में प्रतियोगिता होती है। परिणामस्वरूप स्त्रियों को अच्छे पति मिल पाते हैं। ऐसे समाजों में स्त्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा भी ऊंची होती है। जिन समाजों में पुरुषों की अधिकता होती है, वहाँ परिवार व समाज में पुरुषों का प्रभुत्व भी पाया जाता है। जब किसी समाज के लिंग अनुपात में अन्तर आता है तब भी उस समाज में परिवर्तन घटित होते हैं।

(ग) **वैवाहिक स्तर** (Marital Status)–विवाह समाज की एक प्रमुख सामाजिक संस्था है। स्त्री-पुरुषों का वैवाहिक स्तर भी सामाजिक परिवर्तन के लिए महत्त्वपूर्ण कारक है। जिन समाजों में पुरुषों की संख्या अधिक पायी जाती है वहां बहु-पति प्रथा और जिनमें स्त्रियों की संख्या अधिक पायी जाती है वहाँ बहु-पत्नी प्रथा पायी जाती है। इसी प्रकार से बाल-विवाह एवं विलम्ब-विवाह की प्रथाएं भी सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं। जहाँ बाल-विवाह का प्रचलन होता है वहां परिवार का निर्माण शीघ्र होता है तथा कम उम्र में ही व्यक्ति पर जिम्मेदारियाँ आ जाती हैं। व्यक्ति का मानसिक विकास और शिक्षा का कार्य रुक जाता है, कमजोर और रुग्ण सन्तानें पैदा होती हैं। इससे समाज में मृत्यु-दर बढ़ जाती है। ऐसे विवाहों से उत्पन्न सन्तानें शारीरिक एवं मानसिक रूप से निर्माण एवं परिवर्तन का कार्य करने में अक्षम होती हैं। दूसरी ओर विलम्ब-विवाह से उत्पन्न सन्तानें शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से सक्षम होती हैं। किन्तु कभी-कभी विलम्ब-विवाह अनैतिक व्यवहारों को जन्म देने के लिए भी उत्तरदायी होते हैं। इसी तरह से समाज में विधवाओं और विधुरों की संख्या एवं जनसंख्या का सामाजिक और मानसिक स्वास्थ्य भी सामाजिक परिवर्तन लाने में योग देते हैं। यदि किसी समाज में जनाधिक्य है तो उसके अग्रांकित सामाजिक परिणाम होते हैं।

(*i*) **परम्परा और रीति-रिवाज पर प्रभाव**–यदि किसी देश में अधिक जनसंख्या है तो वहां सन्तति-निरोध, परिवार-नियोजन एवं कानूनी रूप से गर्भपात को उचित ठहराने के प्रयास किये जाते हैं।

(*ii*) **सामाजिक समस्याएं**–अधिक जनसंख्या होने पर समाज में अशिक्षा, गरीबी, बेकारी, भिक्षावृत्ति, कुपोषण, अपर्याप्त आवास, गन्दी बस्तियां, चिकित्सा, यातायात, प्रशासन, मजदूर, समस्या, आदि से सम्बन्धित अनेक समस्याएं पनपती हैं। महंगाई, बीमारी, अकाल एवं दुर्घटनाएं भी बढ़ती हैं।

(*iii*) **जीवन-स्तर**–जनसंख्या बढ़ने पर लोगों का जीवन स्तर गिरता है।

III. जनसंख्या व आर्थिक परिवर्तन (Population and Economic Change)

यदि किसी देश में जनसंख्या में वृद्धि होती है तो जनशक्ति में भी वृद्धि होती है। फलस्परूप मजदूर सस्ते हो जाते हैं और सस्ती वस्तुएं उत्पादित की जा सकती हैं, किन्तु दूसरी ओर जनसंख्या के बढ़ने पर अधिक वस्तुओं की आवश्यकता होती है। अत: उत्पादन में वृद्धि करने के लिए नये-नये आविष्कार करने पड़ते हैं। अधिक जनसंख्या कभी-कभी राष्ट्रीय आय बढ़ाने में सहायक होती है तो कभी इसके विपरीत प्रभाव भी पड़ते हैं, जैसे भारत में जनसंख्या वृद्धि ने आर्थिक समृद्धि को ठेस पहुँचायी है, जबकि रूस में आर्थिक समृद्धि के लिए जनसंख्या वृद्धि को आवश्यक माना है।

IV. सामाजिक संगठन एवं जनसंख्या (Social Organisation and Population)

जब किसी देश में जनसंख्या के घनत्व और आकार में वृद्धि होती है तो नगरीकरण बढ़ता है, विशेषीकरण और श्रम-विभाजन में वृद्धि होती है, परिवार और विवाह के विभिन्न स्वरूप अस्तित्व में आते हैं। संयुक्त परिवार और एकाकी (नाभिक) परिवार की रचना पर जनसंख्या की कमी और अधिकता का भी प्रभाव पड़ता है।

नोट

V. राजनीति और जनसंख्या (Politics and Population)

राजतन्त्र, प्रजातन्त्र, समाजवाद, साम्यवाद, पूंजीवाद, आदि पर जनसंख्या के आकार का काफी प्रभाव पड़ता है। किसी देश की जनसंख्या के बढ़ने पर उसकी सैनिक शक्ति में वृद्धि होती है। ऐसे देश उपनिवेशवाद और साम्रज्यवाद को बढ़ावा देते हैं। दास-प्रथा और सामन्तवाद भी जनाधिक्य के ही परिणाम हैं।

VI. युद्ध एवं जनसंख्या (War and Population)

कई विद्वानों ने इस बात को स्पष्ट किया है कि अधिक जनसंख्या युद्धों को जन्म देती है। पिछले दो महायुद्ध इस बात के प्रमाण हैं। जनाधिक्य होने पर अधिकाधिक आर्थिक साधनों की आवश्यकता होती है जिसे प्राप्त करने के लिए दूसरे देशों से युद्ध करना होता है।

VII. क्रान्ति एवं जनसंख्या (Revolution and Population)

जब किसी देश में तीव्र गति से जनसंख्या की वृद्धि होती है अथवा ह्रास होता है तो यह स्थिति क्रान्ति के लिए उत्तरदायी होती है क्योंकि इसके कारण समाज में सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक उतार-चढ़ाव आते हैं, निम्न वर्ग व उच्च वर्ग में उथल-पुथल होती है। जनाधिक्य होने पर लोगों को पर्याप्त आर्थिक सुविधाएं नहीं मिल पातीं। अत: उनके मन में शासन के प्रति विरोध एवं विद्रोह पैदा होता है। संघर्ष की स्थिति पैदा होती है और लोग क्रान्ति और परिवर्तन के लिए प्रयत्नशील हो जाते हैं।

क्या आप जानते हैं **कार्ली** (Karli) क्रान्ति के लिए जनसंख्या वृद्धि को प्रमुख रूप में उत्तरदायी मानते हैं।

VIII. जनसंख्या और वैचारिक परिवर्तन (Population and Ideological Change)

जनसंख्या के आकार और घनत्व में परिवर्तन होने पर लोगों के विचारों में भी परिवर्तन आता है। जब जनसंख्या में गातिशीलता होती है तो समाज में समानता, प्रजातन्त्र, सहिष्णुता और सांस्कृतिक समन्वय के विचार पनपते हैं। गतिशीलता का अभाव संकीर्णता को जन्म देता है।

IX. सामाजिक प्रगति और जनसंख्या (Social Progress and Population)

विभिन्न जनसंख्याशास्त्रियों ने सामाजिक प्रगति और विनाश का सम्बन्ध जनसंख्यात्मक कारकों से जोड़ा है। जब किसी स्थान की जनसंख्या में बहुत अधिक वृद्धि होती है तो उसका अन्तिम परिणाम विनाश के रूप में होता है। इसी प्रकार यदि जनसंख्या उत्तरोत्तर घटती जाती है तब भी सामाजिक विनाश के अवसर बढ़ते हैं। इसीलिए समुचित सामाजिक, आर्थिक, औद्योगिक, सहित्यिक एवं कलात्मक प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि देश में सन्तुलित जनसंख्या हो।

5.2 सामाजिक परिवर्तन के आर्थिक कारक (Economic Factors of Social Change)

जिस प्रकार शरीर के सभी अंग मिलकर शारीरिक संरचना का निर्माण करते हैं, उसी भांति आर्थिक ढाँचे अथवा आर्थिक संरचना का निर्माण कई कारक मिलकर करते हैं। इन आर्थिक कारकों के अन्तर्गत उपभोग, उत्पत्ति, विनिमय, वितरण व आर्थिक नीति को सम्मिलित किया गया है। वस्तुत: वे आर्थिक कारक क्या हैं और वे किस तरह से सामाजिक परिवर्तन में महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावी भूमिका निभाते हैं, इसे समझाने का हम यहां प्रयास करेंगे।

(1) **उपभोग की प्रकृति** (Nature of Consumption)–मानव अनन्त इच्छाओं का स्वामी है। मनुष्य की एक इच्छा के पूर्ण होने से पूर्व ही दूसरी इच्छा उत्पन्न हो जाती है। फलस्वरूप वह अपनी इच्छाओं की पूर्ति में लगा रहता है। स्वभाव से भी मनुष्य परिवर्तनशील है और अपनी इच्छा की पूर्ति हेतु वह एक ही इच्छा के कई विकल्प ढूंढ़ लेता है, जैसे गृहिणी प्रतिदिन एक ही प्रकार की सब्जी-रोटी न बनाकर उनमें परिवर्तन करती रहती है और तरह-तरह के व्यंजन बनाकर अपनी सुरुचि व योग्यता का परिचय देती है। यद्यपि व्यंजनों के उपयोग का उद्देश्य

नोट

क्षुधा पूर्ति ही है, परन्तु मनुष्य अपने स्वभाव के कारण उसमें परिवर्तन चाहता है। इसीलिए वह प्रतिदिन अपने खान-पान एवं रहन-सहन में परिवर्तन करता रहता है। अब प्रश्न उठता है कि क्या मनुष्य को इन इच्छाओं की पूर्ति हेतु सभी साधन उपलब्ध हो जाते हैं? जब समाज के अधिकांश व्यक्ति उपभोग के साधनों व सुविधाओं को सामान्यतया जुटा लेते हैं तो जीवन स्तर सामान्य होता है व सामाजिक परिवर्तन की गति भी सामान्य होती है, परन्तु समाज के अधिकांश व्यक्ति जब उपभोग के साधनों को नहीं जुटा पाते हैं तो जीवन-स्तर गिर जाता है और निम्न जीवन-स्तर परिवर्तन की गति में अवरोध उत्पन्न करता है, परन्तु यह स्थिति शीघ्र ही आमूलचूल परिवर्तन का कारण भी बन जाती है। जीवन-स्तर ऊंचा होने पर सामाजिक परिवर्तन तीव्र गति से होता है और व्यक्ति अपनी स्वार्थ पूर्ति हेतु पुरानी मान्यताओं, प्रथाओं और अतार्किक व्यवहारों को त्याग देते हैं। आर्थिक स्थिति में तीव्रगामी परिवर्तन सामाजिक स्तरीकरण को भी प्रभावित करता है तथा सामाजिक स्तरीकरण में परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन ही है।

(2) **उत्पादन का स्वरूप** (Mode of Production)–मार्क्स के अनुसार उत्पादन के तरीकों में परिवर्तन होने पर आर्थिक सम्बन्धों में भी परिवर्तन आते हैं जो सभी सामाजिक संस्थाओं को प्रभावित करते हैं। मार्क्स ने बताया कि यदि उत्पादन के साधनों को उनका पूर्ण प्रतिफल प्राप्त हो जाता है तो समाज-व्यवस्था संगठित होती है, परन्तु ऐसा नहीं है। उत्पादन के साधनों पर कुछ लोगों का एकाधिकार हो जाता है। परिणामस्वरूप असन्तोष की स्थिति उत्पन्न होती है जो क्रान्ति के लिए उत्तरदायी होती है मार्क्स के अनुसार, जैसा उत्पादन का स्वरूप होगा वैसा ही सामाजिक ढांचा भी होगा। लघु उत्पादन कम सामाजिक गतिशीलता का द्योतक है तो बड़े पैमाने पर उत्पादन अधिक गतिशीलता का। यदि जीवनयापन का मुख्य व्यवसाय कृषि है तो सामाजिक व्यवस्था पर भूमिपतियों का एकाधिकार होगा और यदि उद्योग-धन्धों द्वारा जीवनयापन किया जाता है तो बड़े-बड़े उद्योगपतियों व पूँजीपतियों का समाज में प्रभुत्व होगा। इस प्रकार उत्पादन का स्वरूप सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित व परिवर्तित करता है। मार्क्स की मान्यता है कि जब उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन आता है तो समाज में भी परिवर्तन आता है। मार्क्स के परिवर्तन सम्बन्धी सिद्धान्त का हम आगे उल्लेख करेंगे।

(3) **वितरण की व्यवस्था** (Distribution System)–वितरण की व्यवस्था से तात्पर्य है उत्पादित वस्तुओं का समाज के सदस्यों में विभाजन। प्रत्येक समाज में अलग-अलग ढंग से आर्थिक व भौतिक साधनों का वितरण किया जाता है। कहीं पर राज्य द्वारा यह वितरण किया जाता है तो कहीं पर स्वतन्त्र वितरण व्यवस्था पायी जाती है। यदि सभी व्यक्तियों को समाज में अपनी आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु सभी साधन उपलब्ध हो जायें तो शायद कोई आर्थिक समस्या ही नहीं रहे, परन्तु समाज में कुछ को तो अधिकाधिक सुविधा उपलब्ध हो जाती है जबकि कुछ लोग आवश्यक आवश्यकताएं भी पूरी नहीं कर पाते। इस प्रकार प्रत्येक समाज में व्यक्तियों को कुछ आर्थिक समस्याओं का सामना करना ही पड़ता है। व्यक्ति इन समस्याओं का समाधान विभिन्न तरीकों से करते हैं जो सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को भी प्रभावित करते हैं। धन, सम्पत्ति एवं साधनों के असमान वितरण के कारण ही समाज में एकाधिकार व पूंजीवादी व्यवस्था जन्म लेती है। पूंजीवाद का विरोध करने के लिए ही साम्यवाद व समाजवाद की नींव रखी गयी जो सम्पत्ति के समान वितरण पर जोर देते हैं पूंजीवाद व समाजवाद वितरण की भिन्न-भिन्न प्रकार की व्यवस्था पर आधारित हैं। इस प्रकार जब एक प्रकार की वितरण व्यवस्था का स्थान दूसरे प्रकार की वितरण व्यवस्था ले लेती है तो समाज में परिवर्तन घटित होते हैं।

(4) **आर्थिक नीतियां** (Economic Policies)–उत्पादन, उपभोग व वितरण को व्यवस्थित बनाये रखने हेतु आर्थिक नीतियों का निर्धारण किया जाता है। यदि ये नीतियां राज्य के हस्तक्षेप द्वारा लागू की जाती हैं तो राज्य समाज के सभी व्यक्तियों की आवश्यक आवश्यकताओं को जुटाने का प्रयास करता है, परन्तु राज्य का हस्तक्षेप न होने पर उत्पादन के साधनों पर कुछ लोगों का एकाधिकार हो जाता है और सामाजिक व्यवस्था भी इससे प्रभावित होती है। स्वतन्त्रता-प्रप्ति के बाद भारत की व जार शासन से मुक्त होने के बाद रूस की आर्थिक नीतियों में परिवर्तन हुआ, फलस्वरूप वहां अनेक सामाजिक परिवर्तन घटित हुए हैं।

(5) **औद्योगीकरण** (Industrialisation)–औद्योगीकरण का तात्पर्य मशीनों द्वारा तीव्र पैमाने पर उत्पादन से है। वर्तमान में औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप नगरीकरण, विशेषीकरण एवं श्रम-विभाजन पनपा है, खान-पान व रहन-सहन में परिवर्तन हुआ है, छुआछूत व जाति-पांति के भेदभाव में कमी आयी है, शिक्षा का प्रसार हुआ है,

नोट

रूढ़िवादिता व अन्धविश्वासों में कमी हुई है। तार्किक व्यवहार में नये विश्वास पनपे हैं, स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार हुआ है और उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ी है। औद्योगीकरण के कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों व व्यापार में वृद्धि हुई है। इन सभी परिवर्तनों ने सामाजिक व्यवस्था को झकझोर दिया और परिणामस्वरूप उसमें परिवर्तन की नवीन प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हुई हैं।

(6) **श्रम विभाजन** (Division of Labour)–उत्पादन का कार्य केवल एक ही व्यक्ति द्वारा नहीं हो सकता वरन् उसके लिए अनेक व्यक्तियों के सहयोग की आवश्यकता होती है। विशाल पैमाने पर उत्पादन के लिए भी यह आवश्यक है कि कार्य का विभाजन किया जाय और कार्य को छोटे-छोटे भागों में बांटा जाय। इसे ही हम श्रम-विभाजन कहते हैं। यह श्रम-विभाजन औद्योगीकरण का परिणाम है जिसने विशेषीकरण को बढ़ावा दिया। इस प्रकार आज के युग में श्रम-विभाजन व विशेषीकरण ने पारस्परिक निर्भरता की स्थिति उत्पन्न की है। एक कार्य अथवा एक प्रकार के उत्पादन हेतु उत्पादनकर्ता को कई लोगों पर निर्भर रहना पड़ता है दुर्खीम ने श्रम-विभाजन के आधार पर दो प्रकार के समाजों का उल्लेख किया है। एक **यान्त्रिक एकता पर आधारित समाज** जो कि सरल व संगठित होता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं कर लेता है। दूसरा **सावयवी एकता पर आधारित समाज** जिसकी प्रकृति जटिल होती है तथा जिसमें अधिकाधिक विशेषीकरण एवं पारस्परिक निर्भरता तथा विविधता पायी जाती है। श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण में वृद्धि ने भी समाज में अनेक परिवर्तन उत्पन्न किये हैं। आज सभी क्षेत्रों में हमें विशेषीकरण व श्रम-विभाजन देखने को मिलता है।

(7) **आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा** (Economic Competition)–आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा स्वतन्त्र हो अथवा नियन्त्रित, प्रत्यक्ष हो अथवा अप्रत्यक्ष, सामाजिक परिवर्तन को अवश्य प्रभावित करती है। आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा में सफलता नये-नये आविष्कारों को जन्म देती है तो असफलता संघर्ष, तनाव व कुण्ठा की द्योतक है। वैसे आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा का अधिकतर सम्बन्ध संघर्षों से ही लिया जाता है। आधुनिक युग में आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा के परिणामस्वरूप मिल-मालिकों व मजदूरों के बीच संघर्ष पनपे हैं, तालाबन्दी, हड़तालें व तोड़-फोड़ में वृद्धि हुई है। मजदूरों के हितों की रक्षा के लिए नवीन कानून बने हैं एवं अनेक कल्याणकारी कार्य प्रारम्भ किये गये हैं। इन सभी स्थितियों ने समाज में भी परिवर्तन उत्पन्न किये हैं। उत्पादन, उपभोग, वितरण, श्रम-विभाज, आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा, आदि सामाजिक परिर्वतन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

टास्क आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा क्या है? संक्षिप्त वर्णन करें।

5.3 आर्थिक कारक और सामाजिक परिवर्तन (Economic Factors and Social Change)

आर्थिक कारक सामाजिक संस्थाओं, व्यवस्थाओं व संगठनों को प्रभावित करके भी सामाजिक परिवर्तन लाने में सहायक होते हैं। अब हम इसी पक्ष पर विचार करेंगे–

(1) **आर्थिक कारक व सामाजिक संस्थाएं**–आर्थिक कारक सामाजिक संस्थाओं में भी परिवर्तन लाते हैं। भारत में औद्योगीकरण व नगरीकरण के परिणामस्वरूप संयुक्त परिवार व्यवस्था का विघटन हुआ, जाति-पांति के भेदभाव, छुआछूत, आदि समाप्त हुए, शिक्षा का प्रसार हुआ, स्त्रियों को रोजगार के अवसर प्राप्त हुए, अन्तर्जातीय विवाह, प्रेम-विवाह, विधवा पुनर्विवाह, आदि प्रारम्भ हुए हैं, जाति सम्बन्धी प्रतिबन्ध शिथिल हुए हैं, व्यवसाय में परिवर्तन आया है, ग्रामीणों में शिक्षा का प्रसार हुआ है, जनसंख्या की गतिशीलता बढ़ी है तथा बैंकों की स्थापना हुई है। अब मुकदमों के लिए न्यायालय के दरवाजे खटखटाये जाने लगे हैं। वर्तमान में पुराने रीति-रिवाजों व मान्यताओं का प्रभाव कम हुआ है, मनोरंजन का व्यापारीकरण हुआ है। इसी प्रकार से जब आर्थिक उतार-चढ़ाव व तेजी-मन्दी आती है तो उसका भी सामाजिक संस्थाओं पर प्रभाव पड़ता है। आर्थिक समृद्धि एवं खुशहाली के समय विवाह एवं जन्म-दर में वृद्धि होती है जिससे परिवार का आकार बड़ा हो जाता है। दूसरी ओर आर्थिक मन्दी के समय विवाहों की संख्या

नोट

एवं जन्म-दर गिर जाती है, परिवार का आकर छोटा हो जाता है और तलाक की दर बढ़ जाती है, इस प्रकार आर्थिक परिस्थितियां परिवार एवं विवाह की संस्था को प्रभावित करती हैं। वर्तमान में नयी आर्थिक दशाओं के कारण परिवार के अनेक कार्य अन्य संस्थाओं ने हथिया लिये हैं, ग्राम-पंचायतों का विघटन हुआ है, जजमानी प्रथा समाप्त हुई है और मुद्रा अर्थव्यवस्था प्रारम्भ हुई है। स्पष्ट है कि जब आर्थिक परिस्थितियां बदलती हैं तो वे सामाजिक संस्थाओं पर प्रत्यक्ष रूप ये प्रहार करती हैं।

(2) **आर्थिक कारक और धार्मिक संस्थाएं**–विज्ञान की प्रगति तथा नये-नये आविष्कारों ने आर्थिक समृद्धि प्रदान की है जिसके परिणामस्वरूप धार्मिक संस्थाएं प्रभावित हुई हैं। वैज्ञानिक आविष्कारों ने धर्म की महिमा को कम किया है । अब विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य की उत्पत्ति, सूरज चांद, तारे, वर्षा, सर्दी, गर्मी, आदि सभी प्राकृतिक तथ्य हैं। अब व्यक्ति ईश्वर की अपेक्षा धन की अधिक पूजा करता है। समाज के बहुत-से लोग अब धार्मिक उपासना व रीति-रिवाजों को ढोंग व ढकोसला मानते हैं। आज समाज में व्यक्ति की स्थिति उसकी आर्थिक स्थिति के आधार पर तय होती है। समाज धनी व्यक्तियों को ही सम्मान देता है व अधिकांश व्यक्ति उसी को अपना आदर्श मानते हैं और उसके अनुरूप बनने का प्रयत्न करते हैं। वर्तमान में आर्थिक समृद्धि के साथ-साथ धर्म एवं ईश्वर में आस्था कम हुई है, नास्तिकता बढ़ी है। इस प्रकार आर्थिक समृद्धि धार्मिक ह्रास को जन्म देती है।

(3) **आर्थिक कारक एवं राजनीतिक व्यवस्था**–राजनीतिक व्यवस्था मूल का आधार धन ही है। राज्य का निर्माण समाज में धन का असमान वितरण व एकाधिकार रोकने हेतु ही हुआ है। राज्य के कानून, संविधान, योजनाएं, नियम, आदि आर्थिक कारकों से ही प्रेरित होते हैं। यहां तक कि चुनाव लड़ने व विधायक एवं सांसद बनने हेतु भी धन की आवश्यकता होती है। राजनीतिक संगठनों का कार्य उनके क्षेत्र के लोगों तक सभी सुविधाओं को पहुंचाना व लोगों की समस्या को हल करना होता है। राज्य कानूनों व योजनाओं द्वारा इस प्रकार की व्यवस्था करने का प्रयत्न करता है जिससे कि राज्य के सभी लोगों की आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। बैंकों की स्थापना, आवश्यक वस्तुओं का उचित वितरण, इन्कम टैक्स लागू करने, बाँध व नहरों का निर्माण, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, आर्थिक सुरक्षा, पिछड़ी जाति व वर्गों का उत्थान, शोषण से मुक्ति की व्यवस्था, आदि के कार्य राज्य द्वारा ही किये जाते हैं, परन्तु फिर भी राज्य में कुछ ऐसे पूंजीपति अवश्य मिल जाते हैं, जो अपने धन के बलबूते पर राजनीतिक संगठनों व राज सत्ता में अपना प्रभुत्व रखते हैं। जब किसी देश की आर्थिक स्थिति खराब होने लगती है तो आर्थिक विषमता चरम सीमा पर पहुँच जाती है, शोषण बढ़ जाता है और लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति कठिन हो जाती है, तब सत्ता भी पलट जाती है, क्रान्ति आती है और साम्यवाद के प्रसार के अवसर बढ़ जाते हैं। समृद्धि काल में पूंजीवादी व्यवस्था फलती-फूलती है।

(4) **आर्थिक कारक व जन्म-दर एवं मृत्यु-दर**–यदि समाज में अधिकांश व्यक्तियों का जीवन-स्तर उच्च है और व्यक्तियों की आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति आसानी से हो जाती है तो ऐसे समाज में सन्तानोत्पत्ति व जन्म-दर बढ़ जाती है क्योंकि सन्तानों का पालन-पोषण करना सरल हो जाता है, परन्तु निम्न जीवन-स्तर होने पर मृत्यु-दर बढ़ जाती है क्योंकि लोग सन्तानों का लालन-पालन व चिकित्सा कराने तथा बीमारी की रोकथाम करने में असमर्थ होते हैं। उचित भोजन, स्वास्थ्य व चिकित्सा के आभाव में मृत्यु-दर बढ़ जाती है। इस प्रकार जनसंख्या के आकार को तय करने में आर्थिक कारक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

(5) **आर्थिक कारक व स्थानान्तरण**–आकाल, बाढ़, सूखा, उत्पादन के साधनों का अभाव व रोजगार की कमी, आदि के समय व्यक्ति स्थानान्तरण करने के लिए प्रेरित होते हैं और ऐसे स्थानों की ओर जाते हैं जो आर्थिक दृष्टि से समृद्ध हों। इसका कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को रोटी, कपड़ा और मकान की आवश्यकता होती है। औद्योगीकरण व अधिक धन की प्राप्ति की लालसा ने व्यक्ति को गतिशील बनाया है। वह अपनी जन्म-भूमि को छोड़कर ऐसे स्थानों पर जाकर भी बस जाने को तैयार हो जाता है जहां वह अधिक धन कमा सके। स्थानान्तरण के कारण जनसंख्या के आकार में भी परिवर्तन होता है। स्थानान्तरण के कारण विभिन्न संस्कृतियों के व्यक्ति सम्पर्क में आते हैं, एक दूसरे के सांस्कृतिक तत्व, भाषा, खान-पान, वेश-भूषा, आदि को ग्रहण करते हैं। इससे उनके सामाजिक जीवन में परिवर्तन आते हैं। स्थानान्तरण के कारण कभी-कभी संघर्ष पैदा होता है। स्पष्ट है कि आर्थिक परिस्थितियां जनसंख्या के स्थानान्तरण को प्रेरित करती हैं और स्थानान्तरण से सामाजिक परिवर्तन घटित होते हैं।

नोट

(6) **आर्थिक कारक व जनसंख्या के शारीरिक एवं मानसिक लक्षण**–धन की कमी व अधिकता का व्यक्ति के शारीरिक एवं मानसिक लक्षणों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि आर्थिक स्थिति उच्च होगी तो, व्यक्ति को स्वास्थ्यप्रद भोजन एवं अच्छा मकान व शिक्षा उपलब्ध होगी जो उसे मानसिक तनावों से भी मुक्त रखेंगे, परन्तु धनाभाव के कारण व्यक्ति स्वास्थ्यप्रद भोजन, मकान, शिक्षा व अन्य सुविधाओं के उपलब्ध न होने पर मानसिक क्षमता का ह्रास होगा। ऐसे व्यक्तियों की सन्तानें भी शारीरिक रूप से दुर्बल, क्षीण व छोटे कद की होंगी। गरीबी लोगों को अपराध तक करने को बाध्य करती है।

(7) **आर्थिक कारक और अपराध एवं आत्महत्या**–यदि व्यक्ति को अपने उपभोग की वस्तुएं, शिक्षा व रोजगार के अवसर प्राप्त हो जायें तो वह साधारणत: अपराध नहीं करेगा, परन्तु निर्धनता के कारण व्यक्ति अपने नैतिक मूल्यों को त्यागकर अनैतिक कार्य करने को विवश हो जाता है।

नोट्स निम्न आर्थिक स्थिति व उच्च जीवन-स्तर की लालसा व्यक्ति को व्यभिचार, जुआ, कालाबाजारी, चोरी डकैती, वेश्यावृत्ति, रिश्वत, गबन, जालसाजी, आदि के लिए प्रेरित करती है।

इस प्रकार गरीबी अपराधों को बढ़ाती है। विलियम बोंजर तथा फोरेन सारी डी वर्सी ने अपने अध्ययन में पाया कि अधिकांश अपराधियों ने गरीबी एवं निम्न आर्थिक स्थिति के कारण अपराध किया। गरीबी से तंग आने पर, व्यापार में घाटा लगने पर, दिवालिया होने पर अथवा अपराध करते हुए रंगे हाथों पकड़े जाने पर व्यक्ति आत्महत्या भी करते हैं। कई बार आर्थिक समृद्धि भी वेश्यावृत्ति मद्यपान, जुआखोरी एवं अन्य समस्याओं को जन्म देती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आर्थिक कारक सामाजिक परिवर्तन लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

मैक्स वेबर ने अपनी पुस्तक 'दी प्रोटेस्टैण्ट एथिक एण्ड दी स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज्म' में धर्म को ही सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी माना। उनका मत है जब यूरोप में रोमन कैथोलिक धर्म था तो एक दूसरे प्रकार का समाज था, किन्तु जब प्रोटेस्टैण्ट धर्म आया तो आधुनिक पूंजीवाद समाज की नींव पड़ी। उन्होंने विश्व के छ: महान् धर्मों (हिन्दू, ईसाई, इस्लाम, चीनी आदि) का अध्ययन करके बताया कि केवल प्रोटेस्टैण्ट धर्म में ही वे बातें मौजूद थीं जो आधुनिक पूंजीवाद को जन्म दे सकती थीं। उनका मत है कि प्रत्येक धर्म के आचरण के नियम पाये जाते हैं जो लोगों के विचारों एवं व्यवहारों का तय करते हैं। अत: जब धर्म बदलता है तो समाज में भी परिवर्तन आता है। धर्म को वे परिवर्तन लाने वाला 'चल' (Variable) मानते हैं। प्रोटेस्टैण्ट धर्म की आर्थिक-संहिता में कुछ तत्व इस प्रकार बताये गये हैं : ईमानदारी सबसे अच्छी नीति है, एक पैसा बचाना एक पैसा कमाना है, समय ही धन है, पैसा पैसे को पैदा करता है, जल्दी सोना और जल्दी जागना मनुष्य को स्वस्थ, अमीर और बुद्धिमान बनाता है, कार्य ही पूजा है इत्यादि। इन सभी आचार नियमों ने प्रोटेस्टैण्ट मतावलम्बियों के जीवन एवं व्यवहार को प्रभावित किया और आधुनिक पूंजीवाद को जन्म दिया जिससे कि समाज-व्यवस्था ही बदल गयी। वेबर के सिद्धान्त की भी कई आलोचनाएं की जाती है। वे यह स्पष्ट नहीं कर सके कि स्वयं धर्म में परिवर्तन क्यों आता है।

धार्मिक कारण (Religious Cause)

मैक्स वेबर मार्क्स से सहमत नहीं थे कि केवल आर्थिक कारण ही सामाजिक परिवर्तन को जन्म देते हैं। "वेबर ने देखा कि समुदाय की व्यावहारिक नैतिकता और इसकी अर्थव्यवस्था के चरित्र के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, परन्तु इस बात को स्वीकारने से उन्होंने इन्कार कर दिया कि अर्थव्यवस्था नैतिकता को निर्धारित करती है।" उन्होंने इस विचार की अठारहवीं शताब्दी के पश्चिमी यूरोप में पूँजीवाद की उत्पत्ति और विकास के सन्दर्भ में विकसित किया।

मैक्स वेबर का उद्देश्य पश्चिमी पूँजीवाद की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं को सामने लाना था क्योंकि वे इसे अनोखी ऐतिहासिक घटना मानते थे। उन्होंने स्थापित किया कि पूँजीवाद विभिन्न समयों में दुनिया के विभिन्न स्थानों में प्रकट हुआ। परन्तु उन्होंने स्वयं से यह प्रश्न पूछा–आधुनिक पश्चिमी पूँजीवाद को किस चीज ने अनोखा बनाया?

जैसा कि वेबर ने देखा, इस प्रकार के पूँजीवाद ने संस्थाओं और संस्थाबद्ध व्यवहारों के जटिल समूह का प्रतिनिधित्व किया। संयुक्त संचय कम्पनी, संचय विनिमय संयंत्र, और विभिन्न प्रकार की मुद्राओं और मुद्रा विनिमय के साधनों

नोट

के आधार पर यह बात स्थापित हो गई। कुछ राजनैतिक विकास भी आधुनिक पूँजीवाद के विकास के साथ जुड़े हैं परन्तु इन सबसे बढ़कर उन्होंने पूँजीवाद की आवश्यकता, जिसे वे इसकी आत्मा कहते थे, को पहचाना। उनके अनुसार आधुनिक पश्चिमी पूंजीवाद को जो चीज विशिष्ट बनाती है वह ग्रहण करने की इसकी प्रवृत्ति या आर्थिक दुस्साहस में फंसने की इच्छा नहीं है। ये सब तो निस्संदेह उपस्थित हैं। परन्तु ये सब सर्वव्यापी हैं जो अनेक प्रकार की आर्थिक गतिविधियों में पाए जा सकते हैं जो दूसरे युगों व स्थानों में भी दिखाई देते थे। "वेबर ने आधुनिक पूँजीवाद में मौजूद नैतिक लिप्साओं पर अपनी उंगली रखी। यह एक नैतिक दृष्टिकोण था और जीवन के प्रति व्यवहारों का समूह था।" उसने आधुनिक पश्चिमी पूंजीवाद के तेवर की इस अनिवार्यता पर जोर दिया कि "अंतत: जिन कारणों ने पूँजीवाद को जन्म दिया वे थे तर्कसंगत स्थायी उद्यम, तर्कसंगत गणना, तर्कसंगत तकनीक, तर्कसंगत कानून आदि परन्तु इन सबके आलावा कुछ आवश्यक पूरक कारक भी थे जैसे–तर्कसंगत तेवर, सामान्यत: जीवन के आचरणों में संगति और एक सुसंगत आर्थिक नैतिकता।"

धार्मिक कारक को एक परिवर्तनीय तत्व मानकर **वेबर** 'धर्म के आर्थिक आचारों' को अपने अध्ययन का आधार मान लेते हैं और इसी आधार पर धर्म के आर्थिक जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों को ढूँढ़ने का प्रयत्न करते हैं। 'धर्म के आर्थिक आचारों' के अन्तर्गत **वेबर** धर्म से सम्बन्धित विभिन्न आध्यात्मिक सिद्धान्तों और विचारों को नहीं, वरन् आचरण के उन समस्त व्यावहारिक तरीकों को सम्मिलित करते हैं जोकि एक धर्म अपने सदस्यों के लिए निश्चित करता है। आपके अनुसार, आर्थिक आचारों और धार्मिक विश्वासों में एक सम्बन्ध है। साथ ही, आचरण के प्रभावपूर्ण स्वरूपों के निर्माण में आर्थिक कारक के अतिरिक्त अन्य अनेक कारकों का योग होता है, फिर भी उनमें धर्म एक महत्त्वपूर्ण कारक है।

5.4 प्रोटेस्टेंट आचार और पूँजीवाद का विकास (Protestant Ethics and Rise of Capitalism)

उपर्युक्त बातों को प्रमाणित करने के लिए **मैक्स वेबर** ने विश्व के छह महान् धर्मों को चुन लिया है। वे धर्म हैं–कन्फ्यूशियन, हिन्दू, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम तथा यहूदी धर्म। **वेबर** ने इनमें से प्रत्येक धर्म के आर्थिक आचारों का विश्लेषण किया, और फिर उन आचारों के, उस धर्म-विशेष को मानने वाले लोगों के आर्थिक तथा सामाजिक संगठन पर पड़ने वाले, प्रभावों को सिद्ध किया। इस विषय में **मैक्स वेबर** का अधिक महत्त्वपूर्ण तथा परिपक्व सामान्य निष्कर्ष उनकी सर्वाधिक प्रख्यात रचना दी **प्रोटेस्टेण्ट इथिक एण्ड दी स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज्म** (The Protestant Ethic and the Spirit of Capitalism) में मिलता है। इसमें आपने प्रोटेस्टेण्ट धर्म और पूँजीवाद के सम्बन्ध को विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया है। आपके मतानुसार प्रोटेस्टेण्ट धर्म में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जबकि उन आर्थिक नियमों की व्यवस्था को उत्पन्न करने में सहायक हुई जिसे कि हम पूँजीवाद कहते हैं; और यह प्रोटेस्टेण्ट ही था जिसने एक पूँजीवाद अर्थ-व्यवस्था के विकास में प्रत्यक्ष प्रेरणा प्रदान की। परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि प्रोटेस्टेण्ट धर्म एकमात्र कारक है। **वेबर** ने सदा एक बात का बल दिया कि आधुनिक पूँजीवाद के विकास के लिए अनेक परस्पर स्वतन्त्र अवस्थाएँ आवश्यक थीं। फिर भी आपने उतनी ही निश्चितता और दृढ़ता से यह भी कहा कि प्रोटेस्टेण्ट आचार एक आवश्यक कारक था और इसके बिना पूँजीवाद का विकास सर्वथा भिन्न होता।

प्रोटेस्टेण्ट धर्म और पूँजीवाद के उक्त सम्बन्ध को प्रमाणित करने के लिए **वेबर** ने इन दोनों के 'आदर्श-प्रारूपों' को चुना है। आधुनिक पूँजीवाद के विशिष्ट लक्षण इस प्रकार हैं–इस अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत उद्योग, व्यापार और वाणिज्य बड़े पैमाने में बिल्कुल वैज्ञानिक आधारों पर विवेकपूर्ण ढंग से संगठित तथा संचालित होता है; निजी सम्पत्ति सम्पूर्ण व्यवस्था का सर्वप्रथम अंग होती है; उत्पादन का कार्य बड़ी-बड़ी मिल तथा फैक्ट्री में अधिक लोगों की सहायता से मशीनों द्वारा होता है; और इस प्रकार से उत्पादित वस्तुओं की संगठित विक्रय-व्यवस्था की जाती है; अधिकतम कार्यकुशलता के लिए श्रम-विभाजन तथा विशेषीकरण पर अधिक बल दिया जाता है; और सर्वप्रमुख उद्देश्य अधिकतम लाभ प्राप्त करना होता है। पूँजीवादी व्यस्था में कार्य ही जीवन तथा कुशलता ही धन है। प्रत्येक

नोट

व्यक्ति को अधिमत उत्साह तथा अधिकतम कुशलता के साथ कार्य करना पड़ता है। इस व्यवस्था में जोखिम अधिक होता है, इस कारण इसमें व्यक्ति में आत्मविश्वास, कर्त्तव्यपरायणता तथा अपने व्यवसाय के प्रति पूरी निष्ठा होनी चाहिए। इसे ही 'व्यावसायिक आचार' कहा जाता है। जो व्यक्ति अपने कार्य या व्यवसाय में कुशल हैं, वे धन और मान दोनों को ही पाते हैं; और जिनमें कार्यकुशलता कम होती है, वे धन और मान दोनों से ही वंचित रहते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था में जो कुछ भी अकुशल और पुराना है, उसका पतन अनिवार्य है। संक्षेप में, यही पूँजीवाद का प्रमुख तत्व है।

परन्तु यहाँ प्रश्न यह है कि वह कौन-सी शक्ति है जोकि इस प्रकार की आर्थिक व्यवस्था को सम्भव बनाती है तथा उसे स्थिर रखती है? यह शक्ति, **वेबर** के अनुसार, प्रोटेस्टेण्ट धर्म का आर्थिक आचार है। पूँजीवादी व्यवस्था को बनाए रखने के लिए व्यक्ति के द्वारा जिन आचरणों को किया जाना आवश्यक है उनके सम्बन्ध में लोगों को अनेक उपदेश प्रोटेस्टेण्ट धर्म से प्रभावित सामाजिक नेताओं से प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ, **बेंजामिन फ्रेंकलिन** ने, जोकि आधुनिक पूँजीवाद के मूल सिद्धान्तों ने प्रारम्भिक प्रतिपादक माने जाते हैं, अपनी आत्मकथा में अपने अनेक उपदेश उन लोगों को दिए हैं जोकि व्यवसाय में सफल होना या धनी होना चाहते हैं। ये उपदेश प्रोटेस्टेण्ट आचारों द्वारा प्रभावित और बहुत-कुछ उनके अनुरूप हैं। इन उपदेशों में कुछ उपदेश इस प्रकार हैं–'समय ही धन है', 'धन से धन कमाया जाता है', 'एक पैसा बचाना एक पैसा कमाना है', 'ईमानदारी सबसे अच्छी नीति है', 'जल्दी सोना और जल्दी उठना व्यक्ति को स्वस्थ, धनी और बुद्धिमान बनाता है।' यदि हम इन समस्त उपदेशों के पीछे छिपे मनोभावों पर ध्यान दें तो हम स्पष्टतया यह पाएँगे कि ये सभी निर्देश एक विशेष बात पर विशेष बल देते हैं और वह यह है कि 'कार्य करना ही सबसे बड़ा गुण है' और इस कारण हमें कम-से-कम इतना बुद्धिमान होना चाहिए कि हम कठोर परिश्रम करें और धन को कमाएँ और बचाएँ, ताकि हम स्वस्थ और धनी हो सकें। इस प्रकार के मूल सिद्धान्तों या मनोभावों के बिना आधुनिक पूँजीवाद कदापि सम्भव न होता। यह मूल सिद्धान्त, जैसा कि निम्नलिखित विवेचना से स्पष्ट होगा, प्रोटेस्टेण्ट धर्म से लोगों को प्राप्त होता है। पूँजीवाद के विकास में प्रोटेस्टेण्ट धर्म के आचारों का प्रभाव निम्नवत् है–

(1) पहला, 'काम करना ही सबसे बड़ा गुण है', यह एक प्रोटेस्टेण्ट आचार है। कैथोलिक आचार में इस प्रकार का कोई विचार नहीं पाया जाता है। कैथोलिक धर्म में प्रचलित एक गाथा से यह बात स्पष्टतया प्रमाणित होती है। गाथा इस प्रकार है कि आदम तथा ईव ने स्वर्ग में अच्छे और बुरे ज्ञान के वृक्ष के फलों को खा लिया था; इस अपराध के दंडस्वरूप ईश्वर ने उन दोनों को स्वर्ग से बहिष्कार कर दिया और उन्हें यह दंड दिया कि अब से ईव और उसकी कन्याएँ कष्ट से बच्चे को जन्म देंगी और आदम और उनके पुत्रों को एड़ी-चोटी का पसीना एक करके रोटी कमानी होगी। अत: स्पष्ट है कि कैथोलिक आचार में श्रम एक गुण नहीं, बल्कि एक दंड है। इसके विपरीत प्रोटेस्टेण्ट आचार में कार्य ऐसी क्रिया या आचरण है जिसे कि करना उचित है, और स्वयं कार्य के लिए ही कार्य करना चाहिए। 'कर्म ही पूजा है' या 'परिश्रम से ही ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है',–ये आचार प्रोटेस्टेण्ट धर्म के ही हैं, और इनकी बहुत बड़ी देन पूँजीवाद के विकास में है।

(2) प्रोटेस्टेण्ट धर्म की **दूसरी**, देन, जोकि पूँजीवाद के विकास में सहायक सिद्ध हुई है, 'व्यावसायिक आचार' है। इसका सम्बन्ध उस विश्वास से है जिसे कैलविनवाद कहा जाता है, और जिसके अनुसार प्रत्येक आत्मा व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् या तो स्वर्ग या नरक में चली जाती है, और व्यक्ति के जीवन-काल में कोई भी कार्य उसके भाग्य को बदल नहीं सकता। परन्तु उसके जीवन-काल में कुछ इस प्रकार के लक्षण प्रकट होते हैं जोकि उसे पहले से ही यह संकेत कर सकते हैं कि उसकी आत्मा स्वर्ग में जाएगी या नरक में? यदि एक व्यक्ति अपने कार्य या व्यवसाय में अधिकाधिक सफलता प्राप्त करता है, तो वह इस बात का संकेत है कि उनकी आत्मा स्वर्ग को जाएगी। इन विश्वास के माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति पर एक नैतिक दबाव इस रूप में डाला जाता है कि वह अपने पेशे व व्यवसाय में कठोर परिश्रम करे और उसके प्रति पूर्ण निष्ठा बरते ताकि उसे अधिकाधिक सफलता प्राप्त हो सके। अपने कार्य को भली प्रकार तथा सफलतापूर्वक करना ईश्वरीय इच्छा का ही गुण-कीर्तन करना है। केवल गिरजाघर जाने या तीर्थ-यात्रा करने से ही मुक्ति नहीं मिलती; मुक्ति तो अपने कर्मों या व्यवसायों को उचित ढंग से करने से ही मिल सकती है। एक व्यक्ति अपने धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन केवल गिरजाघर में ही नहीं, बाजारों में भी कर

नोट

सकता है। यह प्रोटेस्टेण्ट आचार पूँजीवाद के विकास में अत्यधिक सहायक अवश्य ही सिद्ध हुआ है क्योंकि पूँजीवाद की सफलता और विकास इसी बात पर निर्भर है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यवसाय के क्षेत्र में अधिकतम उत्साह और निष्ठा के साथ काम करे।

(3) पूँजीवाद को प्रोटेस्टेण्ट धर्म की तीसरी देन यह है कि इस धर्म के अन्तर्गत ऋण पर सूद वसूल करने की मान्यता या स्वीकृति है। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, **बेंजामिन फ्रेंकलिन** के अनुसार, 'धन से धन कमाया जाता है।' इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि अपने धन का विनियोग धन, जिसमें कि सूद के रूप में प्राप्त धन भी सम्मिलित है, कमाने के लिए किया जा सकता है। कैथोलिक धर्म में सूद लेना बुरा समझा जाता है; इसके विपरीत, प्रोटेस्टेण्ट धर्म में इस प्रकार सूद लेने की स्वीकृति है। अत: धन को खुलेआम बिना किसी ईश्वरीय दंड या कोप के भय से धन कमाने या सूद एकत्रित करने के लिए लगाया जा सकता है। ये सभी बातें पूँजीवाद के विकास में सहायक सिद्ध हुई हैं।

(4) प्रोटेस्टेण्ट धर्म की पूँजीवाद के विकास में **चौथी** देन यह है कि इस धर्म ने शराबखोरी को बुरा बताया और ईमानदारी को ऊँचा पद प्रदान किया। इस धार्मिक आचार के परिणामस्वरूप लोगों में शराब पीकर आलसीपन करने की प्रवृत्ति घटती गई और उनकी कुशलता बढ़ी। शराबखोरी पर प्रतिबन्ध पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था में अत्यन्त महत्त्व का कारण है कि इसके अन्तर्गत लोगों को मशीन पर काम करना पड़ता है। शराब पीकर हल चलाया जा सकता है, पशुओं को चराया जा सकता है, पर मशीन चलाना कठिन होगा, और ऐसा करना सम्भव होने पर भी जान-माल का खतरा होगा।

(5) प्रोटेस्टेण्ट आचार का पूँजीवाद के विकास में **अन्तिम** प्रभाव इस रूप में है कि वह कैथोलिक आचार की भाँति अधिक छुट्टी के पक्ष में नहीं है। प्रोटेस्टेण्टवादियों के लिए कर्म ही आराधना है। पूँजीवादी व्यवस्था की सफलता के लिए भी अधिक कार्य और कम छुट्टियाँ आवश्यक हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रोटेस्टेण्ट धर्म और उसका आर्थिक आचार वह प्रभावशाली शक्ति है जोकि पूँजीवाद के विकास में प्रमुख कारक रही है, परन्तु जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि प्रोटेस्टेण्ट आचार पूँजीवाद के विकास में एकमात्र कारक है। अन्य अनेक कारकों का भी योग इस दिशा में अवश्य रहा होगा। इस अर्थ में **मैक्स वेबर** को एक-कारकवादी नहीं, बल्कि बहु-कारकवादी माना जा सकता है। **वेबर** ने पूँजीवाद तथा प्रोटेस्टेण्ट आचारों के बीच सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों को प्रस्तुत किया है। आपने यह दर्शाया है कि पूँजीवाद का सर्वोत्तम विकास इंग्लैंड, अमेरिका, हालैंड आदि उन देशों में हुआ है। जहाँ कि लोग प्रोटेस्टेण्ट धर्म के अनुयायी हैं। इसके विपरीत, इटली, स्पेन आदि देशों के लोग कैथोलिक धर्म के अनुयायी होने के कारण पूँजीवाद को अधिक विकसित नहीं कर पाए हैं। इसी प्रकार **मैक्स वेबर** ने और भी अनेक प्रमाण ऐसे दिए हैं जिनसे इस सिद्धान्त की पुष्टि हो सके कि आधुनिक पूँजीवाद प्रोटेस्टेण्ट धर्म से अत्यधिक प्रभावित हुआ है। यद्यपि यह धर्म पूँजीवाद की उत्पत्ति और विकास में एकमात्र कारक नहीं है, फिर भी सबसे अधिक प्रभावशाली कारक या शक्ति अवश्य ही रहा है।

इसी तरह **मैक्स वेबर** ने कन्फ्यूशियन-धर्म, बौद्ध-धर्म, हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म और यहूदी धर्म का विश्लेषण किया और यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि इन सभी धर्मों के आर्थिक आचारों के अनुरूप ही समाज का आर्थिक तथा सामाजिक संगठन निश्चित हुआ है। उदाहरणार्थ, हिन्दू धर्म को ही लीजिए। **मैक्स वेबर** ने हिन्दू धर्म को जिस रूप में देखा और प्रस्तुत किया है उसके अनुसार मूल अर्थों में हिन्दू धर्म में मुक्ति का अर्थ केवल 'कर्म के चक्र से मुक्ति' है; किन्तु इस लक्ष्य को दूसरे लोगों से अधिक सांसारिक सफलता पाकर प्राप्त नहीं किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, यदि आप दूसरे व्यक्तियों से कहीं अधिक सांसारिक सफलताएँ प्राप्त करते हैं, तो वे सफलताएँ आपके मुक्ति-प्राप्ति में सहायक कदापि सिद्ध न होंगी। मुक्ति तो समस्त सांसारिक 'मायाओ', इच्छाओं और अभिरुचियों से अपने को पूर्णतया अलग या दूर रखकर और ब्रह्मा से साक्षात्कार करके उसमें अपने को विलीन कर देने पर ही प्राप्त की जा सकती है। संक्षेप में, हिन्दू धर्म ने इसके मानने वालों को भौतिक उन्नति करने में, या सांसारिक सफलताएँ, अथवा लौकिक लक्ष्यों को प्राप्त करने में किसी प्रत्यक्ष अभिरुचि की प्रेरणा नहीं दी। इसी कारण हिन्दू धर्म को मानने वाले भौतिक उन्नति में नहीं, आध्यात्मिक उन्नति में संसार में सबसे आगे रहे। साथ ही इस धर्म का हिन्दू सामाजिक

नोट

संगठन के स्वरूप को निश्चित करने में भी पर्याप्त योग रहा। आध्यात्मिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक था कि धार्मिक नियमों को कठोरता से लागू किया जाए। इसी कारण सामाजिक व्यवस्था और कार्य करने की रीति में हमें इतनी कट्टरता दिखाई पड़ती है। धर्म के इस कट्टरपन की एक सामाजिक अभिव्यक्ति हिन्दू जाति-प्रथा है। जाति-प्रथा को स्थिर रखने में 'कर्म के सिद्धान्त' का अत्यधिक योग रहा है। जाति-प्रथा में परम्परागत कर्त्तव्यों, विशेषकर धार्मिक संस्कारों या कर्त्तव्यों, को सच्चाई से पूरा करना ही अच्छे व्यवहार का एकमात्र मापदण्ड है। सबको यह विश्वास दिलाया जाता है कि जाति-प्रथा के अन्तर्गत प्रत्येक जाति को जो कर्म या कार्य सौंपा गया है, उसके प्रति निष्ठा रखते हुए अपने कर्मों तथा कर्त्तव्यों को करते रहने से ही व्यक्ति एक उच्चतर जाति में पुनर्जन्म लेकर अपनी आधारभूत धार्मिक स्थिति में सुधार की कोई आशा कर सकता है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि हिन्दू धर्म में इस समाज के आर्थिक तथा सामाजिक संगठन को निश्चित करने में पर्याप्त योग दिया है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि **मैक्स वेबर** के धर्म के समाजशास्त्र की मूल विशेषता धर्म तथा आर्थिक व सामाजिक संगठन के बीच सम्बन्ध का सिद्धान्त है। जैसा कि **वेबर** ने बार-बार कहा है कि विचार नहीं, बल्कि धार्मिक स्वार्थ कर्म को प्रेरित करते हैं और ये कर्म आर्थिक व सामाजिक संगठन को निश्चित करते हैं। धर्म के समाजशास्त्र का यही मूल तत्व है।

5.5 सारांश (Summary)

- सोरोकिन "जनसंख्या कारक का तात्पर्य जनसंख्या के आकार तथा घनत्व में वृद्धि तथा ह्रास से है।"
- आर्थिक कारकों के अंतर्गत उपभोग, उत्पत्ति, विनिमय वितरण तथा आर्थिक नीति को सम्मिलित किया जाता है।
- यदि समाज में अधिकांश व्यक्तियों का जीवन-स्तर उच्च है और व्यक्तियों की आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति आसानी से हो जाती है तो ऐसे समाज में सन्तानोत्पत्ति व जन्म-दर बढ़ जाती है क्योंकि सन्तानों का पालन-पोषण करना सरल हो जाता है।

5.6 शब्दकोष (Keywords)

1. **आप्रवास (Immigration)**—विदेशों से अपने देश में जनसंख्या का आगमन।
2. **उत्प्रवास (Emigration)**—अपने देश से विदेशों में जनसंख्या का निष्क्रमण।

5.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. सामाजिक परिवर्तन के जनसंख्यात्मक कारक का विवेचन करें।
2. सामाजिक परिवर्तन के आर्थिक कारक का विवेचन करें।
3. धर्म किस प्रकार सामाजिक परिवर्तन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं?

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. वृद्धि
2. जनसंख्या
3. उत्प्रवास।

5.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें 1. विकास का समाजशास्त्र – *कैलाश प्यास, पेनक्राफ्ट इन्टरनेशनल।*

2. विकास का समाजशास्त्र – *राव राममेहर सिंह, अर्जुन पब्लिकेशन।*

नोट

इकाई–6: सामाजिक परिवर्तन के कारक : जैव-प्रौद्योगिकी, सूचना-प्रौद्योगिकी एवं मीडिया (Factors of Social Change : Bio-tech, Info-tech and Media)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

6.1 विषय-वस्तु (Subject Matter)

6.2 तकनीकी (प्रौद्योगिकी) एवं सामाजिक परिवर्तन (Technology and Social Change)

6.3 तकनीकी (प्रौद्योगिकी) के प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव (Direct and Indirect Effects of Technology)

6.4 सारांश (Summary)

6.5 शब्दकोश (Keywords)

6.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

6.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- सामाजिक परिवर्तन लाने में प्रौद्योगिकी कारक की भूमिका।
- सामाजिक परिवर्तन लाने में सूचना तकनीक तथा संचार साधनों की भूमिका।

प्रस्तावना (Introduction)

आज के युग में प्रौद्योगिकी सामाजिक परिवर्तन का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारक है। यदि यह कहा जाय कि पिछले करीब पांच सौ वर्षों में जितने परिवर्तन हुए हैं, उनके पीछे सबसे प्रमुख कारक प्रौद्योगिकी (Technology) है तो इसमें किसी प्रकार की कोई अतिशयोक्ति नहीं है। यह वास्तविकता है विज्ञान के क्षेत्र में होने वाली प्रगति ने अनेक आविष्कारों को जन्म दिया है। आविष्कारों से यन्त्रीकरण (Mechanisation) बढ़ा है और यन्त्रीकरण के फलस्वरूप उत्पादन की प्रणाली में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं। जैसे ही उत्पादन की प्रणाली बदलती है, उसके साथ-ही-साथ सामाजिक सम्बन्धों, प्रस्थितियों और भूमिकाओं, सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक संरचना में बदलाव आता है। यही तो सामाजिक परिवर्तन है। रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा, यातायात और संचार के नवीन साधनों तथा बिजली, पहिये, अणुशक्ति, आदि के आविष्कार ने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाने में योग दिया है।

नोट

6.1 विषय-वस्तु (Subject Matter)

सामाजिक परिवर्तन में प्रौद्योगिकीय कारकों की भूमिका को सविस्तार समझने के लिए वहां सर्वप्रथम प्रौद्योगिकी के अर्थ को जान लेना आवश्यक है।

तकनीकी (प्रौद्योगिकी) क्या है? (What is Technology?)

प्रौद्योगिक के अन्तर्गत उन प्रविधियों को लिया जाता है जो हमें भौतिक लक्ष्यों को प्राप्त करने में सहायता प्रदान करती हैं। प्रविधि में विभिन्न प्रकार के उपकरण तथा मानवीय ज्ञान आता है। प्रौद्योगिकी का तात्पर्य आधुनिक युग में तीव्र गति से होने वाले यन्त्रीकरण से नहीं है। प्रौद्योगिकी तो प्रत्येक युग और समाज में रही है। चाहे कोई समाज सरल हो या जटिल, चाहे वह सभ्य समाज हो या असभ्य, चाहे वह परम्परागत समाज हो या आधुनिक, प्रत्येक की अपनी एक प्रौद्योगिकी होती है जो लोगों की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति में योग देती है।

कार्ल मार्क्स ने प्रौद्योगिकी का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है, "प्रौद्योगिकी प्रकृति के साथ मनुष्य के व्यवहार करने के ढंग एवं उत्पादन की उस प्रक्रिया को बतलाती है जिसके द्वारा मनुष्य जीवित रहता है तथा अपने सामाजिक सम्बन्धों और मानसिक धारणाओं के स्वरूप को निर्धारित करता है।" इस परिभाषा से ज्ञात होता है कि प्रौद्योगिकी एक प्रविधि है जो मनुष्य की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति में योग देती है और इसी के आधार पर सामाजिक सम्बन्धों का स्वरूप निश्चित होता है।

लेपियर के अनुसार, "प्रौद्योगिकी का अर्थ उन विधियों, ज्ञानों तथा दक्षताओं से है जिनकी सहायता से मनुष्य भौतिक और जैविकीय तथ्यों को नियन्त्रित करता और उपयोग में लाता है।" इस परिभाषा से पता चलता है कि प्रौद्योगिकी की सहायता से भौतिक और जैविकीय तथ्यों को नियन्त्रित किया जाता है और आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती है। अन्य शब्दों में, प्रौद्योगिकी वह प्रविधि है जो मानवीय उद्देश्य की पूर्ति में योग देती है। **ऑगबर्न** ने लिखा है कि प्रौद्योगिकी का तात्पर्य किसी भी प्रविधि से है। इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के उपकरण एवं ज्ञान की शाखाएं आती हैं जिनके आधार पर निर्माण-कला विकसित होती है। प्रौद्योगिकी का सम्बन्ध भौतिक संस्कृति और औद्योगिक कलाओं से है।

6.2 तकनीकी (प्रौद्योगिकी) एवं सामाजिक परिवर्तन (Technology and Social Change)

प्रौद्योगिक या प्रौद्योगिकीय कारक और सामाजिक परिवर्तन के बीच गहरा सम्बन्ध पाया जाता है। वर्तमान में विभिन्न समाजों में तेजी से होने वाले परिवर्तनों का मूल कारण नवीन प्रविधियों, नवीन आविष्कारों तथा उत्पादन के नये तरीकों का विकास है। स्वयं **मैकाइवर** और **पेज** ने कहा है कि हमारे युग की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना पूंजीवाद नहीं है बल्कि यन्त्रीकरण (Mechanisation) है, जिसका आधुनिक पूंजीवाद केवल एक उपफल या गौण उत्पादन है। अब हमें अनुभव हो रहा है कि इस यन्त्रीकरण ने हमारे जीवन के तरीकों और यहां तक कि विचारों तक को भी काफी कुछ बदल दिया है। आज नवीन प्रौद्योगिकी ने सामाजिक सम्बन्धों, प्रस्थितियों और भूमिकाओं तथा समग्र रूप में सामाजिक संरचना को बदलने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

नोट्स यहाँ हम प्रौद्योगिकीय कारकों और सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध पर विचार करेंगे तथा यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि प्रौद्योगिकीय कारक किस प्रकार जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में परिवर्तन लाने में योग देते हैं।

(1) **यन्त्रीकरण एवं सामाजिक परिवर्तन**–आज के विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के इस युग में आविष्कारों व खोजों का विशेष महत्व है। वर्तमान में प्रेस, पहिया, भाप इंजन, जहाज, मोटर कार, वायुयान, ट्रैक्टर, टेलीफोन, रेडियो,

नोट

टेलीविजन, बिजली, टाइपराइटर, कम्प्यूटर, गनपाउडर, अणु बम, आदि के आविष्कार ने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में आमूल परिवर्तन ला दिये हैं। **मैकाइवर** का कहना है कि **भाप के इंजन के आविष्कार ने मानव के सामाजिक व राजनीतिक जीवन को इतना प्रभावित किया है जितनी स्वयं उसके आविष्कारक ने भी कल्पना नहीं की होगी।** ऑगबर्न ने रेडियो के आविष्कार के कारण उत्पन्न 150 परिवर्तनों का उल्लेख किया है **स्पाइसर** (Spicer) ने अनेक ऐसे अध्ययनों का उल्लेख किया है जिनसे यह पता चलता है कि छोटे यन्त्रों के प्रयोग से ही मानवीय सम्बन्धों में विस्तृत एवं अनपेक्षित परिवर्तन हुए हैं। कार में स्वचालित यन्त्र (Self-Starter) के लग जाने से ही कई सामाजिक परिवर्तन हुए हैं। इससे स्त्रियों की स्वतन्त्रता बढ़ी, अब उनके लिए कार चलाना आसान हो गया, वे क्लब जाने लगीं, उनकी गतिशीलता में वृद्धि हुई और इसका प्रभाव उनके पारिवारिक जीवन पर भी पड़ा। भारत में नये कारखानों के खुलने और मशीनों की सहायता से उत्पादन होने से लोगों को विभिन्न स्थानों पर काम करने हेतु जाना पड़ा, विभिन्न जातियों के लोगों को साथ-साथ काम करना पड़ा। इससे जाति-प्रथा एवं संयुक्त परिवार प्रणाली का विघटन हुआ, छुआछूत कम हुई, वर्ग-व्यवस्था पनपी तथा स्त्रियों की स्वतन्त्रता में वृद्धि हुई। **ममफोर्ड** ने आधुनिक युग के निर्माण में यन्त्रीकरण को महत्त्वपूर्ण माना है। यन्त्रीकरण ने मानव की जीवन-विधि एवं विचार-पद्धति को ही बदल दिया है। आधुनिक पूंजीवादी व्यवस्था तथा औद्योगीकरण व नगरीकरण के लिए प्रौद्योगिकी ही उत्तरदायी है। औद्योगीकरण एवं पूंजीवादी व्यवस्था के कारण ग्रामीण समुदायों में परिवर्तन हुआ, नगरों में घनी एवं गन्दी बस्तियों का विस्तार हुआ तथा जीवन यन्त्रवत् हो गया। सामाजिक सम्बन्धों में औपचारिकता पनपी, अपराधों में वृद्धि हुई, श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण बढ़ा। श्रम-समस्याएं एवं संघर्ष बढ़े, दुर्घटनाओं तथा बीमारियों में वृद्धि हुई तथा जीवन के प्रति भौतिक दृष्टिकोण पनपा।

यन्त्रीकरण के परिणामस्वरूप अनेक सामाजिक परिवर्तन हुए हैं। मनुष्य ने मशीनों के साथ अनुकूलन करने का प्रयत्न किया है और इस प्रयत्न के फलस्वरूप जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कई प्रकार के परिवर्तन आये हैं। सभी प्रकार के कामों में विशेषीकरण बढ़ा है, काम करने का समय निश्चित हुआ है, जीवन के सामान्य सुख में वृद्धि हुई है, रहन-सहन का स्तर ऊंचा उठा है, प्रतिस्पर्द्धा बढ़ी है, पुराने ढंग से काम करने एवं उत्पादन करने के तरीकों का महत्व घटा है, पुराने ढंग की कारीगरी के स्थान पर नयी कारीगरी या शिल्प का विकास हुआ है। साथ ही जटिल प्रकार के आर्थिक सम्बन्ध बने और राजनीतिक नियन्त्रण बढ़ा है। इन सब परिवर्तनों के अतिरिक्त अनेक नवीन वर्गों का उदय हुआ है, जनरीतियों, प्रथाओं एवं पड़ोस का महत्व घटा है। संयुक्त परिवार और जाति का अब उतना महत्त्व नहीं रहा है जितना कुछ समय पहले तक था। वर्तमान में यन्त्रीकरण के कारण समान व्यवसाय में लगे लोगों को संगठित होने का अवसर मिला है, अनेक संघ और समितियां बनी हैं जिनके माध्यम से लोग अपने हितों की सुरक्षा चाहते हैं। लोगों में धन या शक्ति प्राप्त करने की होड़ लगी है। पूंजीवाद का प्रसार हुआ है। नगरीय जीवन के तौर-तरीकों का ग्रामीण जीवन पर प्रभाव एवं प्रभुत्व बढ़ा है।

(2) **यन्त्रीकरण तथा सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन**–यन्त्रीकरण ने सामाजिक मूल्यों को परिवर्तित करने में योग दिया है। सामाजिक मूल्यों का हमारे जीवन में विशेष महत्व होता है और हम अपने व्यवहार को उन्हीं के अनुरूप ढालने का प्रयत्न करते हैं। वर्तमान में व्यक्तिगत सम्पत्ति एवं शक्ति का महत्व बढ़ा है एवं सामूहिकता के मूल्य कमजोर पड़े हैं। अब धन और राजनीतिक शक्ति के बढ़ते हुए प्रभाव एवं महत्व के कारण उन लोगों को समाज में ज्यादा सम्मान या प्रतिष्ठा दी जाती है जो धनी हैं, बड़े व्यापारी या उद्योगपति हैं, राजनेता या प्रशासक हैं। अब चारित्रिक गुणों को पहले जितना महत्व नहीं दिया जाता है। अब सुशिक्षित गुणी, चरित्रवान और समाज-सेवा तथा धार्मिक कार्यों में लगे लोगों का उतना महत्व नहीं रहा जितना उन व्यक्तियों का जो काफी धन कमा लेते हैं या किसी भी प्रकार से सत्ता में आ जाते हैं। यन्त्रीकरण ने प्रदत्त के बजाय अर्जित गुणों के महत्व को बढ़ाने में योग दिया है। यन्त्रीकरण ने विभिन्न व्यक्तियों और समूहों की पारस्परिक निर्भरता को कम करके व्यक्तिवादिता और संकुचित दृष्टिकोण को पनपने में मदद दी है। अब व्यक्ति दूसरों की उतनी चिन्ता नहीं करता जितनी स्वयं की करता है। वह न तो परम्परावादी ही रहा है और न ही प्रगतिशील बल्कि अवसरवादी बन गया है जो किसी-न-किसी प्रकार अपनी स्वार्थ-सिद्धि को ही अपने जीवन का परम धर्म मान बैठा है। इस प्रकार यन्त्रीकरण ने सामाजिक मूल्यों को बदलकर सामाजिक परिवर्तन के लिए मार्ग तैयार किया है।

नोट

(3) **संचार के उन्नत साधन एवं सामाजिक परिवर्तन**–संचार जो कि एक प्रभावशाली प्रौद्योगिकीय कारक है, के नवीन उन्नत साधनों के विकास ने अनेक जटिल सामाजिक परिवर्तनों को जन्म दिया है। संचार की अनेक प्रविधियाँ हैं जिनमें से तार, टेलीफोन, मोबाइल, फेक्स, ई-मेल, रेडियो, टेलीविजन, आदि प्रमुख हैं। संचार ही तो सामाजिक सम्बन्धों का आधार है। जब तक व्यक्तियों के बीच संचार नहीं होगा, सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना सम्भव नहीं है। सिनेमा या चलचित्रों ने लोगों के विचारों, विश्वासों एवं मनोवृत्तियों को बदलने में काफी योग दिया है। साथ ही इसने पारिवारिक, सामाजिक एवं जातिगत सम्बन्धों को भी प्रभावित किया है। अब रेडियो की सहायता से कोई भी बात, सूचना या विचार कुछ ही क्षणों में लाखों-करोड़ों व्यक्तियों तक पहुंचाये जा सकते हैं। रेडियो मनोरंजन का स्वस्थ साधन भी है। रेडियो और टेलीविजन ने परिवार के सदस्यों को साथ बैठकर अवकाश का समय बिताने को प्रेरित किया है। इससे सदस्यों को अपने मनोरंजन के लिए इधर-उधर भटकना नहीं पड़ता और साथ ही उनके पारिवारिक सम्बन्धों में दृढ़ता आयी है। संचार के नवीन एवं उन्नत साधनों के विकास ने जीवन को काफी गतिशीलता बना दिया है। अब इन उन्नत साधनों के फलस्वरूप स्थानीय दूरी कम हुई है तथा साथ ही ग्रामीण और नगरीय जीवन का भेद कुछ कम हुआ है। संचार के विभिन्न साधनों के माध्यम से भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक समूह के लोगों को एक-दूसरे को समझने का मौका मिला है जिसके परिणामस्वरूप उनमें सांस्कृतिक दूरी कम हुई है, सात्मीकरण हुआ है। संचार के विकसित साधनों के फलस्वरूप ही बड़े आकार के राजनीतिक दल बनने लगे और प्रजातान्त्रिक विचारों का प्रचार होने लगा है।

(4) **कृषि क्षेत्र में नवीन प्रविधियां एवं सामाजिक परिवर्तन**–कृषि क्षेत्र में नवीन प्रविधियों का प्रयोग एक ऐसा प्रौद्योगिकीय कारक है जिसने जीवन में अनेक परिवर्तन लाने में योग दिया है। पशुओं की नस्ल, उर्वरकों के प्रयोग, बीजों की किस्म तथा श्रम बचाने की मशीनों सम्बन्धी मामलों में सुधार हो जाने से कृषि-उत्पादन में मात्रा एवं गुण दोनों ही दृष्टि से वृद्धि हुई है। सिंचाई के उन्नत साधनों ने भी कृषि-उत्पादन बढ़ाने में काफी योग दिया है। इसका प्रभाव न केवल आर्थिक जीवन पर बल्कि सामाजिक जीवन पर भी पड़ा है। पहले कृषि-कार्यों के ठीक से संचालन के लिए अन्य व्यक्तियों से सहयोग की आवश्यकता पड़ती थी जिससे ग्रामीणों में सामूहिकता का महत्व बना हुआ था। अब श्रम की बचत करने वाली मशीनों के प्रयोग से व्यक्ति को कृषि कार्यों में अन्य व्यक्तियों के सहयोग की आवश्यकता नहीं पड़ती। इससे सामूहिकता की बजाय व्यक्तिवाद का महत्व बढ़ा है। साथ ही मशीनों के प्रयोग से कृषि कार्यों में कम व्यक्तियों की आवश्यकता ने संयुक्त के बजाय नाभिक परिवारों के महत्व को बढ़ाया है। खेतों पर व्यक्तियों की आवश्यकता ने लोगों को काम की तलाश में नगरों की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित किया है। अब कृषि क्षेत्र में अनेक देशों में उत्पादन इतना बढ़ गया है कि उनके सामने नये-नये बाजार खोजने की समस्या उत्पन्न हो गयी। अब नवीन प्रविधियों ने सामाजिक सम्बन्धों लोगों के दृष्टिकोणों और मनोवृत्तियों को काफी कुछ बदल दिया है। अब ग्रामीण क्षेत्रों में सम्बन्धों में घनिष्ठता और आत्मीयता के बजाय औपचारिकता और कृत्रिमता बढ़ती जा रही है। कृषि-उत्पादन के बढ़ने से ग्रामीण क्षेत्रों में लोगों की आय में वृद्धि हुई है और उनके रहन-सहन का स्तर ऊंचा उठा है। इस प्रकार कृषि की नवीन प्रविधियों ने ग्रामीणों के जीवन को अनेक रूपों में प्रभावित किया है।

(5) **उत्पादन प्रणाली और सामाजिक परिवर्तन**–उत्पादन प्रणाली भी एक प्रमुख प्रौद्योगिकीय कारक है जिसने समय-समय पर सामाजिक सम्बन्धों और सामाजिक संरचना को काफी कुछ बदला है। पहले जब मशीनों का आविष्कार नहीं हुआ था तब लोग अपने हाथ से काम करते थे और परिवार ही उत्पादन की इकाई था। ऐसी स्थिति में परिवार के सभी सदस्यों के हित एवं रुचियां समान थीं और सम्बन्धों में घनिष्ठता थी। उस समय छोटे पैमाने पर उत्पादन होने से औद्योगिक समस्याएं नहीं थीं, श्रम समस्याएं नहीं थीं। लोग अपने घरों पर उत्पादित वस्तुओं को अन्य व्यक्तियों को उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं के बदले में देकर अपनी आवश्यकता की पूर्ति करते थे। इसी प्रकार वे अपनी सेवाओं का भी आदान-प्रदान करते थे। इससे ग्रामीण समुदायों में एकता और दृढ़ता बनी हुई थीं, लेकिन अब उत्पादन प्रणाली बदल गयी है। वर्तमान में नगरीय क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर फैक्टरियों में मशीनों की सहायता से उत्पादन होने लगा है। अब हाथ से काम करने का महत्त्व कम हुआ है और मशीनें चलाने वाले प्रशिक्षित व्यक्तियों का महत्त्व बढ़ा है। श्रम-विभाजन और विशेषीकरण अधिक हुआ है। बैंकों और बड़ी-बड़ी व्यापारिक संस्थाओं की स्थापना हुई है। प्रतिस्पर्द्धा और प्रचार का महत्त्व बढ़ा है। विशाल नगरों की स्थापना हुई है और श्रम समस्याएँ और नगरीकरण

नोट

से सम्बन्धित समस्याएं उत्पन्न हुई हैं। मशीनों के इस युग में लोगों का जीवन भी यन्त्रवत् हो गया है और सामाजिक सम्बन्धों में औपचारिकता बढ़ी है। प्राथमिक सम्बन्धों और समूहों के बजाय द्वैतीयक सम्बन्धों और समूहों का महत्त्व बढ़ा है। उत्पादन की नवीन-प्रणाली ने सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और यहां तक कि सांस्कृतिक जीवन तक को भी बहुत कुछ बदल दिया है। इस नयी प्रणाली ने विभिन्न सामाजिक संस्थाओं, विवाह, परिवार एवं जाति, आदि को अनेक रूपों में प्रभावित किया है और सामाजिक परिवर्तन की गति को तेज किया है।

(6) **अणु-शक्ति पर नियन्त्रण एवं सामाजिक पविर्तन** (Control over Atomic Energy and Social Change)–मानव के उद्देश्यों अथवा विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति में अणु-शक्ति का प्रयोग एक युग-प्रवर्तक खोज (Epochmaking discovery) है। आधुनिक विज्ञान की अन्य खोजों के समान अणु-शक्ति का प्रयोग भी रचनात्मक एवं विनाशक दोनों ही प्रकार के कार्यों के लिए किया जा सकता है।

नोट्स **मैकाइवर** और **पेज** ने बताया है कि युद्ध के अभिकर्ता के रूप में वह मानव की सभी रचनाओं या कृतियों की समाप्ति की पूर्व-सूचना देता है। शान्ति के अभिकर्ता के रूप में वह समृद्धि का अभूतपूर्व युग ला सकता है।

जहाँ अणु-शक्ति का प्रयोग मानव की सुख-समृद्ध को बढ़ाने और जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने में किया जा सकता है, वहीं इसका प्रयोग मानव और उसकी कृतियों को नष्ट करने के लिए भी किया जा सकता है। जैसे-जैसे जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अणु-शक्ति का उपयोग बढ़ता जायेगा उसके साथ ही सामाजिक परिवर्तन की गति भी तीव्र होती जायेगी।

टास्क तकनीकी और सामाजिक परिवर्तन क्या है? संक्षिप्त वर्णन करें।

6.3 तकनीकी (प्रौद्योगिकी) के प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव (Direct and Indirect Effects of Technology)

प्रौद्योगिकी या प्रौद्योगिकीय परिवर्तन के परिणामस्वरूप विभिन्न क्षेत्रों में अनेक परिवर्तन आते हैं जिनमें से कुछ इसके प्रत्यक्ष प्रभाव या परिणाम और कुछ अप्रत्यक्ष प्रभाव या परिणाम कहे जा सकते हैं। प्रत्यक्ष प्रभाव वे हैं जो प्रौद्योगिकीय परिवर्तन के परिणामस्वरूप अनिवार्यत: और शीघ्र ही समाज में परिवर्तन लाते हैं। ये परिवर्तन स्पष्टत: मालूम पड़ते हैं। अप्रत्यक्ष प्रभाव वे हैं जो समाज में प्रौद्योगिकीय परिवर्तन के फलस्वरूप अप्रत्यक्ष तरीके से परिवर्तन लाते हैं। ये परिवर्तन प्रौद्योगिकीय परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पन्न परिवर्तनों के माध्यम से आते हैं।

प्रौद्योगिकीय परिवर्तन के प्रत्यक्ष प्रभाव निम्नलिखित हैं–

(1) **श्रम-विभाजन एवं कार्यों का विशेषीकरण**–प्रौद्योगिकीय परिवर्तन के फलस्वरूप अब उत्पादन बड़े पैमाने पर विशालकाय कारखानों में होने लगा। इन कारखानों में अलग-अलग व्यक्तियों में अलग-अलग प्रकार के कार्य बांटे गये क्योंकि विभिन्न कार्यों के ठीक प्रकार से सम्पादन के लिए भिन्न-भिन्न योग्यता और प्रशिक्षण वाले व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। एक ही प्रकार का कार्य लम्बे समय तक करते रहने के कारण व्यक्तियों को उस कार्य से सम्बन्धित विशेष ज्ञान प्राप्त करने में सहायता मिली। इस प्रकार श्रम-विभाजन के साथ-साथ विशेषीकरण भी बढ़ा। अब विभिन्न कार्यों को ठीक से पूरा करने के लिए विशेष प्रशिक्षण की व्यवस्था भी की गयी।

(2) **श्रमिक संगठनों का निर्माण**–उत्पादन के क्षेत्र में नवीन प्रविधियों के काम में लिये जाने के पहले तक सामान्यत: किसी प्रकार की कोई श्रम-समस्याएं नहीं थीं। लोग अपने घरों पर हाथ से काम करते और वस्तुओं का निर्माण करते थे। अब कारखानों में मशीनों की सहायता से काम किया जाने लगा। इसके परिणामस्वरूप कारीगर

नोट

मजदूरों के रूप में बदल गये। अब कार्य के घण्टे, तनख्वाह, कार्य की दशाएं, आदि निश्चित किये गये। मिल मालिक अपने मुनाफे को बढ़ाने के लिए मजदूरों से अधिक काम लेने और कम-से-कम वेतन देने का प्रयत्न करने लगे। परिणामस्वरूप शोषण के विरुद्ध मजदूर संगठित होने लगे और अनेक श्रमिक-संघों के माध्यम से मजदूरों ने मिल मालिकों और सरकार के सम्मुख समय-समय पर अनेक मांगें रखीं जिनके परिणामस्वरूप धीरे-धीरे इनकी आर्थिक स्थिति में सुधार होता गया। इनमें वर्ग चेतना का विकास हुआ जिसके परिणामस्वरूप समाज-व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन तक हुए।

(3) **नगरीकरण**–जब उत्पादन फैक्टरी प्रणाली द्वारा होने लगा तो ग्रामों से बहुत-से लोग कार्य की तलाश में नगरों में आने लगे। अनेक कारणों से कारखानों के नगरीय क्षेत्रों में स्थापित होने से अनेक ग्रामवासी इन कारखानों में काम करने के लिए नगरों में आकर बसने लगे। परिणामस्वरूप नगरों की जनसंख्या तेजी के साथ बढ़ती गयी। जनसंख्या के तीव्र गति से बढ़ने के कारण अनेक नगरीय समस्याएं उत्पन्न हुईं, जैसे, गन्दी बस्तियों की समस्या। नगरों के भीड़-भाड़युक्त वातावरण में व्यक्ति अकेलापन महसूस करने लगा। यहां यह कहा जा सकता है कि औद्योगीकरण के फलस्वरूप नगरीकरण की प्रक्रिया तेज हुई और इन दोनों ने सामाजिक जीवन को अगणित रूपों से प्रभावित कर सामाजिक परिवर्तन लाने में योग दिया है।

(4) **गतिशीलता का बढ़ना**–प्रौद्योगिकीय परिवर्तन ने स्थानीय और सामाजिक दोनों ही प्रकार की गतिशीलता को बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। स्थानीय गतिशीलता का अर्थ एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की प्रवृत्ति का बढ़ना है। सामाजिक गतिशीलता का अर्थ एक सामाजिक स्थिति से दूसरी सामाजिक स्थिति प्राप्त कर लेना है, एक समूह या वर्ग से दूसरे समूह या वर्ग में पहुंच जाना है। वर्तमान में नवीन प्रौद्योगिकी के कारण आवागमन और संचार के साधनों का बड़ी तेजी के साथ विकास हुआ है। लोग विभिन्न स्थानों, समूहों, वर्गों, व्यवसायों, आदि के सम्बन्ध में जानने लगे हैं। वे विभिन्न लोगों और भिन्न-भिन्न संस्कृतियों से परिचित होने लगे हैं। परिणामस्वरूप अपने समूह और संस्कृति को ही सर्वश्रेष्ठ मानने की प्रवृत्ति कम हुई है। अब अपनी योग्यता और साधनों को बढ़ाकर अपनी वर्गीय स्थिति को बदलने के अवसर भी लोगों को मिले हैं। स्पष्ट है कि प्रौद्योगिकी ने गतिशीलता को बढ़ाने में योग दिया है।

(5) **सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन**–प्रौद्योगिकी के परिणामस्वरूप सामाजिक सम्बन्धों का रूप काफी कुछ बदल गया है। अब पारिवारिक, सामाजिक एवं आर्थिक सम्बन्धों की दृष्टि से बहुत कुछ परिवर्तन आये हैं और सम्बन्धों में जटिलता बढ़ी है। पहले व्यक्ति प्रमुखत: अपने परिवार के वयस्कों, कुछ रिश्तेदारों और ग्रामीण समुदाय के कुछ अन्य लोगों से ही सम्बन्धित था, परन्तु अब व्यक्ति के सम्बन्धों का काफी विस्तार हुआ है। अब उसे शिक्षा के लिए स्कूल पर, आजीविका के लिए किसी कारखाने, दफ्तर या व्यापारिक संस्थान पर निर्भर रहना पड़ता है। अपने मनोरंजन के लिए भी वह किसी क्लब, सोसायटी या मण्डल का सदस्य बनता है। आज के विशेषीकरण के इस युग में सभी समितियों या वैकल्पिक समूहों की संख्या काफी बढ़ गयी है और व्यक्ति अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इनमें से कुछ का सदस्य बन जाता है। परिणामस्वरूप उसके सम्बन्धों का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है। वर्तमान में घनिष्ठ, आमने-सामने के और अनौपचारिक सम्बन्धों के बजाय कार्यात्मक, अप्रत्यक्ष तथा औपचारिक सम्बन्ध अधिक बनते जा रहे हैं।

(6) **ग्रामीण क्षेत्रों में नगरीय विशेषताओं का फैलाव**–अधिकांशत: मानव दो प्रकार के समुदायों में निवास करता है, या तो नगरीय समुदायों में या ग्रामीण समुदायों में। ये दोनों ही प्रकार के समुदाय सामाजिक जीवन के दो भिन्न-भिन्न रूप प्रस्तुत करते हैं। आज प्रौद्योगिकी के कारण नगरीय क्षेत्रों में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया तीव्र है। इसका प्रभाव ग्रामीण क्षेत्रों और जीवन पर भी पड़ता है। वर्तमान में बहुत-से मजदूर काम करने ग्रामों से नगरों में आते हैं जहां नवीन पर्यावरण से अनुकूलन करने के प्रयत्न-स्वरूप उनके विश्वासों, मूल्यों, आदतों एवं आचरणों में काफी परिवर्तन आता है। वे इन नवीनताओं को ग्रामीण क्षेत्रों में पहुंचाते हैं। यातायात और संचार के साधनों के बढ़ने से नगरीय विशेषताओं का ग्रामों में प्रचार और प्रसार होता जा रहा है। अब ग्रामों के लोग भी उन भौतिक उपकरणों का प्रयोग करने लगे हैं जो जीवन की सुख-सुविधाओं को बढ़ाने में योग देते हैं, जैसे, बिजली, पंखा, हीटर,

नोट

रेडियो, ट्रांजिस्टर, टेपरिकार्डर, टेलीविजन आदि का। स्पष्ट है कि ग्रामीण और नगरीय जीवन का अन्तर धीरे-धीरे कम होता जा रहा है।

प्रौद्योगिक परिवर्तन के अप्रत्यक्ष प्रभाव इस प्रकार हैं–

(1) **प्रतिस्पर्द्धा का बढ़ना–**नवीन प्रौद्योगिकी ने जहां श्रम-विभाजन और विशेषीकरण बढ़ाया है वहां साथ ही प्रतिस्पर्द्धा में भी अभूतपूर्व वृद्धि की है। आज के औद्योगिकरण के इस युग में प्रतिस्पर्द्धा का महत्व सर्वत्र बढ़ा है। आज शिक्षा, नौकरियों और व्यापार के विभिन्न क्षेत्रों में प्रतिस्पर्द्धा दिखायी पड़ती है। एक उद्योगपति और दूसरे उद्योगपति में आज गला-काट प्रतिस्पर्द्धा (Cut-Throat Competition) पायी जाती है। प्रतिस्पर्द्धा के बढ़ने से जहां अनेक लाभ हैं वहां इसके कुछ दुष्परिणाम भी हैं। इसके परिणामस्वरूप कई बार उत्पादन आवश्यकता से अधिक हो जाता है, व्यापार में बाधा पड़ती है और लोग आर्थिक अपराध तक करने लगते हैं। बढ़ती हुई प्रतिस्पर्द्धा ने आर्थिक सम्बन्धों के साथ-साथ सामाजिक सम्बन्धों के क्षेत्र को अन्तर्राष्ट्रीय बना दिया है। बढ़ती हुई प्रतिस्पर्द्धा ने सामूहिक महत्व को कम करने और व्यक्तिवादिता को बढ़ाने में योग दिया है।

(2) **विभिन्न वर्गों का उदय–**प्रौद्योगिकी ने नवीन आर्थिक वर्गों के निर्माण द्वारा सामाजिक संरचना को बदलने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। नवीन प्रौद्योगिकी ने कुछ साधन-सम्पन्न लोगों को बड़े-बड़े कारखानों का मालिक बनाकर अधिक धन कमाने और पूंजीपति बनने के अवसर प्रदान किये हैं। दूसरी ओर इसी प्रौद्योगिकी ने लाखों-करोड़ों लोगों को इन्हीं कारखानों में मजदूरों के रूप में कार्य करने को बाध्य किया है। परिणामस्वरूप पूंजीपति और मजदूर वर्गों का निर्माण हुआ। साथ ही इन दोनों के मध्य एक और वर्ग का उदय हुआ है जिसे मध्यम वर्ग कहा जाता है जिसकी आय के स्रोत श्रमिक वर्ग से कुछ अधिक हैं और जो व्यापार, व्यवसाय, पेशों और विभिन्न नौकरियों में लगे हुए हैं। इस वर्ग के लोगों की सामाजिक प्रतिष्ठा श्रमिक वर्ग से ऊंची होती है। नवीन प्रौद्योगिकी ने भारतीय समाज में जाति-व्यवस्था के प्रभाव को कम करने और वर्गों के महत्व को बढ़ाने में योग दिया है।

(3) **बेकारी का बढ़ना–**नवीन प्रौद्योगिकी के अन्तर्गत श्रम की बचत करने वाली मशीनों का आविष्कार हुआ है। एक मशीन कुछ ही घण्टों में इतना काम कर सकती है, जितना एक व्यक्ति महीनों तक काम करके भी नहीं करता। परिणामस्वरूप नवीन प्रौद्योगिकी ने कुटीर उद्योग-धन्धों को चौपट कर बेकारी को बढ़ाने में योग दिया है, बेकारी अपने आप में एक ऐसी आर्थिक और सामाजिक समस्या है जो व्यक्ति और परिवार के जीवन को विघटित कर देती है। जब समाज में विघटित व्यक्तियों और परिवारों की संख्या बढ़ती है तो इसका प्रभाव सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था पर पड़ता है और समाज का जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है, लेकिन हमें यहां इतना अवश्य ध्यान रखना है कि नवीन प्रौद्योगिकी सदैव ही बेकारी को बढ़ाने में योग नहीं देती।

(4) **पारिवारिक जीवन में परिवर्तन–**प्रौद्योगिकीय परिवर्तन ने विवाह और परिवार के क्षेत्र में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों का सूत्रपात किया है। नवीन प्रौद्योगिकी ने व्यक्तिवादिता को बढ़ाया है और सामूहिकता के महत्व को कम किया है। अब व्यक्ति स्वयं के स्वार्थ के दृष्टिकोण से अधिक सोचने लगा है। साथ ही लोग ग्रामों में अपने संयुक्त परिवार को छोड़कर नगरों में आकर बसने लगे हैं। वहां मकानों की कमी तथा व्यक्तिवादी और स्वार्थी मनोवृत्ति ने उन्हें नाभिक परिवारों में रहने के लिए प्रेरित किया है। परिवारों का आकार भी पहले से कुछ छोटा हुआ है। परिवार नियोजन की नवीन प्रविधियों ने परिवार के आकार को छोटा करने में योग दिया है। वर्तमान में परिवार के बहुत-से कार्य परिवार से छिनकर अन्य समितियों में चले गये हैं। नवीन प्रौद्योगिकी ने स्त्रियों के कार्यों का हल्का किया है। अब वे प्रेशर-कुकर, गैस, बिजली और अनेक श्रम-बचत उपकरणों को काम में लेकर अपने समय को बचाने लगी हैं। स्त्री-शिक्षा और रोजगार के अवसर भी बढ़े हैं। अब वे फैक्टरियों, दफ्तरों, स्कूलों और विभिन्न व्यवसायों में पुरुषों के समान काम करने और आर्थिक रूप से स्वतन्त्र होने लगी हैं। वे अब अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हैं। इस सारी स्थिति ने स्त्रियों की सामाजिक स्थिति को सुधारने में योग दिया है। प्रौद्योगिकीय परिवर्तनों का प्रभाव विवाह संस्था पर भी पड़ा है। अब प्रेम-विवाह, विलम्ब-विवाह, अन्तर्जातीय विवाह भी होने लगे हैं। इसके अलावा, नवीन प्रौद्योगिकी ने पारिवारिक सम्बन्धों में परिवर्तन लाकर तनाव और विवाह-विच्छेदों की संख्या बढ़ाने में योग दिया है।

नोट

(5) **सामाजिक जीवन में परिवर्तन**—नवीन प्रौद्योगिकी ने व्यक्ति के मूल्यों, विश्वासों, आदर्शों, आदि को परिवर्तित कर उसे जीवन के प्रति नवीन दृष्टिकोण अपनाने के लिए बाध्य किया है। अब व्यक्ति सामुदायिक के बजाय व्यक्तिवादी जीवन में अधिक रुचि लेने लगा है।

क्या आप जानते हैं नगरों में बसने वाले बहुत-से व्यक्तियों को अपने स्त्री-बच्चों को गांव में ही छोड़कर नगरों में गन्दी बस्तियों में अकेले रहने को विवश होना पड़ता है। यह स्थिति कई बार यौन-अनैतिकता पनपने में योग देती है। ऐसे लोगों में मद्यपान, वैश्यावृत्ति और जुआखोरी की आदत भी पनप जाती है।

नवीन प्रौद्योगिकी ने जाति-व्यवस्था पर आधारित परम्परागत स्थिर भारतीय समाज को आधुनिकीकरण की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित किया है। अब लोग जाति-पांति की अधिक चिन्ता नहीं करते। स्पष्ट है कि प्रौद्योगिकी ने स्थिर समाज को गतिशील समाज में परम्परागत समाज को आधुनिक समाज में बदलने में योग दिया है।

(6) **धार्मिक जीवन में परिवर्तन**—नवीन प्रौद्योगिकी ने ज्ञान-विज्ञान, तर्क और विवेक के महत्व को बढ़ाकर धर्म के रूढ़िवादी पक्ष को कमजोर करने में योग दिया है। अब आज का व्यक्ति धार्मिक अन्धविश्वासों को अधिक महत्त्व नहीं देता है। आज धर्म के उदारतावादी और मानवतावादी पक्ष पर अधिक जोर दिया जाने लगा है। अब व्यक्ति धार्मिक कर्मकाण्डों में उतना विश्वास नहीं करता जितना पहले करता था। नवीन प्रौद्योगिकी ने विभिन्न धर्मों के लोगों को एक-दूसरे के सम्पर्क में आने का अवसर दिया है। परिणामस्वरूप लोगों की विभिन्न धर्मों में रुचि बढ़ी है। आज धर्म के क्षेत्र में संकीर्णताएं कुछ कम हुई हैं और सहिष्णुता बढ़ी है।

स्पष्ट है कि प्रौद्योगिक कारकों ने सामाजिक परिवर्तन लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)—

1. प्रत्यक्ष प्रभाव वे हैं जो ..... परिवर्तन के अनिवार्यत: और शीघ्र ही समाज में परिवर्तन लाते हैं।
2. अप्रत्यक्ष प्रभाव वे हैं जो समाज में प्रौद्योगिकी ..... के फलस्वरूप अप्रत्यक्ष तरीके से परिवर्तन लाते हैं।
3. ..... के फलस्वरूप अब उत्पादन बड़े पैमाने पर विशालकाय कारखानों में होने लगा है।

6.4 सारांश (Summary)

- प्रौद्योगिकी के अंतर्गत उन प्रविधियों को लिया जाता है जो हमें भौतिक लक्ष्य प्राप्त करने में सहायता प्रदान करती हैं।
- संचार की अनेक प्रविधियाँ हैं जिनमें से तार, टेलिफोन, मोबाइल, फैक्स, टेलिविजन आदि प्रमुख हैं।
- कृषि क्षेत्र में नवीन प्रविधियों ने ग्रामीण जीवन को अनेक प्रकार से प्रभावित किया है।

6.5 शब्दकोश (Keywords)

1. **नगरीय (Urban)**—नगर निवास की विशिष्ट जीवन शैली का पूँजी।
2. **नगरीकरण (Urbanisation)**—नगरवाद के लक्षणों (विचारों एवं व्यवहार के रूप) के विकास एवं प्रसार की प्रक्रिया।
3. **यन्त्रीकरण (Mechanisation)**—स्वयं मैकाइवर और पेज ने कहा है कि हमारे युग की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना पूँजीवाद नहीं है बल्कि यन्त्रीकरण है।

नोट

6.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. प्रौद्योगिकी सामाजिक परिवर्तन लाने में किस तरह भूमिका निभाता है?
2. संचार के साधन समाज में परिवर्तन किस प्रकार लाते हैं?
3. नवीन प्रविधियों ने ग्रामीण जीवन को किस प्रकार प्रभावित किया है?

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. प्रौद्योगिकीय
2. परिवर्तन
3. प्रौद्योगिकीय परिवर्तन।

6.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. सैद्धांतिक समाजशास्त्र – *वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा।*
2. विकास का समाजशास्त्र – *एम. अहमद, न्यू एज इन्टरनेशनल।*

नोट

इकाई–7: समकालीन भारत में सामाजिक परिवर्तन (Social Change in Contemporary India)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
7.1 विषय-वस्तु (Subject Matter)
7.2 सारांश (Summary)
7.3 शब्दकोश (Keywords)
7.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
7.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- भारत में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को समझना।
- समकालीन भारतीय समाज का विकास स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद।

प्रस्तावना (Introduction)

आज भारतीय समाज का जो रूप सामने आ रहा है, वह पिछले कालों में होने वाले सांस्कृतिक आदान-प्रदान एवं स्वतंत्रता के बाद भारत में उत्पन्न होने वाली नवीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों के सम्मिलित योगदान से बना है।

7.1 विषय-वस्तु (Subject Matter)

समकालीन भारत में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया का इतिहास अंग्रेजों के आगमन से स्वतंत्रता प्राप्ति तक एवं स्वातन्त्रयोत्तर कालों में विभाजित करके निम्न रूपों में विश्लेषित किया जा सकता है–

1. नगरीकरण (Urbanisation)

भारत में दिन-प्रतिदिन ग्रामीण जनसंख्या नगरों की ओर तेजी से निष्क्रमण करती जा रही है। अनेक ग्राम भी कस्बों और नगरों में परिवर्तित हो रहे हैं। ग्रामीण कृषि कार्यों को छोड़कर अकृषि कार्यों को अपना रहे हैं। यातायात एवं संचार के साधनों–रेलों, बसों, ट्रेक्टरों, दूरदर्शन, आकाशवाणी आदि के प्रभाव से ग्राम और नगरों की जनसंख्या का

नोट

परस्पर सम्पर्क एवं आवागमन बहुत अधिक बढ़ गया है। इससे भारत के नगरीय समाज की विशेषतायें ग्रामों में पहुँच रही हैं। ग्राम और नगर की मूलभूत सामाजिक, सांस्कृतिक आदि विशेषताओं में अन्तर तीव्र गति से कम होता जा रहा है। ग्रामों में खेती परम्परागत साधनों के स्थान पर आधुनिक उपकरणों, जैसे–बिजली की मोटर, ट्रैक्टर, उन्नत खाद–बीज आदि से हो रही है।

नोट्स शिक्षित ग्रामीणों में नगरीकरण का प्रभाव अधिक देखने को मिलता है। आधुनिक व्यवसाय, नगरीय खान–पान, वेश–भूषा, जीवन के तरीकों का प्रभाव ग्रामवासियों पर बहुत पड़ता जा रहा है। ग्रामवासियों की सोच, दर्शन, धर्म, राजनैतिक गतिविधियाँ, आर्थिकी आदि में नगरीकरण का प्रभाव देखा जा सकता है।

2. औद्योगीकरण (Industrialisation)

भारत में वस्तुओं का उत्पादन हस्त–उपकरणों के स्थान पर निर्जीव शक्तियों द्वारा संचालित कल–कारखानों एवं मशीनों के द्वारा काफी समय से किया जाने लगा है। यातायात, संचार, परिवहन, खेती एवं कारखानों आदि में शक्ति द्वारा संचालित मशीनों का प्रयोग निरन्तर बढ़ता जा रहा है। भारत में उत्पादन के क्षेत्र में औद्योगीकरण तेजी से हो रहा है। ऊर्जा के नये–नये स्रोतों का जो आविष्कार और प्रयोग हो रहे हैं, उनका अनुकरण भारत में भी तेजी से हो रहा है। इससे मानव श्रम की बचत के साथ–साथ उत्पादन में गुणवत्ता में बहुत अधिक वृद्धि देखी जा सकती है। भारत में औद्योगीकरण से व्यावसायिक शिक्षा का विकास, लोगों के जीवन के तरीकों में परिवर्तन, ज्ञान के स्तर का ऊँचा होना, आर्थिक सम्पन्नता में प्रगति आदि हुई है।

क्या आप जानते हैं भारत के अनेक औद्योगिक क्षेत्रों–फरीदाबाद, बिहार, कानपुर, जमशेदपुर, राँची आदि में औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप अन्धविश्वासों, रूढ़ियों, परम्पराओं, धार्मिक कर्म–काण्डों आदि में परिवर्तन आया है।

साथ ही औद्योगीकरण ने अनेक सामाजिक समस्याओं, जैसे–जनसंख्या में वृद्धि, शराबखोरी, भ्रष्टाचार, वेश्यावृत्ति, अपराध एवं बाल–अपराध, असमानता, मादक पदार्थों का दुरुपयोग, श्रमिक असन्तोष आदि में भी वृद्धि की है। औद्योगीकरण से भारत में संगठनात्मक एवं विघटनात्मक परिवर्तनों की प्रक्रिया को देखा जा सकता है।

3. पश्चिमीकरण (Westernisation)

अंग्रेजों के भारत में आने और शासन करने के बाद से ऊँची जाति के हिन्दुओं ने पाश्चात्य जीवन–शैली, खान–पान, रहन–सहन, शिक्षा, विचारों एवं सांस्कृतिक मूल्यों को ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया, जिसे एम. एन. श्रीनिवास ने पश्चिमीकरण कहा है। अंग्रेजों के भारत छोड़ देने के बाद भी भारतवासी पश्चिम के देशों–इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी आदि की संस्कृतियों का अनुकरण करते रहे हैं। इन पश्चिमी सांस्कृतिक अनुकरण या पश्चिमीकरण के कारण भारतीय समाज में अनेकानेक परिवर्तन आ रहे हैं। वर्तमान में अमेरिका की संस्कृति के अनुकरण के कारण कपड़ों, यन्त्रों, पश्चिमी सम्प्रत्ययों, सिद्धान्तों, विचारधाराओं, दर्शन आदि में उल्लेखनीय परिवर्तन हुये हैं और आगे होंगे। भारत में पश्चिमीकरण के कारण शिक्षा, साहित्य, दर्शन, प्रशासन, राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्थाएँ प्रभावित हो रही हैं।

टास्क पश्चिमीकरण का विस्तारपूर्वक वर्णन करें।

नोट

4. सामाजिक गतिशीलता (Social Mobility)

भारतीय समाज में पश्चिमीकरण के द्वारा ब्राह्मणों ने जाति संरचना में अपने उच्चतम स्थान एवं शिक्षा का लाभ उठाकर पाश्चात्य संस्कृति का अनुकरण किया। इनके द्वारा रिक्त स्थान को प्राप्त करने के लिये या इनकी तरह से समाज में ऊँचा स्थान प्राप्त करने के लिये निम्न जातियों ने प्रयास किये, जिसके परिणामस्वरूप भारत में सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया का शुभारम्भ हुआ। परम्परागत जाति-व्यवस्था बन्द व्यवस्था थी। व्यक्ति की समाज में सदस्यता, व्यवसाय, विवाह, खान-पान, समाज में खण्डात्मक स्थिति सब प्रतिबन्धित थी। परन्तु पश्चिमीकरण, नगरीकरण, औद्योगीकरण स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद राजनीतिकरण, लौकिकीकरण, उच्च शिक्षा आदि के प्रभाव से भारतीय समाज में सामाजिक गतिशीलता में निरन्तर तेजी चली गई, जिसके परिणामस्वरूप निम्न जातियों ने समाज में उच्च स्थान प्राप्त करने के लिये प्रयास किये और उसमें उन्हें सफलता भी मिली। विभिन्न क्षेत्रों में व्यक्ति और समूह (उप-जातियों) एक सामाजिक श्रेणी या खण्ड से दूसरी सामाजिक श्रेणी या खण्ड में आने-जाने लगे। नगरीकरण, अन्तर्जातीय विवाहों, उच्च शिक्षा, सरकार द्वारा प्रदत्त आरक्षण की सुविधा के द्वारा निम्न जातियाँ, जनजातियाँ एवं पिछड़े वर्ग निम्न सामाजिक प्रस्थिति से उठकर मध्यम सामाजिक वर्ग, जाति या श्रेणियों में ऊपर की ओर प्रगति कर रहे हैं। कुछ व्यक्ति एवं समूह उच्च सामाजिक वर्ग की सदस्यता प्राप्त करने में भी सफल हुये हैं। इस सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया के द्वारा भारतीय समाज में अनेकानेक परिवर्तन हो रहे हैं।

5. हिन्दूकरण (Hinduisation)

भारत में अनेक आदिम समाजों ने अपने परम्परागत रीति-रिवाजों, प्रथाओं, जीवन-शैली धर्म आदि को त्यागकर हिन्दू धर्म एवं संस्कृति का अनुकरण करना प्रारम्भ करके हिन्दू समाज में सम्मिलित होने का प्रयास किया। वे हिन्दू जाति का रूप ग्रहण करके जाति-व्यवस्था में निश्चित स्थान प्राप्त कर लेते हैं। इनकी प्रस्थिति निम्नतम या हरिजन जाति के स्तर की ही हो पाती है। इस प्रकार हिन्दूकरण के रूप में भारतीय समाज में परिवर्तन आ रहा है।

6. संस्कृतीकरण (Sanskritisation)

विश्वविख्यात सामाजिक वैज्ञानिक एम. एन. श्रीनिवास ने संस्कृतीकरण की अवधारणा को भारतीय समाज में विशेष रूप से हिन्दू समाज में सामाजिक परिवर्तन (गतिशीलता) की व्याख्या करने के लिये प्रतिपादित किया है। आपने लिखा कि परम्परागत रूप से कही जाने वाली निम्न जातियों में यह देखा जाता है कि वे उच्च जातियों के समान ऊँचा उठने के लिये उच्च जातियों की संस्कृति का अनुकरण करते हैं। वे अपने नाम उच्च जातियों जैसे रख लेते हैं। शाकाहारी बन जाते हैं, झूठी वंशावलियाँ, जनेऊ, श्वेत वस्त्रों का प्रयोग, उच्च जातियों के व्यवसाय आदि अपनाते हैं। दो-तीन पीढ़ियों में उनकी स्थिति समाज में ऊँची उठ जाती है। निम्न प्रतिष्ठा वाले व्यवसायों को त्यागकर, उच्च प्रतिष्ठा वाले व्यवसाय अपनाना, धर्म-कर्म, पाप-पुण्य, मोक्ष, पुनर्जन्म जैसी शब्दावलियों का प्रयोग, उच्च शिक्षा प्राप्त करना, नगरों में या अन्यत्र क्षेत्रों में जाकर बसना आदि के द्वारा समाज में अपनी प्रस्थिति ऊँची प्राप्त करने की इस प्रक्रिया को ही संस्कृतीकरण कहते हैं। इस संस्कृतीकरण के द्वारा भारतीय समाज में परिवर्तन हो रहे हैं।

7. धार्मिक परिवर्तन (Religious Conversions)

धार्मिक परिवर्तन की प्रक्रिया के द्वारा भारतीय समाज में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन प्राचीनकाल से देखे जा सकते हैं। विभिन्न धर्मावलम्बियों के अपने जीवन के तरीके, आदर्श, वेश-भूषा, आचार-विचार होते हैं। धर्म-परिवर्तन और अन्तरधर्म विवाहों के द्वारा उनमें सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन होते हैं। जैन धर्म और बौद्ध धर्म के द्वारा हिन्दू समाज में परिवर्तन आये हैं। जैन और हिन्दू समाजों में विवाह सदियों से होते आये हैं। इसी प्रकार से विगत वर्षों में सिखों और हिन्दुओं में अन्तर्विवाह होते थे। साम्प्रदायिकता एवं क्षेत्रवाद के कारण इनके बीच अन्तर्विवाहों में कमी आ गई है। हिन्दू और सिख लड़कियाँ मुसलमानों से विवाह करती रहती हैं। ईसाई मिशनरियों के प्रचार-प्रसार से अनेक हिन्दू जातियों एवं जनजातियों के लोगों को ईसाई बनाया गया है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद अम्बेडकर के प्रभाव के परिणामस्वरूप हजारों हरिजनों ने हिन्दू धर्म त्यागकर बौद्ध धर्म अपनाया। पिछले अनेक वर्षों में लाखों हिन्दुओं को

नोट

मुसलमान धर्म में परिवर्तित किया गया है। मेव समाज इसी धर्म-परिवर्तन का परिणाम है। धार्मिक परिवर्तन के कारण लोगों की सभ्यता और संस्कृति में परिवर्तन आता है। भारत में धार्मिक परिवर्तन की प्रक्रिया सामाजिक परिवर्तन में महत्त्वपूर्ण रही है।

8. राजनीतिकरण (Politicisation)

26 जनवरी, 1950 को हमारे देश का संविधान व्यवहार में आया। इसके द्वारा सभी को समान अधिकार, समान अवसर एवं मतदान का अधिकार दिया गया। चुनाव द्वारा पूर्ण प्रजातन्त्र की स्थापना की गई। इससे भारत के सभी नागरिकों–स्त्री-पुरुष, गरीब-अमीर, युवा-वृद्ध, ग्रामीण-नगरीय में राजनीतिकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। इसके कारण विभिन्न क्षेत्रों में अनेक सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि प्रभाव देखे जा सकते हैं। राजनीतिकरण का प्रभाव सांस्कृतिक संस्थाओं, नौकरियों, शिक्षण संस्थाओं, व्यापार, कल-कारखानों, परिवार विवाह आदि पर पड़ा है। व्यक्तिवादिता की भावना में वृद्धि हुई है। जातिवाद, साम्प्रदायिकता, भाषावाद, क्षेत्रवाद में वृद्धि हुई है। ग्रामों एवं नगरों में गुटबन्दी, प्रभुत्व के नवीन प्रतिमान उभरकर सामने आये हैं। इसके द्वारा भ्रष्टाचार, शराबखोरी, पक्षपात, नौकरियों में भाई-भतीजावाद आदि में वृद्धि हुई है। राजनीतिकरण के विभिन्न क्षेत्रों में सकारात्मक एवं नकारात्मक प्रभाव देखे जा सकते हैं।

9. लौकिकीकरण (Secularisation)

धर्मनिरपेक्षीकरण या लौकिकीकरण की प्रक्रिया के द्वारा लोगों के विचार, व्यवहार, आदर्श, परम्परा, विश्वास आदि में अनेक परिवर्तन देखने में आ रहे हैं। व्यक्ति इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप अपनी पसन्द एवं अपने जीवन के लिये क्या उपयुक्त है और क्या नहीं, का विशेष ध्यान रखते हैं। पहले जहाँ व्यवसाय परम्परागत एवं पीढ़ीगत होते थे, अब व्यक्ति लाभ के आधार पर पेशों का चयन करते हैं। अधिक आर्थिक लाभ प्राप्ति के लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य भी लौकिकीकरण की प्रक्रिया के प्रभाव के कारण नि:संकोच चमड़े के जूते बनाने के कारखाने, चमड़े के सामान व दुकान, शराब आदि बेचने की दुकानों का संचालन करते हैं। विभिन्न जातियों के लड़के-लड़कियाँ अन्तर्जातीय विवाह नि:संकोच करने लगे हैं। कर्म-काण्डों, पूजा-पाठ, जन्म, विवाह आदि के अवसरों पर धार्मिक कृत्य मात्र औपचारिकताएँ बनकर रहे गये हैं। लौकिकीकरण के कारण अनेकानेक परिवर्तन हो रहे हैं।

10. आधुनिकीकरण (Modernisation)

आधुनिकीकरण का प्रारम्भ भारत में 19वीं सदी में ही हो गया था। पश्चिमी शिक्षा के सम्पर्क से राजा राममोहन राय ने सभी नागरिकों में तथा स्त्री-पुरुषों में समानता लाने का प्रयास किया। उन्होंने अनेक सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में पंचवर्षीय योजनाओं का प्रारम्भ हुआ जिससे सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक व सभी क्षेत्रों में उत्पादन कार्य बढ़ा है, औद्योगीकरण की गति को बढ़ावा मिला है। अनेक कारखाने व प्लाण्ट सूती वस्त्र, खाद, दवाइयाँ, सीमेण्ट, मशीनें, अणुशक्ति आदि से सम्बन्धित खोले गये हैं, जिससे प्रतिव्यक्ति औसत आय बढ़ी है, साक्षरता प्रतिशत बढ़ा है। शिक्षा में विशेषीकरण बढ़ा है। बुद्धिजीवी वर्ग ने समाज के लिये अनेक नीतियाँ बनाई हैं। राष्ट्र के हित में कार्य किये हैं। विधवा-विवाह स्वीकृति, बाल-विवाह निरोधक कानून, सती-प्रथा की समाप्ति जैसे नियमों ने प्राचीन परम्पराओं को खण्डित कर दिया है। औद्योगीकरण व नगरीकरण ने आधुनिकता को बढ़ावा दिया है। पहले अधिकांश जनसंख्या ग्रामों में निवास करती थी, किन्तु अब नगरों में श्रमिकों की संख्या बढ़ी है। इस कारण परिवार, जाति, नातेदारी आदि के सम्बन्धों में भी शिथिलता आई है, धर्म का प्रभाव घटा है।

धर्म, रंग, लिंग, सम्प्रदाय, जन्म, मत आदि से सम्बन्धित भेदभाव कानूनन समाप्त होकर स्वतन्त्रता व समानता का अधिकार प्राप्त हो गया है, इससे व्यक्ति अपने अस्तित्व को स्वीकारने लगा है।

नोट

क्या आप जानते हैं सम्पत्ति उत्तराधिकार, छुआछूत, विवाह आदि से सम्बन्धित कानूनों ने जीवन के नये आयाम प्रस्तुत किये हैं।

न केवल सामाजिक, आर्थिक क्षेत्र में परिवर्तन आया है बल्कि आधुनिकता का प्रभाव संस्कृति, राजनीति आदि के क्षेत्र में भी दृष्टिगोचर होता है। वयस्क मताधिकार का अधिकार स्त्री-पुरुष दोनों को समान रूप से प्राप्त होने के कारण चुनाव में मत देने वालों की संख्या में वृद्धि हुई है। जाति, परिवार, वंश, नातेदारी, त्यौहार, मान्यतायें सभी क्षेत्रों में आधुनिकता की वृद्धि हुई है। व्यवसाय का क्षेत्र भी अब विस्तृत हो गया है, जातिगत व्यवसाय में शिथिलता आई है। कृषि के क्षेत्र में आधुनिक तकनीकों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया जा रहा है। आज प्रत्येक ग्रामीण अपनी आय के स्रोत बढ़ाने एवं अपनी आय बढ़ाने के प्रति सचेष्ट है। आज गाँवों में पक्के मकान हैं। भौतिक सुख-सुविधाओं में वृद्धि हो रही है, जीवन-स्तर का उन्नयन किया जा रहा है। इस प्रकार से भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से सामाजिक संगठन के सभी पक्षों में परिवर्तन हो रहा है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. ..... को हमारे देश का संविधान व्यवहार में आया।
2. विभिन्न जातियों के लड़के-लड़कियाँ ..... विवाह नि:संकोच करने लगे हैं।
3. पश्चिमी शिक्षा के संपर्क से राजा राममोहन राय ने सभी नागरिकों में तथा स्त्री-पुरुषों में ..... लाने का प्रयास किया।

7.2 सारांश (Summary)

- स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में उत्पादन के क्षेत्र में औद्योगीकरण तेजी से हो रहा है। ऊर्जा के नए-नए स्रोतों का प्रयोग तेजी से हो रहा है।
- भारत में दिन-प्रतिदिन ग्रामीण जनसंख्या शहर की ओर आ रही है। ग्रामीण कृषि कार्य को छोड़कर अकृषि कार्य को अपना रहे हैं।
- धर्मनिरपेक्षीकरण या लौकिकीकरण की प्रक्रिया द्वारा लोगों के विचार, व्यवहार, आदर्श, परंपरा, विश्वास आदि में अनेक परिवर्तन देखने में आ रहे हैं।

7.3 शब्दकोश (Keywords)

1. **सामाजिक गतिशीलता (Social Mobility)**–किसी समाज की सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था में सामान्यत: व्यक्तियों और कभी-कभी किसी संपूर्ण समूह की भिन्न पद-प्रस्थियों के बीच होने वाले परिवर्तन को सामाजिक गतिशीलता कहते हैं।
2. **संस्कृतिकरण (Sanskritisation)**–समाज के सांस्कृतिक प्रतिमान के संदर्भ में अर्थात् प्रभु-जाति के संदर्भ में सामाजिक गतिशीलता का एक आंदोलन है।

7.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. समकालीन भारतीय समाज में होने वाले परिवर्तन को बताएँ।
2. स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय समाज में नगरीकरण तथा औद्योगिकीकरण किस प्रकार हुआ है?

नोट

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. 26 जनवरी, 1950
2. अन्तर्जातीय
3. समानता।

7.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. विकास का समाजशास्त्र – *वन्दना वोहरा, ओमेगा पब्लिकेशन।*
2. विकास का समाजशास्त्र – *दूबे श्यामाचरन, वानी पब्लिकेशन।*

नोट

इकाई–8: परिवर्तन की प्रक्रिया : संस्कृतीकरण और पश्चिमीकरण (Processes of Change : Sanskritisation and Westernisation)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

8.1 संस्कृतीकरण (Sanskritisation)

8.2 पश्चिमीकरण का अर्थ (Meaning of Westernisation)

8.3 पश्चिमीकरण की विशेषताएँ (लक्षण) (Characteristics of Westernisation)

8.4 पश्चिमीकरण एवं सामाजिक परिवर्तन : कुछ प्रभाव (Westernisation and Social Change : Few Effects)

8.5 सारांश (Summary)

8.6 शब्दकोश (Keywords)

8.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

8.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- संस्कृतीकरण की अवधारणा की जानकारी।
- पश्चिमीकरण का अभिप्राय समझना।

प्रस्तावना (Introduction)

डॉ. एम.एन. श्रीनिवास ने भारतीय समाज में परिवर्तन की प्रक्रियाओं का अध्ययन करने हेतु संस्कृतीकरण एवं पश्चिमीकरण की अवधारणाओं को प्रस्तुत किया। इसे इस दिशा में प्रथम व्यवस्थित प्रयत्न माना जा सकता है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन का सिद्धांत यह मानकर चलता है कि परिवर्तन के स्रोत व्यवस्था के भीतर भी पाए जाते हैं तथा बाहर भी। संस्कृतीकरण की अवधारणा जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत वास्तविक तथा आकांक्षित, सांस्कृतिक एवं सामाजिक गतिशीलता को व्यक्त करती है, जबकि पश्चिमीकरण की अवधारणा उन परिवर्तनों से परिचित कराती है जो पश्चिमी व विशेषत: ग्रेट ब्रिटेन के साथ सांस्कृतिक सम्पर्क का परिणाम है। **डॉ. श्रीनिवास** ने पश्चिमीकरण शब्द का प्रयोग उन परिवर्तनों को प्रकट करने के लिए किया है जो भारत में 19वीं व 20वीं शताब्दी में अंग्रेजी शासन काल की अवधि में हुए।

नोट

8.1 संस्कृतीकरण (Sanskritisation)

दक्षिण-भारत के कुर्ग लोगों के सामाजिक और धार्मिक जीवन के विश्लेषण में प्रसिद्ध भारतीय समाजशास्त्रीय **प्रो. एम.एन. श्रीनिवास** ने इस अवधारणा का सर्वप्रथम प्रयोग किया। मैसूर में कुर्ग लोगों का अध्ययन करते समय **प्रो. एम.एन. श्रीनिवास** ने पाया कि निम्न जातियों के लोग ब्राह्मणों की कुछ प्रथाओं का अनुकरण करने और अपनी स्वयं की कुछ प्रथाओं जैसे मांस खाना, शराब का प्रयोग तथा पशु-बलि आदि छोड़ने में लगे हुए थे। वे सब कुछ इसलिए कर रहे थे ताकि जातीय-संस्तरण की प्रणाली में उनकी स्थिति ऊंची उठ सके। ब्राह्मणों की वेशभूषा, भोजन संबंधी आदतें तथा कर्मकाण्ड आदि अपनाकर वे अपनी स्थिति को ऊंचा उठाने का प्रयत्न कर रहे थे। उन्होंने बाह्मणों के जीवन-पद्धति का अनुकरण करके एक-दो पीढ़ी में जातीय संस्तरण की प्रणाली में उच्च स्थिति प्राप्त करने की दृष्टि से मांग प्रस्तुत की। गतिशीलता की इस प्रक्रिया का वर्णन करने हेतु **प्रो. श्रीनिवास** ने प्रारम्भ में 'ब्राह्मणीकरण' नामक शब्द का प्रयोग किया। लेकिन बाद में इसके स्थान पर आपने 'संस्कृतीकरण' नामक अवधारणा का प्रयोग ज्यादा उपयुक्त समझा।

प्रो. श्रीनिवास ने अपनी पुस्तक 'रिलीजन एण्ड सोसायटी अमंग दी कुर्गस् ऑफ साउथ इण्डिया' में गतिशीलता को व्यक्त करने के लिए "संस्कृतीकरण" नामक प्रयत्य का प्रयोग किया। **प्रो. श्रीनिवास** ने संस्कृतीकरण को परिभाषित करते हुए लिखा ''संस्कृतीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई निम्न हिन्दू जाति या कोई जनजाति अथवा कोई अन्य समूह, किसी उच्च और प्राय: द्विज जाति 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य' की दिशा में अपने रीति-रिवाज, कर्मकाण्ड, विचारधारा और जीवन पद्धति को बदलता है।" साधारणत: ऐसे परिवर्तनों के बाद निम्न जाति जातीय संस्तरण की प्रणाली में स्थानीय समुदाय में परम्परागत रूप से उसे जो स्थिति प्राप्त है, उससे उच्च स्थिति का दावा करने लगती है।

डॉ. योगेन्द्र सिंह ने लिखा है कि संस्कृतीकरण ब्राह्मणीकरण की अपेक्षा अधिक विस्तृत अवधारणा है। **प्रो. श्रीनिवास** ने स्वयं यह महसूस कर लिया था कि जिस प्रक्रिया ने निम्न जातियों को मैसूर में ब्राह्मणों के रीति-रिवाजों का अनुकरण करने के लिए प्रेरित किया, निम्न जातियों में उच्च जातियों के सांस्कृतिक तरीकों का अनुकरण करने की एक सामान्य प्रवृत्ति का ही एक विशिष्ट उदाहरण था। बहुत से मामलों में उच्च जातियाँ ब्राह्मण थीं। वे देश के विभिन्न भागों में क्षत्रिय, जाट, वैश्य आदि थे।

प्रो. श्रीनिवास के अनुसार, सामान्यत: संस्कृतीकरण के साथ-साथ और प्राय: उसके फलस्वरूप, सम्बद्ध जाति ऊपर की ओर गतिशील होती है, परन्तु गतिशीलता संस्कृतीकरण के बिना भी, अथवा गतिशीलता के बिना भी संस्कृतीकरण संभव है। किन्तु संस्कृतीकरण सम्बद्ध गतिशीलता के परिणामस्वरूप व्यवस्था में केवल पदमूलक परिवर्तन होते हैं और इससे कोई संरचनात्मक परिवर्तन नहीं होते अर्थात् एक जाति अपने पास की जातियों से ऊपर उठ जाती है और दूसरी नीचे आ जाती है। परन्तु यह सब कुछ अनिवार्यत: स्थायी संस्तरणात्मक व्यवस्था में घटित होता है, व्यवस्था स्वयं परिवर्तित नहीं होती है।

डॉ. वी. आर, चौहान ने संस्कृतीकरण नामक अवधारणा का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है, "यह एक उपकरण है जिसके द्वारा हम उस प्रक्रिया को मालूम कर सकते हैं जिसमें निम्न जातीय तथा जनजाति अपने व्यवहार एवं जीवन के तरीके हिन्दू समाज के उच्च वर्णों के अनुसार बदलती है।"

संस्कृतीकरण के अर्थ को और अधिक स्पष्ट करते हुए **प्रो. श्रीनिवास** ने लिखा "संस्कृतीकरण का तात्पर्य केवल नई प्रथाओं एवं आदतों को ग्रहण करना नहीं है बल्कि नए विचारों व मूल्यों को भी व्यक्त करना है जिसका संबंध पवित्रता और धर्म निरपेक्षता से है और जो संस्कृत साहित्य में उपलब्ध है। कर्म, धर्म, पाप, पुण्य, माया, मोक्ष आदि ऐसे शब्द हैं जिनका संबंध धार्मिक संस्कृत साहित्य से है। जब लोगों का संस्कृतीकरण हो जाता है तो उनके द्वारा अनायास ही इन शब्दों को प्रयोग किया जाता है।"

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि संस्कृतीकरण वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से कोई निम्न हिन्दू जातीय-समूह अथवा कोई जनजातीय समूह अपनी सम्पूर्ण जीवन-विधि को उच्च जातियों या वर्णों की दिशा में बदल कर अपनी स्थिति को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करता है, जातीय संस्तरण की प्रणाली में उच्च होने का दावा प्रस्तुत करता है।

नोट

संस्कृतीकरण की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

1. संस्कृतीकरण की प्रक्रिया का सम्बन्ध निम्न हिन्दू जातियों, जनजातियों तथा कुछ अन्य समूहों से है। हिन्दू जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत संस्तरण की प्रणाली में अपने समूह की सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने की दृष्टि से उपर्युक्त समूहों ने संस्कृतीकरण का सहारा लिया है। भील, ओराँव, संथाल तथा गोंड एवं हिमालय के पहाड़ी लोगों को उन जनजातीय लोगों में सम्मिलित किया जाता है जिन्होंने संस्कृतीकरण के माध्यम से अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने और हिन्दू समाज का अंग बनने का प्रयत्न किया। अन्य समूहों के अन्तर्गत वे लोग आते हैं जिनका हिन्दू धर्म व संस्कृति से सम्बन्ध न होकर अन्य धर्मों एवं संस्कृतियों से सम्बन्ध हैं।
2. संस्कृतीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत अपने से उच्च जातियों की जीवन-विधि का अनुकरण किया जाता है, उनकी प्रथाओं, रीति-रिवाजों, खान-पान, विश्वासों एवं मूल्यों को अपना लिया जाता है।
3. संस्कृतीकरण के आदर्श या मॉडल एक से अधिक हैं। अर्थात् निम्न जातियों एवं कुछ जनजातीय समूहों ने केवल ब्राह्मणों को ही आदर्श मानकर उनका अनुकरण नहीं किया, बल्कि क्षत्रिय, वैश्य एवं किसी स्थानीय प्रभु जाति का अनुकरण भी किया, उनकी जीवन-शैली को अपनाया। **पोकॉक** ने बतलाया है कि निम्न जातियों के लिए आदर्श अपने ऊपर की वे जातियां होती हैं जिनसे उनकी सबसे अधिक निकटता हो। **प्रो. श्रीनिवास** ने भी **पोकॉक** के इस कथन को सही माना है।
4. संस्कृतीकरण की प्रक्रिया में अग्रिम समाजीकरण का विचार शामिल है। **डॉ. योगेन्द्रसिंह** संस्कृतीकरण को अग्रिम समाजीकरण मानते हैं, अर्थात् कोई निम्न जातीय समूह एक दो पीढ़ी तक किसी उच्च जाति की जीवन-शैली की दिशा में अपना समाजीकरण करता है ताकि भविष्य में उसे उसके स्थानीय समुदाय में उच्च स्थान प्राप्त हो जाये। कोई भी जातीय समूह अपने इस प्रयत्न में उस समय आसानी से सफलता प्राप्त कर पाता है जब उसकी राजनीतिक एवं आर्थिक शक्ति बढ़ने लगती है या उसका संबंध किसी मठ, तीर्थ-केन्द्र आदि से हो जाता है।
5. संस्कृतीकरण की एक प्रमुख विशेषता यह है कि यह पदमूलक परिवर्तन को व्यक्त करने वाली प्रक्रिया है, न कि संरचनात्मक परिवर्तन को। इसका तात्पर्य यही है कि संस्कृतीकरण के माध्यम से किसी जातीय-समूह की स्थिति आस-पास की जातियों से कुछ ऊपर उठ जाती है परन्तु स्वयं जाति-व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं होता है। संस्कृतीकरण की प्रक्रिया सामाजिक गतिशीलता को व्यक्त करती है। इससे किसी निम्न जातीय समूह के ऊपर उठने की सम्भावना रहती है।
6. संस्कृतीकरण की प्रक्रिया सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन को व्यक्त करती है, **मिल्टन सिंगर** ने लिखा है, "एम.एन. श्रीनिवास का संस्कृतीकरण का सिद्धान्त भारतीय सभ्यता में सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन का अत्यन्त विस्तृत और व्यापक रूप से स्वीकृत मानवशास्त्रीय सिद्धान्त है।" कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृतीकरण केवल सामाजिक परिवर्तन की एक प्रक्रिया नहीं है बल्कि सांस्कृतिक परिवर्तनों की भी एक प्रक्रिया है। संस्कृतीकरण के फलस्वरूप भाषा, साहित्य, संगीत, विज्ञान, दर्शन, औषधि तथा धार्मिक विधान आदि के क्षेत्र में होने वाले परिवर्तन सांस्कृतिक परिवर्तनों के अन्तर्गत ही आते हैं।
7. संस्कृतीकरण की प्रक्रिया का संबंध किसी व्यक्ति या परिवार से नहीं होकर समूह से होता है। इस प्रक्रिया के द्वारा कोई जातीय या जनजातीय समूह अपनी स्थिति को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करता है। यदि कोई व्यक्ति या परिवार ऐसा करता है जो उसे न केवल अन्य जातियों के बल्कि स्वयं की जाति के अन्य सदस्यों के क्रोध का भी भाजन बनना पड़ता है।
8. **बर्नार्ड कोहन** तथा **हेरोल्ड गोल्ड** नाम विद्वानों के अध्ययनों के आधार पर **प्रो. श्रीनिवास** ने बताया है जहाँ निम्न जातियाँ अपने जीवन-शैलियों का संस्कृतीकरण कर रहीं हैं, वहीं उच्च जातियां आधुनिकीकरण एवं धर्म-निरपेक्षकरण की ओर बढ़ रही हैं।

नोट

प्रो. श्रीनिवास ने स्वयं यह महसूस किया कि आपने प्रारम्भ में संस्कृतीकरण के ब्राह्मणी आदर्श पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया। वास्तविकता यह है कि संस्कृतीकरण के आदर्श सदैव ब्राह्मण ही नहीं रहे हैं। **पोकॉक** ने क्षत्रिय आदर्श के अस्तित्व की चर्चा की है। **मिल्टन सिंगर** ने बतलाया है कि संस्कृतीकरण के एक या दो आदर्श ही नहीं पाये जाते, बल्कि चार नहीं तो कम से कम तीन आदर्श अवश्य मौजूद हैं। प्रथम तीन वर्ण के लोगों को द्विज कहते हैं क्योंकि इनका उपनयन संस्कार होता है और इन्हें वैदिक कर्मकाण्डों के सम्पन्न करने का अधिकार होता है जिनमें वेदों के मंत्रों का उच्चारण किया जाता है। **श्रीनिवास** के अनुसार, "द्विज" वर्णों में ब्राह्मण इन संस्कारों को पूरा करने के संबंध में सबसे अधिक सावधान होते हैं, और इसलिए दूसरों की अपेक्षा उन्हें संस्कृतीकरण का उत्तम आदर्श माना जा सकता है। लेकिन हमें यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि स्वयं ब्राह्मण वर्ण में भी काफी विभिन्नता पाई जाती है।

ब्राह्मणों के अलावा क्षत्रिय और वैश्य वर्ण भी संस्कृतीकरण के आदर्श रहे हैं। देश के विभिन्न भागों में क्षत्रिय और वैश्य होने का दावा वे सब समूह करते हैं जिनकी क्रमशः सैनिक कार्य तथा व्यापार की परम्पराएँ रही हैं। देश के विभिन्न भागों में भी क्षत्रियों की और सभी वैश्यों की कोई समान कर्मकाण्ड की परम्परा नहीं रही है। इनमें से बहुत से लोगों के वे सब संस्कार नहीं होते जो कि द्विज वर्णों के लिए आवश्यक माने जाते हैं। कहीं कुछ समूहों ने ब्राह्मणों का, तो कहीं क्षत्रियों का और कहीं वैश्यों का अनुकरण किया है, उनकी जीवन-शैली को अपनाया है।

नाई, कुम्हार, तेली, बढ़ई, लुहार, जुलाहे, गड़रिये आदि जातियाँ अपवित्रता रेखा के ठीक ऊपर अस्पृश्य या अछूत समूहों के निकट हैं। ये जातियाँ शूद्र वर्ण की जातियों का प्रतिनिधित्व-सा करती हैं। **प्रो. श्रीनिवास** के अवलोकन के आधार पर यह अनुभव है कि शूद्रों की व्यापक श्रेणी में कुछ अन्य जातियों का संस्कृतीकरण बहुत कम हुआ है। लेकिन चाहे उनका संस्कृतीकरण हुआ हो या नहीं हुआ हो, प्रभावी कृषक जातियाँ अनुकरण के स्थानीय आदर्श प्रस्तुत करती हैं और जैसा कि **पोकॉक** तथा **सिंगर** ने अवलोकित किया है कि ऐसी जातियों के माध्यम से ही क्षत्रिय (तथा अन्य) आदर्शों को अपनाया गया है।

स्थानीय प्रभावी जाति (प्रभु जाति) संस्कृतीकरण की प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यदि स्थानीय प्रभावी जाति ब्राह्मण है, तब संस्कृतीकरण का आदर्श ब्राह्मणी प्रकार का होगा और यदि यह राजपूत या वैश्य है, तब आदर्श राजपूती या वैश्यी प्रकार का होगा। **प्रो. श्रीनिवास** के अनुसार, यद्यपि एक लम्बी काल अवधि से ब्राह्मणी कर्मकाण्ड और प्रथाएँ नीची जातियों में फैली हैं, लेकिन बीच-बीच में स्थानीय रूप में प्रभुता-सम्पन्न जाति का भी शेष लोगों के द्वारा अनुकरण किया गया और प्रायः स्थानीय रूप से प्रभावी ये जातियाँ ब्राह्मण नहीं होती थीं। यह कहा जा सकता है कि निम्नस्तर वाली अनेक जतियों में ब्राह्मणी प्रथाएँ एक शृंखलाबद्ध प्रतिक्रिया के रूप में पहुँची है अर्थात् प्रत्येक समूह ने अपने से एक स्तर ऊँचे समूह से कुछ ग्रहण किया और अपने से नीचे वाले समूह को कुछ दिया है।

8.2 पश्चिमीकरण का अर्थ (Meaning of Westernisation)

डॉ. श्रीनिवास ने पश्चिमीकरण का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है, "मैंने 'पश्चिमीकरण' शब्द का प्रयोग भारतीय समाज व संस्कृति में उन परिवर्तनों के लिए किया है जो एक सौ पचास वर्षों से अधिक समय के अंग्रेजी राज के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए हैं और यह शब्द प्रौद्योगिकी, संस्थाओं, वैचारिक मूल्यों आदि विभिन्न स्तरों पर होने वाले परिवर्तनों का समावेश करता है।"

लिंच (Lynch) ने श्रीनिवास को उद्धृत करते हुए लिखा है, "पश्चिमीकरण में पश्चिमी पोशाक, खान-पान, तौर-तरीके, शिक्षा, विधियाँ और खेल, मूल्यों आदि को सम्मिलित किया जाता है।"

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि पश्चिमीकरण की अवधारणा के अन्तर्गत भारत में होने वाले वे सभी सांस्कृतिक परिवर्तन और संस्थात्मक नवीनताएँ आ जाती हैं जो इस देश में पश्चिमी देशों प्रमुखतः इंग्लैण्ड के साथ राजनीतिक एवं सांस्कृतिक सम्पर्क के कारण आयी हैं। पश्चिमीकरण का तात्पर्य विविध प्रकार के परिवर्तनों से है, जैसे वस्त्र, भोजन खाने के तरीके, रहन-सहन के ढंग आदि के परिवर्तनों से। **डॉ. योगेन्द्र सिंह** ने लिखा है कि "मानवतावाद (Humanitarianism) तथा बुद्धिवाद (Rationalism) पर जोर पश्चिमीकरण का एक अंग है जिसने भारत

नोट

में संस्थागत या सामाजिक सुधारों का सिलसिला प्रारम्भ कर दिया। वैज्ञानिक, औद्योगिक एवं शिक्षण संस्थाओं की स्थापना, राष्ट्रीयता का उदय, देश में नवीन राजनीतिक संस्कृति और नेतृत्व सबके सब पश्चिमीकरण के उत्पादन (byproducts) हैं।" स्पष्ट है कि पश्चिमीकरण ने भारत में मानवतावादी दृष्टिकोण को अपनाने तथा तार्किक ढंग से विचार करने के लिए लोगों को प्रेरित किया। पश्चिमीकरण का तात्पर्य केवल पाश्चात्य रीति-रिवाजों व ढंगों को अपनाना मात्र ही नहीं है। यह एक जटिल एवं सर्वव्यापक अवधारणा है। इसके अन्तर्गत विज्ञान, तकनीकी, प्रयोग-सिद्ध पद्धति इत्यादि आते हैं। पश्चिमीकरण ने समतावादी और लौकिक (Equalitarian and Secular) दृष्टिकोण के विकास में सहायता प्रदान की। लोग विभिन्न समस्याओं के प्रति अब तार्किक दृष्टिकोण अपनाने लगे हैं।

नोट्स पश्चिमीकरण में कुछ मूल्य वरीयताएँ (Value Preferences) भी सम्मिलित हैं। इस प्रकार का मूल्य जिसमें अनेक मूल्य सम्मिलित हैं, मानवतावाद है जिसका अभिप्राय जाति, आर्थिक स्थिति, धर्म, आयु एवं लिंग को ध्यान में नहीं रखते हुए सभी मनुष्यों के कल्याण में सक्रिय रुचि से है। समतावाद एवं लौकिकीकरण दोनों ही मानवतावाद में शामिल हैं।

8.3 पश्चिमीकरण की विशेषताएँ (लक्षण) (Characteristics of Westernisation)

श्रीनिवास ने पश्चिमीकरण की निम्नांकित विशेषताओं का उल्लेख किया है :

1. **नैतिक रूप से तटस्थ**–पश्चिमीकरण नैतिक रूप से तटस्थ अवधारणा है, अर्थात् यह धारणा यह नहीं बताती कि पश्चिम के प्रभाव के कारण भारत में होने वाले परिवर्तन अच्छे हैं या बुरे। यह तो केवल परिवर्तनों को बतलाती है, अच्छाई व बुराई के मूल्यों से यह अवधारणा स्वतन्त्र है।
2. **एक व्यापक अवधारणा**–पश्चिमीकरण एक व्यापक अवधारणा है जिसमें भौतिक और अभौतिक संस्कृति से सम्बन्धित सभी परिवर्तन आ जाते हैं। इसके अन्तर्गत पश्चिम के प्रभाव के कारण उत्पन्न होने वाले वे सभी परिवर्तन आ जाते हैं जो प्रौद्योगिकी, धर्म, परिवार व जाति, राजनीति, प्रथाओं, आदर्शों, विश्वासों, मूल्यों, फैशन, खान-पान, रहन-सहन, यातायात एवं संचार, कला, साहित्य, शिक्षा, न्याय, प्रशासन एवं अन्य संस्थाओं में घटित हुए हैं। **बी.कुप्पूस्वामी** कहते हैं कि श्रीनिवास द्वारा काम में ली गयी पश्चिमीकरण की अवधारणा में निम्नलिखित बातें सम्मिलित हैं : (अ) व्यवहार सम्बन्धी पक्ष, जैसे खाना-पीना, वेश-भूषा, नृत्य आदि (ब) ज्ञान सम्बन्धी पक्ष, जैसे साहित्य, विज्ञान आदि। (स) मूल्य सम्बन्धी पक्ष, जैसे मानवतावाद, समतावाद, लौकिकीकरण।
3. **एक वैज्ञानिकी अवधारणा**–पश्चिमीकरण की अवधारणा चूंकि मूल्य की दृष्टि से एक तटस्थ अवधारणा है, अत: यह वैज्ञानिक अवधारणा है। इसके द्वारा हम किसी भी समाज में घटित होने वाले परिवर्तनों का विश्लेषण कर सकते हैं।
4. **अनेक प्रारूप**–पश्चिमीकरण के हमें अंग्रेजी, अमरीकी, रूसी और विभिन्न यूरोपीय देशों के प्रारूप या आदर्श देखने को मिलेंगे। सभी प्रारूपों में कुछ तत्व तो समान रूप से पाये जाते हैं। चूंकि अंग्रेजों ने ही भारतीयों को पश्चिमी संस्कृति के विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं भौतिक पक्षों से परिचित कराया, अत: भारत में अंग्रेजी आदर्श ही विद्यमान हैं, यद्यपि वर्तमान में अमरीकी और रूसी प्रारूप भी प्रभावशाली होते जा रहे हैं।
5. **जटिल तथा बहुस्तरीय प्रक्रिया–श्रीनिवास** कहते हैं कि पश्चिमीकरण की प्रक्रिया एक जटिल प्रक्रिया है जिसका प्रभाव सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, प्रौद्योगिकी एवं अन्य स्तरों पर देखा जा सकता है। एक समाज के विभिन्न पक्षों पर पश्चिमीकरण का प्रभाव भिन्न-भिन्न रहा है। कोई पक्ष अधिक प्रभावित

नोट

व परिवर्तित हुआ है तो कोई कम। कुछ लोगों ने पश्चिमी खान-पान तथा वस्त्रों को अपनाया है तो कुछ ने पश्चिमी आदर्शों, मूल्यों और विश्वासों को, तो कुछ ने पश्चिमी प्रौद्योगिकी को। समाज के सभी पक्षों पर पश्चिमीकरण का प्रभाव समान रूप से नहीं पड़ा है। भारत में पश्चिमीकरण की गति सर्वत्र ही समान नहीं है। मैसूर में पश्चिमीकरण की दौड़ में ब्राह्मण सबसे आगे रहे हैं।

6. **चेतन और अचेतन प्रक्रिया**–पश्चिमीकरण का प्रभाव भारतीय समाज पर चेतन और अचेतन दोनों ही प्रकार से पड़ा है। कई पश्चिमी तत्वों को तो हम जान-बूझकर प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करते हैं और कई हमें अप्रत्यक्ष तथा अचेतन रूप से प्रभावित करते हैं और वे हमारे व्यवहार तथा दैनिक जीवन के अंग बन जाते हैं।

टास्क पश्चिमीकरण की क्या विशेषताएँ हैं? विस्तारपूर्वक वर्णन करें।

8.4 पश्चिमीकरण एवं सामाजिक परिवर्तन : कुछ प्रभाव (Westernisation and Social Change : Few Effects)

भारत में अंग्रेजों के लगभग 190 वर्षों के शासन के कारण भारतीय समाज एवं संस्कृति में अनेक परिवर्तन हुए। भारतीयों के खान-पान, रहन-सहन, प्रथाओं, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं सामाजिक संस्थाओं तथा संस्कृति के क्षेत्र में घटित होने वाले परिवर्तनों का हम यहां उल्लेख करेंगे :

1. **खान-पान व रहन-सहन में परिवर्तन** (Change in Food and Living Habits)–अंग्रेजों के सम्पर्क के कारण भारतीयों के खान-पान एवं रहन-सहन में कई परिवर्तन हुए। परम्परात्मक व्यवस्था में ब्राह्मण एवं उच्च वर्ग के व्यक्ति शाकाहारी थे, वे माँस एवं मदिरा का सेवन नहीं करते थे। कई प्रकार के कन्दमूलों, जैसे आलू, लहसुन, प्याज, चुकन्दर आदि का भी प्रयोग वे नहीं करते थे। भोजन करने से पूर्व स्नान किया जाता और आंगन को लीपकर शुद्ध करके, शुद्ध वस्त्र पहनकर भोजन किया जाता था, किन्तु अंग्रेजी प्रभाव के कारण अब सभी जातियों के व्यक्ति मांस, मदिरा व अण्डे आदि का सेवन करने लगे और सभी प्रकार के जमींकन्द, जैसे आलू, लहसुन, प्याज, चुकन्दर आदि का भी प्रयोग करने लगे। अब भोजन से पूर्व स्नान करना और शुद्ध वस्त्र धारण करना आवश्यक नहीं समझा जाता।

   अब भोजन करते समय जूते उतारना आवश्यक नहीं माना जाता। होटलों व जलपान गृहों में बना भोजन, चाय, कॉफी, बिस्कुट, केक, आइसक्रीम, मिठाई, नमकीन आदि का भी अब लोग सेवन करने लगे जिनसे पहले परहेज रखा जाता था। सिगरेट व चुरूट आदि पीने का प्रचलन भी बढ़ा। अब लोग धोती व कुर्ते के स्थान पर पेन्ट, कोट, शर्ट, टाई व हैट का प्रयोग करने लगे व बाल रखने का प्रचलन बढ़ा। स्त्रियाँ लंहगा व साड़ी के स्थान पर जीन्स, मैक्सी, गाउन, 'टापलेस वस्त्र' धारण करने लगीं, जूड़े एवं बॉब कट बाल रखने का प्रचलन बढ़ा। सौन्दर्य प्रसाधनों का भी अधिकाधिक प्रयोग किया जाने लगा।

2. **सामाजिक जीवन एवं संस्थाओं में परिवर्तन** (Change in Social Life and Institutions)–पश्चिमीकरण के कारण भारतीयों के सामाजिक जीवन एवं संस्थाओं में भी अनेक परिवर्तन घटित हुए। जाति-प्रथा, संयुक्त परिवार प्रणाली, विवाह तथा स्त्रियों की सामाजिक प्रस्थिति में परिवर्तन आया।

   (*i*) **जाति-प्रथा में परिवर्तन**–अंग्रेजों के आने से पूर्व भारत में जाति-प्रथा का कठोर रूप पाया जाता था। व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक के कार्यकलापों का निर्धारण जाति ही करती थी, किन्तु जब अंग्रेज भारत में आये तो उन्होंने यहां बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना की, औद्योगीकरण व नगरीकरण की नींव रखी, यातायात एवं संचार के नवीन साधनों जैसे रेल, बस, रिक्शा, ट्राम, जहाज, वायुयान, सड़कें, डाक, तार, टेलीविजन, प्रेस, अखबारों आदि से भारतीयों को परिचित कराया। अब विभिन्न

नोट

जातियों के व्यक्ति एक ही कारखाने में साथ-साथ काम करने लगे, साथ-साथ यात्रा करने लगे, इससे छुआछूत कम हुई तथा जातीय उच्चता और निम्नता की भावना शिथिल हुई। एक जाति के व्यक्ति दूसरी जाति के व्यवसाय को भी करने लगे। अन्तर्जातीय विवाहों का प्रचलन बढ़ा, जजमानी सम्बन्ध समाप्त हुए और पैसा देकर दूसरी जातियों की सेवाएं खरीदी जाने लगीं। व्यक्ति का मूल्यांकन अब जाति के आधार पर नहीं वरन् उसके गुणों के आधार पर होने लगा। खान-पान सम्बन्धी जातीय निषेधों में कमी आयी तथा जाति पंचायतों का महत्त्व घटा। पश्चिम के वैधानिक एवं समानता के मूल्यों ने जातीय भेदभाव कम और समानता के विचारों का प्रसार अधिक किया।

(*ii*) **विवाह में परिवर्तन**–परम्परात्मक हिन्दू समाज में एक व्यक्ति को अपनी ही जाति में विवाह करना होता था, विधवाओं को पुनर्विवाह की स्वीकृति नहीं थी तथा बाल-विवाह का अधिक प्रचलन था, बहुविवाह, कुलीन विवाह तथा कन्यादान की प्रथा थी और विवाह को एक धार्मिक संस्कार माना जाता था तथा तलाक का प्रचलन नहीं था। विवाह में सपिण्ड, सप्रवर और सगोत्र के नियमों का पालन किया जाता था, किन्तु पश्चिम के विचारों, मूल्यों और आदर्शों ने विवाह के नियमों में कई परिवर्तन किये, बाल-विवाह कम हुए, विलम्ब-विवाह होने लगे, विधवाओं को पुनर्विवाह की छूट मिली, अन्तर्जातीय विवाह, प्रेम-विवाह और कोर्ट मैरिज होने लगे। प्रवर, सपिण्डता और सगोत्र के नियम भी ढीले हुए। विवाह को धार्मिक संस्कार के स्थान पर समझौता मानने की प्रवृत्ति बढ़ी। पत्नी पति को परमेश्वर न मानकर एक मित्र व सहयोगी समझने लगी। तलाकों का प्रचलन बढ़ा, कुलीन विवाह तथा बहुविवाह समाप्त हुए और एक विवाह को ही उत्तम माना जाने लगा। इस प्रकार भारत में विवाह संस्था में परिवर्तित हुई

(*iii*) **परिवार में परिवर्तन**–भारत में अंग्रेजों के आने से पूर्व संयुक्त परिवार ही परिवार का प्रमुख स्वरूप था जिसमें तीन-चार पीढ़ियों के व्यक्ति एक साथ रहते भोजन व पूजन करते तथा जिनकी सम्पत्ति सामूहिक होती थी और जिसका संचालन परिवार का वयोवृद्ध व्यक्ति करता था, किन्तु पश्चिमीकरण के प्रभाव के कारण परम्परात्मक संयुक्त परिवार, प्रणाली में परिवर्तन हुआ। पश्चिम ने भारतीयों को व्यक्तिवाद, भौतिकवाद, अस्तित्ववाद और समानता के विचारों से परिचित कराया, फलस्वरूप परिवार के सदस्यों ने व्यक्तिगत अधिकारों एवं कर्ता के नियन्त्रण से स्वतन्त्रता की मांग की। दूसरों के लिए त्याग व बलिदान के स्थान पर लोगों में व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना पनपी। इन सभी के सामूहिक प्रभाव के कारण संयुक्त परिवार पर विपरीत प्रभाव पड़ा और वे टूटने लगे तथा पति-पत्नी व बच्चों से निर्मित छोटे परिवार में रहने की प्रवृत्ति बढ़ी।

(*iv*) **स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन**–पश्चिम के प्रभाव के कारण स्त्रियों की परम्परात्मक सामाजिक स्थिति में परिवर्तन हुआ। स्त्रियों को भी शिक्षा दी जाने लगी, इससे उनका मानसिक विकास हुआ, वे पश्चिम के साहित्य के द्वारा मूल्यों और आदर्शों से परिचित हुईं तथा उनमें जागृति आयी। स्त्रियों की स्थिति को सुधारने के भी अनेक प्रयास हुए। सती प्रथा का अन्त हुआ व बाल-विवाह कम हुए तथा विधवा-विवाह प्रारम्भ हुए। स्त्रियों का कार्य-क्षेत्र अब केवल घर ही नहीं रहा वरन् वे पुरुषों के समान सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में कार्य करने लगीं और स्त्री-पुरुष की समानता के विचार पनपे।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. अंग्रेजों के आने से पूर्व भारत में ..... का कठोर रूप पाया जाता था।
2. ..... में एक व्यक्ति को अपनी ही जाति में विवाह करना पड़ता था।
3. ..... में अंग्रेजों के आने से पूर्व संयुक्त परिवार ही परिवार का मुख्य स्वरूप था।

नोट

3. **धार्मिक जीवन में परिवर्तन** (Changes in Religious Life)–अंग्रेजी शासन से पूर्व भारत में अनेक धार्मिक अन्धविश्वास, कर्मकाण्ड, पाखण्ड, ढोंग, आदि का प्रचलन था और धर्म के नाम पर यहाँ अनेक बुराइयाँ पनप रही थीं। सती-प्रथा, बाल-विवाह, जाति-प्रथा, देवदासी-प्रथा, छुआछूत, विधावा-पुनर्विवाह निषेध, मानव-बलि, पर्दा-प्रथा, मृत्युभोज आदि बुराइयों का सम्पूर्ण भारत में बोलबाला था। इन सभी की पुष्टि धार्मिक आधार पर की गयी थी। पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव एवं ईसाई धर्म के प्रचार के कारण इन धार्मिक बुराइयों की समाप्ति के लिए प्रयत्न किये गये और अनेक धार्मिक व सुधारवादी आन्दोलन भी हुए जिनके परिणामस्वरूप बहुत कुछ सीमा तक धार्मिक बुराइयां भी समाप्त हुई और धर्म में रूढ़िवाद का अन्त हुआ।

4. **राजनीतिक जीवन में परिवर्तन** (Changes in Political Life)–अंग्रेजों के आने से पूर्व भारत में रियासतें तथा राजे-रजवाड़े थे और छोटे-छोटे भू-क्षेत्रों पर सामन्तों का शासन था। प्रत्येक गाँव में एक ग्राम-पंचायत होती थी जो गाँव का शासन सम्बन्धी कार्य करती थी। शासन कार्य में धार्मिक नियमों का पालन किया जाता था। प्रत्येक सामन्त के शासन के अपने-अपने नियम थे। इस प्रकार अंग्रेजों से पूर्व भारत प्रशासनिक दृष्टि से कई टुकड़ों में बँटा हुआ था और सामन्त लोग परस्पर युद्ध किया करते थे, किन्तु जब भारत में अंग्रेजों का राज्य स्थापित हुआ तो उन्होंने पंचायतों के अधिकार छीन लिए, शासन में धार्मिक सिद्धान्तों का बहिष्कार किया तथा सम्पूर्ण भारत को एक राजनीतिक सत्ता के अधीन संगठित किया। देश के विभिन्न भागों में प्रचलित कानूनों को संहिताबद्ध करवाया और एक समान न्याय-व्यवस्था लागू की। सारे देश के लिए पुलिस एवं फौज की व्यवस्था की गयी। यातायात एवं संचार के नवीन साधनों के कारण प्रशासन का कार्य सरल हो गया। सन्देशवाहन व यातायात के नवीन साधनों, नयी शिक्षा प्रणाली, प्रेस व अखबार एवं विदेशों से सम्पर्क के कारण भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना एवं राजनीतिक जागृति पैदा हुई भारत के विभिन्न क्षेत्रों में निवास करने वाले लोग अपने धर्म, जाति, प्रजातीय एवं प्रान्तीय भेदभाव भुलाकर संगठित हुए और भारत से अंग्रेजों को खदेड़ दिया। अंग्रेजों ने ही भारतीयों को आधुनिक प्रजातन्त्र और संसदीय प्रणाली से परिचित कराया तथा वर्तमान नौकरशाही भी भारत को उन्हीं की देन है।

क्या आप जानते हैं राजनीतिक क्षेत्र में अंग्रेजों के कारण भारत को कई उपलब्धियाँ हुईं साथ ही भाषावाद, प्रान्तवाद, क्षेत्रवाद, साम्प्रदायिकता एवं जातिवाद की भावनाओं ने भी यहां जोर पकड़ा।

5. **साहित्य के क्षेत्र में परिवर्तन** (Changes in the field of Literature)–पश्चिमीकरण का भारतीय साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा क्योंकि अंग्रेजी साहित्य विश्व-प्रसिद्ध समृद्ध साहित्य है। अंग्रेजी भाषा के द्वारा भारतीय विद्वान विश्व के अन्य साहित्यकारों के बारे में जानकारी प्राप्त करने में समर्थ हुए और हिन्दी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य भी समृद्ध हुए। अंग्रेजी भाषा के अनेक शब्दों का प्रयोग भारतीयों द्वारा किया जाने लगा। हिन्दी में कहानियों, उपन्यासों, लेखों तथा गद्य-साहित्य का प्रयोग बढ़ा।

6. **ललित कला में परिवर्तन** (Changes in Fine Arts)–ललित कला के क्षेत्र में भी पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव पड़ा।

स्थापत्य कला–अंग्रेजों द्वारा भारत के प्रमुख नगरों में भवन-निर्माण का कार्य करवाया गया जिसमें गॉथिक रोमन तथा विक्टोरिया युग की स्थापत्य कला का सम्मिश्रण पाया जाता है। कोलकाता का विक्टोरिया मेमोरियल पाश्चात्य स्थापत्य कला का एक जीता-जागता उत्कृष्ट नमूना है। उदयपुर, जोधपुर, बीकानेर, मैसूर, दिल्ली आदि में निर्मित कई इमारतों व मन्दिरों में भारतीय और पाश्चात्य कला दोनों का अभिनव मिश्रण देखने को मिलता है। मुम्बई तथा कोलकाता में ऐसे केन्द्रों की स्थापना की गयी जिनमें नवीन ढंग के भवनों के चित्रों व नमूनों को प्रस्तुत किया गया।

नोट

चित्रकला–ब्रिटिश शासकों ने भारत में शिक्षा के साथ-साथ कला-केन्द्रों की भी स्थापना की जहाँ पाश्चात्य परम्पराओं के अनुसार ड्राइंग, मॉडल व चित्र आदि बनाने का प्रशिक्षण दिया जाने लगा। इसका प्रभाव भारतीय चित्रकला पर भी पड़ा और चित्रकला के क्षेत्र में भारतीयों में जागृति पैदा हुई है। **ई.बी. हैवेल** ने भारतीय चित्रकला का पुनर्निर्माण किया। 1903-04 में रवीन्द्रनाथ टैगोर ने पाश्चात्य एवं भारतीय कला शैली के मिश्रण से एक नवीन शैली तैयार की जिसे 'बंगाल-शैली' कहा जाता है। गुजरात व अहमदाबाद में भी कई चित्रकार उत्पन्न हुए। नन्दलाल बोस, रविशंकर रावल, कनु देसाई, हल्डनकर तथा गंगोली आदि ऐसे चित्रकार हैं जो पश्चिमी शैली से प्रभावित थे।

नृत्य तथा संगीत कला में परिवर्तन–अंग्रेजों के भारत में आने से पूर्व नृत्य एवं संगीत का क्षेत्र संकुचित हो गया था और यह कुछ राजघरानों तक ही सीमित रह गया था, किन्तु पश्चिमी प्रभाव के कारण नृत्य एवं संगीत के क्षेत्र में जागृति आयी। इस क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ टैगोर प्रमुख व्यक्ति थे जिनके संगीत को 'रबीन्द्र संगीत' के नाम से जाना जाता है। पाश्चात्य संगीत से भारतीय शास्त्रीय संगीत तो अप्रभावित रहा। किन्तु सामान्य संगीत पर इसका बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। फिल्मों में पाश्चात्य धुन, यन्त्रों एवं नृत्यों का प्रचलन बढ़ा। पार्टियों, क्लबों तथा संगीत सभाओं में हमें पाश्चात्य धुनें अधिक सुनने को मिलेंगी।

7. **शिक्षा के क्षेत्र में परिवर्तन** (Changes in Educational Field)–परम्परात्मक भारत में शिक्षा की गुरुकुल प्रणाली प्रचलित थी। शिक्षा सभी लोगों के लिए उपलब्ध नहीं थी वरन् एक विशेष जाति (ब्राह्मणों) तक ही सीमित थी। अन्य लोग अपने जातीय व्यवसाय की ही शिक्षा ग्रहण करते थे और वह भी अपने परिवार में ही, किन्तु जब अंग्रेज भारत में आये तो उन्हें राजकाज चलाने के लिए अंग्रेजी पढ़े-लिखे बाबुओं की आवश्यकता महसूस हुई और उन्होंने अंग्रेजी शिक्षण संस्थाएँ स्थापित कीं। अंग्रेजों ने यहां सार्वभौमिक शिक्षा प्रणाली प्रारम्भ की। अब सभी वर्गों एवं जातियों के व्यक्ति अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने लगे। इससे शिक्षा का प्रसार हुआ। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों को राजकीय सेवा में प्राथमिकता दी गयी। इस शिक्षा में उदारवाद, धर्म-निरपेक्षवाद, विज्ञानवाद, प्रजातन्त्र, समानता व स्वतन्त्रता के आदर्श निहित थे। अत: इस शिक्षा को ग्रहण करने के बाद भारतीयों के विचारों, आदर्शों, मूल्यों एवं जीवन-शैली में परिवर्तन आया। अंग्रेजी शिक्षा के कारण अनेक धार्मिक एवं सामाजिक कुरीतियों, अन्धविश्वासों एवं आडम्बरों का अन्त हुआ क्योंकि पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त विद्वानों ने धार्मिक एवं सामाजिक सुधार के आन्दोलन चलाये। वर्तमान में की जाने वाली कृषि, विज्ञान, चिकित्सा, इंजीनियरिंग, कानून आदि की शिक्षा और विभिन्न प्रकार का प्रशिक्षण भी अंग्रेजों की ही देन है।

8. **आर्थिक क्षेत्र में परिवर्तन** (Changes in Economic Field)–अंग्रेजों के भारत में आने से पूर्व भारतीय अर्थव्यवस्था एक ग्रामीण अर्थव्यवस्था थी जो कृषि एवं कुटीर व्यवसायों पर आधारित थी। प्रत्येक गाँव लगभग एक स्वतन्त्र आत्मनिर्भर इकाई था। गाँवों में उत्पादन स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार ही होता था। साप्ताहिक हाट एवं बाजारों या मेलों के अवसर पर आस-पास के लोग अपने द्वारा उत्पादित वस्तुओं को बेचने आ जाते थे। उत्पादन मानव व पशु शक्ति के द्वारा छोटे पैमाने पर होता था, किन्तु अंग्रेजों ने भारत में बड़े-बड़े कारखाने स्थापित किये जिनमें उत्पादन जड़ शक्ति द्वारा मशीनों की सहायता से तीव्र गति व बड़े पैमाने पर होने लगा। अब स्थानीय, प्रान्तीय व राष्ट्रीय ही नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों के लिए उत्पादन होने लगा। यातायात एवं संचार के साधनों ने औद्योगीकरण में सहायता प्रदान की और कच्चे माल को कारखानों तक तथा बने माल को मण्डियों तक पहुंचाने में सहायता की। औद्योगीकरण के कारण कुटीर व्यवसाय नष्ट हो गये क्योंकि गृह-उद्योगों में बना माल मशीन से बने माल का मुकाबला नहीं कर सका। औद्योगीकरण के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि हुई कृषि में भी आधुनिक यन्त्रों, खाद व बीजों का प्रयोग होने लगा जिससे उत्पादन बढ़ा। किसान आर्थिक फसलें, जैसे तिलहन, गन्ना, कपास, जूट, तम्बाकू आदि की अधिकाधिक खेती करने लगे।

नोट

नोट्स ब्रिटिश शासन ने भूमि व्यवस्था में परिवर्तन किया और जमींदारी प्रथा लागू की जिसके परिणामस्वरूप किसानों की आर्थिक दशा गिरती गयी। औद्योगीकरण के कारण व्यापार में वृद्धि हुई, बैंकों की स्थापना हुई, श्रम-विभाजन और विशेषीकरण पनपा तथा पूंजीवादी व्यवस्था ने जन्म लिया।

9. **मानवतावाद** (Humanitarianism)**–डॉ. श्रीनिवास** का मत है कि पश्चिमीकरण ने भारत को मानवतावादी मूल्य प्रदान किया। मानवतावाद का अर्थ है किसी धर्म, जाति, लिंग, आयु तथा आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखे बिना सभी लोगों के कल्याण में समान रुचि रखना। प्राचीन भारत में प्रचलित कानूनों में समान अपराध के लिए समान दण्ड की व्यवस्था नहीं थी वरन् धर्म, जाति एवं पद के आधार पर अलग-अलग प्रकार का दण्ड दिया जाता था। अंग्रेजों ने विषमता को समाप्त कर सारे देश में समान कानून लागू किया और उसे मानवतावादी आधार प्रदान किया। मानवतावाद में दो तत्व सम्मिलित हैं–समतावाद एवं लौकिकीकरण। मानवतावाद के अन्तर्गत भारत में अंग्रेजों के द्वारा उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में किये गये अनेक सुधार सम्मिलित हैं। उन्होंने सभी धर्मों, जातियों व प्रजातियों के लिए समान शिक्षा की व्यवस्था की। स्कूल, अस्पताल एवं अनाथालयों की स्थापना की गयी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पश्चिमीकरण के प्रभाव के कारण भारतीय समाज और संस्कृति में अनेक परिवर्तन हुए और उनका परम्परागत स्वरूप बदला।

पश्चिमीकरण : एक आलोचनात्मक दृष्टिकोण (Westernisation : A Critical View)

अनेक समाजशास्त्रियों एवं सामाजिक मानवशास्त्रियों ने पश्चिमीकरण की अवधारणा की आलोचना की है। **लर्नर** की मान्यता है कि पश्चिमीकरण अनुपयुक्त एवं संकुचित अवधारणा है क्योंकि रूसी साम्यवाद भी एक शक्तिशाली आधुनिकीकरण करने वाला प्रारूप है। **डॉ. श्रीनिवास** का पश्चिमीकरण से तात्पर्य भारत पर ब्रिटिश प्रभाव से है, लेकिन यह बहुत संकुचित प्रारूप है। इसका कारण यह है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारत पर रूसी और अमरीकी प्रारूपों का प्रभाव भी स्पष्टत: पड़ रहा है। **डॉ. योगेन्द्र सिंह** ने बताया है कि भारत में नवीन अभिजात-वर्ग के बहुत-से लोगों के लिए और साथ ही एशिया के भी नये राज्यों में पश्चिमीकरण एक निदानात्मक अर्थ लिए हुए है, क्योंकि वह पश्चिम के द्वारा इन देशों के पूर्ववर्ती औपनिवेशिक शासन से सम्बन्धित रहा है। यह, इसलिए आधुनिकीकरण की बजाय अधिक मूल्य-भारयुक्त (Value-loaded) है और यही कारण है कि आधुनिकीकरण हमें अधिक उत्तम विकल्प प्रतीत होता है।

देवराज चेन्ना पश्चिमीकरण को एक सरल प्रक्रिया नहीं मानते हैं। आपका कथन है कि वर्तमान में (पंजाब की स्थिति) यह कहना अधिक उपयुक्त है कि भारतीयकरण की प्रक्रिया चालू है, इससे हमारा तात्पर्य बाह्य बातों में काफी सीमा तक पश्चिमीकरण से तथा अधिकांशत: भारतीय मूल्यों, जो पश्चिम में मानवतावादी मूल्यों के साथ मिश्रित हैं, पर पुन: जोर देने से है। **डॉ. योगेन्द्र सिंह** का कथन है कि **"संस्कृतीकरण और पश्चिमीकरण ऐसी अवधारणाएँ हैं जिनमें सैद्धान्तिक दृष्टि से निश्चितता का अभाव है, लेकिन सत्यता पर जोर देने वाली अवधारणाओं के रूप में उनमें काफी उपयुक्तता और व्यवहार्यता है।" ये अवधारणाएँ आनुभविक अवलोकनों पर आधारित हैं और सांस्कृतिक परिवर्तनों के कई पक्षों के सम्बन्ध में अन्तर्दृष्टि प्रदान करती हैं। ये अवधारणाएँ सांस्कृतिक परिवर्तन का ही विश्लेषण कर पाती हैं, परन्तु सामाजिक संरचना में होने वाले परिवर्तनों की व्याख्या नहीं।** स्वयं **डॉ. श्रीनिवास** ने माना है कि संस्कृतीकरण तथा पश्चिमीकरण के माध्यम से आधुनिक भारत में होने वाले सामाजिक परिवर्तनों का वर्णन सांस्कृतिक दृष्टि से ही किया जा सकता है न कि संरचनात्मक दृष्टि से। हम **बी. कुप्पूस्वामी** के इन विचारों से सहमत हैं कि संस्कृतीकरण और पश्चिमीकरण की अवधारणाएँ हमें उन्नीसवीं शताब्दी के बाद वाले पचास वर्षों और बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों में सतही परिवर्तन प्रक्रियाओं को समझने में मदद करती हैं। भारतीय समाज में चल रही परिवर्तन-प्रक्रियाओं का विश्लेषण करने में सहायता प्रदान करने की दृष्टि से इन अवधारणाओं की उपयुक्तता काफी सीमित है।

नोट

8.5 सारांश (Summary)

- दक्षिण भारत के कुर्ग लोगों के सामाजिक और धार्मिक जीवन के विश्लेषण में प्रसिद्ध भारतीय समाजशास्त्री प्रो. एम.एन. श्रीनिवास ने संस्कृतीकरण अवधारणा का सर्वप्रथम प्रयोग किया।
- डॉ. श्रीनिवास ने पश्चिमीकरण शब्द का प्रयोग उन परिवर्तनों को प्रकट करने के लिए किया है जो भारत में 19वीं तथा 20वीं शताब्दी में अंग्रेजी शासनकाल की अवधि में हुए।

8.6 शब्दकोश (Keywords)

1. **पश्चिमीकरण (Westernisation)**—पाश्चात्य संस्कृति के संघात द्वारा उत्पन्न सामाजिक प्रक्रिया को पश्चिमीकरण की संज्ञा दी गई है।
2. **संस्कृतीकरण (Sanskritisation)**—डॉ. एम.एन. श्रीनिवास के अनुसार, "यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके अनुसार निम्न हिंदू जातियाँ या जनजातीय समूह उच्च अथवा द्विज कही जाने वाली जातियों की दिशा में अपनी प्रथाओं, संस्कारों, विचारों तथा जीवन-शैली को बदलने का यत्न करती हैं।"

8.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. संस्कृतीकरण की अवधारणा को समझाएं।
2. पश्चिमीकरण का क्या अभिप्राय है?

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. जाति-प्रथा
2. परम्परात्मक हिन्दू समाज
3. भारत।

8.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें
1. विकास का समाजशास्त्र – *वन्दना वोहरा, ओमेगा पब्लिकेशन।*
2. विकास का समाजशास्त्र – *एम. अहमद, न्यू एज इन्टरनेशनल।*
3. विकास का समाजशास्त्र – *कैलाश प्यास, पेनक्राफ्ट इन्टरनेशनल।*

नोट

इकाई–9: परिवर्तन की प्रक्रिया : आधुनिकीकरण और लौकिकीकरण (Process of Change : Modernisation and Secularisation)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
9.1 आधुनिकीकरण (Modernisation)
9.2 लौकिकीकरण (Secularisation)
9.3 लौकिकीकरण की विशेषताएँ (Characteristics of Secularisation)
9.4 सारांश (Summary)
9.5 शब्दकोश (Keywords)
9.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
9.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- आधुनिकीकरण के अर्थ को समझना।
- लौकिकीकरण की अवधारणा की जानकारी।

प्रस्तावना (Introduction)

परम्परात्मक समाजों में होने वाले परिवर्तनों या औद्योगीकरण के कारण पश्चिमी समाजों में आये परिवर्तनों को समझने तथा दोनों में भिन्नता प्रकट करने के लिए विद्वानों ने आधुनिकीकरण की अवधारणा को जन्म दिया। एक तरफ उन्होंने परम्परात्मक समाज को रखा और दूसरी तरफ आधुनिक समाज को। इस प्रकार उन्होंने परम्परात्मक बनाम आधुनिकता को जन्म दिया। इसके साथ ही जब पाश्चात्य विद्वान उपनिवेशों एवं विकासशील देशों में होने वाले परिवर्तनों की चर्चा करते हैं तो वे आधुनिकीकरण की अवधारणा का सहारा लेते हैं।

9.1 आधुनिकीकरण (Modernisation)

कुछ लोगों ने आधुनिकीकरण को एक प्रक्रिया के रूप में माना है, तो कुछ ने एक प्रतिफल के रूप में आइजनस्टैंड ने इसे एक प्रक्रिया मानते हुए लिखा है, "ऐतिहासिक दृष्टि से आधुनिकीकरण उस प्रकार की सामाजिक, आर्थिक

नोट

एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं की ओर परिवर्तन की प्रक्रिया है जो सत्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक पश्चिमी यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका में और बीसवीं शताब्दी तक दक्षिणी अमेरिका, एशियाई व अफ्रीकी देशों में विकसित हुई" आधुनिकीकरण की प्रक्रिया किसी एक ही दिशा या क्षेत्र में होने वाले परिवर्तन को प्रकट नहीं करती वरन् यह एक बहु-दिशा वाली प्रक्रिया है। साथ ही यह किसी भी प्रकार के मूल्यों से भी बंधी हुई नहीं है। परन्तु कभी-कभी इसका अर्थ अच्छाई और इच्छित परिवर्तन से लिया जाता है। उदाहरण के लिए, जब कोई यह कहता है कि सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक संस्थाओं का आधुनिकीकरण हो रहा है, तब उसका उद्देश्य आलोचना करना नहीं वरन् अच्छाई बताना है।

आधुनिकीकरण की अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए अब तक कई पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों ने समय-समय पर अपने विचार प्रकट किया है और इस अवधारणा को अनेक नामों से सम्बोधित किया है। आधुनिकीकरण पर अपने विचार प्रकट करने वाले विद्वानों में कुछ प्रमुख ये हैं: **वाईनर, एपटर, लर्नर, ब्लैक, एलेक्स इन्कलेक्स, ए.आर. देसाई, वाई सिंह, एम.एन. श्रीनिवासन्, एडवर्ड शिल, डब्ल्यू. सी. स्मिथ आदि।** आधुनिकीकरण शब्द के पर्यायवाची रूप में अंग्रेजीकरण, यूरोपीकरण, पाश्चात्यकरण, शहरीकरण, उद्विकास, विकास, प्रगति आदि शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। औद्योगीकरण, नगरीकरण एवं पश्चिमीकरण की तरह आधुनिकीकरण भी एक जटिल प्रक्रिया है।

बैनडिक्स के अनुसार, "आधुनिकीकरण से मेरा तात्पर्य उस किस्म के सामाजिक परिवर्तनों से है जो 1760-1830 में इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति तथा 1789-1794 में फ्रांस की राजनैतिक क्रान्ति के दौरान उत्पन्न हुए।" वर्तमान प्रजातन्त्र, शिक्षा-प्रणाली और औद्योगिक क्रान्ति का प्रारम्भ अधिकांश पश्चिमी देशों में ही हुआ। अत: यदि उन परिवर्तनों का जो सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और अन्य क्षेत्रों में पश्चिमी देशों में हुए, दूसरे देशों में अनुकरण होता है तो वह आधुनिकीकरण के नाम से जाना जायेगा। अत: इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि प्रारम्भ में आधुनिकीकरण का प्रारूप पश्चिमी देश ही रहे हैं, अब चाहे रूस, चीन, जापान या अन्य देश में आधुनिकीकरण के आदर्श के रूप में हों। **रूडोल्फ** एवं **रूडोल्फ** ने भी इस बात की पुष्टि की है। **लर्नर** का मत है कि पश्चिमी मॉडल केवल ऐतिहासिक दृष्टि से पश्चिमी है, समाजशास्त्रीय दृष्टि से विश्वव्यापी।

मैरियन जे.लेवी ने आधुनिकीकरण को प्रौद्योगिक वृद्धि के रूप में परिभाषित किया है, "मेरी आधुनिकीकरण की परिभाषा शक्ति के जड़ स्रोतों और प्रयत्न के प्रभाव को बढ़ाने के लिए उपकरणों के प्रयोग पर आधारित है। इन दो तत्वों में से प्रत्येक को सातत्य का आधार मानता हूँ।" उपरोक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि **लेवी** ने शक्ति के जड़ स्रोत जैसे, पैट्रोल, डीजल, कोयला जल-विद्युत और अणु-शक्ति और यन्त्रों के प्रयोग को आधुनिकीकरण के आधार के रूप में माना है।

नोट्स किसी समाज विशेष को कितना आधुनिक कहा जायेगा; यह इस बात पर निर्भर करता है कि वहां जड़ शक्ति तथा यन्त्रों का कितना प्रयोग हुआ है।

डॉ. योगेन्द्र सिंह ने बताया है कि साधारणत: आधुनिक होने का अर्थ 'फैशनेबल' से लिया जाता है। वे आधुनिकीकरण को एक सांस्कृतिक प्रयत्न मानते हैं जिसमें तार्किक अभिवृत्ति, सार्वभौम, दृष्टिकोण, परानुभूति, वैज्ञानिक विश्व दृष्टि, मानवता, प्रौद्योगिक प्रगति आदि सम्मिलित हैं। **डॉ. सिंह** आधुनिकीकरण पर किसी एक ही जातीय समूह या सांस्कृतिक समूह का स्वामित्व नहीं मानते वरन् सम्पूर्ण मानव समाज का अधिकार मानते हैं।

डेनियल लर्नर ने अपनी पुस्तक 'दी पासिंग ऑफ ट्रेडिशनल सोसायटी : मॉडर्नाईजिंग दा मीडिल ईस्ट' में आधुनिकीकरण का पश्चिमी मॉडल स्वीकार किया है। वे आधुनिकीकरण में निहित निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख करते हैं :

(अ) बढ़ता हुआ नगरीकरण

(ब) बढ़ती हुई साक्षरता

नोट

(स) बढ़ती हुई साक्षरता विभिन्न साधनों जैसे समाचारपत्रों, पुस्तकों, रेडियो आदि के प्रयोग द्वारा शिक्षित लोगों के अर्थपूर्ण विचार-विनिमय में सहभागिता को बढ़ाती है।

(द) इन सभी से मनुष्य की क्षमता में वृद्धि होती है, राष्ट्र का आर्थिक लाभ होता है जो प्रति व्यक्ति आय को बढ़ाने में योग देता है।

(य) यह राजनैतिक जीवन की विशेषताओं को उन्नत करने में सहायता देता है।

लर्नर उपर्युक्त विशेषताओं का शक्ति, तरुणाई, निपुणता तथा तार्किकता के रूप में व्यक्त करते हैं। वे आधुनिकीकरण को प्रमुखत: मस्तिष्क की एक स्थिति के रूप में स्वीकार करते हैं, प्रगति की अपेक्षा, वृद्धि की ओर झुकाव तथा परिवर्तन के अनुरूप अपने को ढालने की तत्परता के रूप में मानते हैं। परानुभूति भी आधुनिकीकरण का एक मुख्य तत्व है जिसमें अन्य लोगों के सुख-दु:ख में भाग लेने और संकट के समय उनको सहायता देने की प्रवृत्ति बढ़ती है।

आइजनस्टेड ने अपनी पुस्तक आधुनिकीकरण : विरोध एवं परिवर्तन में विभिन्न क्षेत्रों में आधुनिकीकरण को निम्न प्रकार से व्यक्त किया है–

(अ) आर्थिक क्षेत्र में–प्रौद्योगिकी का उच्च स्तर।

(ब) राजनीतिक क्षेत्र में–समूह में शक्ति का प्रसार तथा सभी वयस्कों को शक्ति प्रदान करना (मताधिकार द्वारा) एवं संचार के साधनों द्वारा प्रजातन्त्रों में भाग लेना।

(स) सांस्कृतिक क्षेत्र में–विभिन्न समाजों के साथ अनुकूलन की क्षमता में वृद्धि तथा दूसरे लोगों की परिस्थितियों के प्रति परानुभूति में वृद्धि।

(द) संरचना के क्षेत्र में–सभी संगठनों के आकार का बढ़ना, उनमें जटिलता एवं विभेदीकरण की दृष्टि से वृद्धि।

(य) परिस्थितिकीय क्षेत्र में–नगरीकरण में वृद्धि।

सी. ई. ब्लेक ने आधुनिकीकरण को ऐतिहासिक रूप में स्वीकार किया है और इसे परिवर्तन की एक ऐसी प्रक्रिया माना है जो पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अमेरिका में सत्रहवीं सदी में विकसित, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक व्यवस्थाओं से बीसवीं सदी के अमेरिका तथा यूरोप आदि देशों की ओर अग्रसर हो चुकी है। आधुनिकीकरण एक ऐसी मनोवृत्ति का परिणाम है जिसमें यह विश्वास किया जाता है कि समाज को बदला जा सकता है और बदला जाना चाहिए तथा परिवर्तन वांछनीय है। आधुनिकीकरण में व्यक्ति को संस्थाओं के बदलते हुए कार्यों के अनुरूप समायोजन करना होता है, इससे व्यक्ति के ज्ञान में वृद्धि होती है जिसके परिणामस्वरूप वह पर्यावरण पर नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है। **ब्लेक** के अनुसार, आधुनिकीकरण का प्रारम्भ तो यूरोप व अमेरिका से हुआ परन्तु बीसवीं सदी तक इसका प्रसार सम्पूर्ण विश्व में हो गया और इसने मानवीय सम्बन्धों के स्वरूप को ही परिवर्तित कर दिया।

डॉ. एम.एन. श्रीनिवास ने 'सोशल चेन्ज इन मॉडर्न इन्डिया (1966) तक मॉर्डनाईजेशन : ए "फ्यू क्यूरीज' (1969) में आधुनिकीकरण के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। आप आधुनिकीकरण को एक तटस्थ शब्द नहीं मानते। आपके अनुसार आधुनिकीकरण का अर्थ अधिकांशत: 'अच्छाई' से लिया जाता है। किसी भी पश्चिमी देश के प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्पर्क के कारण किसी गैर-पश्चिमी देशों में होने वाले परिवर्तनों के लिए प्रचलित शब्द आधुनिकीकरण है। आप आधुनिकीकरण में निम्नलिखित बातों को सम्मिलित करते हैं: बढ़ा हुआ नगरीकरण, साक्षरता का प्रसार, प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि, वयस्क मताधिकार तथा तर्क का विकास।

डॉ. श्रीनिवास ने आधुनिकीकरण के तीन प्रमुख क्षेत्र बताये हैं :

1. भौतिक संस्कृति का क्षेत्र (इसमें तकनीक भी सम्मिलित की जाती है);
2. सामाजिक संस्थाओं का क्षेत्र; और
3. ज्ञान, मूल्य एवं मनोवृत्तियों का क्षेत्र।

ऊपरी तौर पर तो ये तीनों क्षेत्र भिन्न-भिन्न मालूम पड़ते हैं, परन्तु ये परस्पर सम्बन्धित हैं। एक क्षेत्र में होने वाले परिवर्तन दूसरे क्षेत्र को भी प्रभावित करते हैं।

नोट

बी.वी. शाह ने 'प्रोबलम आफ मॉडर्नाईजेशन आफ एजुकेशन इन इंडिया,' (1969) नामक लेख में आधुनिकता पर अपने विचार प्रकट किये हैं। शाह आधुनिकीकरण को बहु-दिशीय प्रक्रिया मानते हैं जो आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि सभी क्षेत्रों में व्याप्त है।

(अ) आर्थिक क्षेत्र में आधुनिकीकरण का अर्थ है—औद्योगीकरण का बढ़ना, अधिक उत्पादन, मशीनीकरण, मुद्रीकरण व शहरीकरण में वृद्धि। व्यक्ति व सामूहिक सम्पत्ति में भेद किया जाता है। रहने और काम करने के स्थान अलग-अलग होते हैं। लोगों को व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता होती है। उनमें तर्क और गतिशीलता की वृद्धि होती है। आय, खरीद, बचत तथा पूंजी लगाने के क्षेत्र में नये दृष्टिकोण का विकास होता है।

(ब) राजनैतिक क्षेत्र में धर्म-निरपेक्ष व कल्याण राज्य की स्थापना होती है जो शिक्षा, स्वास्थ्य, मकान एवं रोजगार की व्यवस्था करता है। कानून के समक्ष सभी को समानता प्रदान की जाती है तथा सरकार को चुनने अथवा बदलने में स्वतन्त्रता व्यक्त करने की छूट होती है।

(स) सामाजिक क्षेत्र में संस्तरण की खुली व्यवस्था होती है। प्रदत्त पद के स्थान पर अर्जित पदों का महत्त्व होता है तथा सभी को अवसर की समानता दी जाती है। विवाह, धर्म, परिवार तथा व्यवसाय के क्षेत्र में वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर बल दिया जाता है।

(द) वैयक्तिक क्षेत्र में सामाजिक परिवर्तन के लिए मानव प्रयत्नों में विश्वास किया जाता है। धर्म-निरपेक्ष, तार्किक, वैज्ञानिक और विश्वव्यापी दृष्टिकोण का विकास होता है। सामाजिक समस्याओं के प्रति समानतावादी और स्वतन्त्रतात्मक दृष्टिकोण अपनाया जाता है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. ..... एक ऐसी मनोवृत्ति का परिणाम है जिसमें यह विश्वास किया जाता है कि समाज को बदला जा सकता है।
2. ..... में आधुनिकीकरण के संबंध में अपने विचार व्यक्त किए हैं।
3. ..... आधुनिकीकरण को बहु-दिशीय प्रक्रिया मानते हैं जो आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि सभी क्षेत्रों में व्याप्त है।

ए.आर. देसाई आधुनिकीकरण का प्रयोग केवल सामाजिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं बल्कि जीवन के सभी पहलुओं तक विस्तृत मानते हैं।

बौद्धिक क्षेत्र में आधुनिकीकरण का अर्थ तर्क-शक्ति का बढ़ना है। भौतिक व सामाजिक घटनाओं की तार्किक व्याख्या की जाती है। ईश्वर को आधार मानकर किसी भी घटना को स्वीकार नहीं किया जाता। धर्मनिरपेक्ष तार्किकता का ही परिणाम है जिसके फलस्वरूप अलौकिक जाति के स्थान पर इस दुनिया का दृष्टिकोण पनपता है।

सामाजिक क्षेत्र में–

(अ) सामाजिक गतिशीलता बढ़ती है। पुरानी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा मनोवैज्ञानिक धारणाओं को तोड़ कर व्यक्ति नये प्रकार के व्यवहार को अपनाने को प्रस्तुत होता है।

(ब) सामाजिक संरचना में परिवर्तन—व्यक्ति के व्यावसायिक एवं राजनैतिक कार्यों में परिवर्तन आता है, प्रदत्त के स्थान पर अर्जित पदों का महत्त्व बढ़ता है।

(स) समाज की केन्द्रीय कानूनी, प्रशासकीय तथा राजनैतिक संस्थाओं का विस्तार एवं प्रसार।

(द) प्रशासकों द्वारा जनता की भलाई की नीति अपनाना।

नोट

सांस्कृतिक क्षेत्र में–

(अ) शिक्षा का विस्तार तथा विशेष प्रकार की शिक्षा देने वाली संस्थाओं में वृद्धि।

(ब) नये सांस्कृतिक दृष्टिकोण का विकास जो उन्नति व सुधार, योग्यता सुख अनुभव व क्षमता पर जोर दे।

(स) सभी प्रकार के समाजों के साथ समायोजन करने की धारणा का विकास, रूचि का बढ़ना, दूसरे लोगों के प्रति परानुभूति का बढ़ना, दूसरों का सम्मान करना, ज्ञान व तकनीकी में विश्वास पैदा होना तथा व्यक्ति को उसके कार्य का प्रतिफल मिलना और मानवतावाद में विश्वास।

(द) समाज द्वारा ऐसी संस्थाओं और योग्यताओं का विकास करना जिससे कि लगातार बदलती हुई मांगों और समस्याओं से समायोजन किया जा सके।

इस प्रकार **श्री देसाई** ने आधुनिकीकरण को एक विस्तृत क्षेत्र के सन्दर्भ में देखा है जिसमें समाज व संस्कृति के सभी पहलू आ जाते हैं।

आधुनिकीकरण पर भारतीय और पश्चिमी विद्वानों के उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि उन्होंने इस अवधारणा का प्रयोग परम्परात्मक, पिछड़े तथा उपनिवेश वाले देशों की पश्चिमी, पूंजीवादी एवं औद्योगीकरण व शहरीकरण कर रहे देशों के साथ तुलना करने के लिए किया है जो कि उनमें हो रहे नवीन परिवर्तनों की ओर इंगित करती है। बौद्धिक क्षेत्र में आधुनिकीकरण का अर्थ भौतिक एवं सामाजिक घटनाओं की तार्किक व्याख्या करना तथा उन्हें कार्य-कारण के आधार पर स्वीकार करना है। सामाजिक क्षेत्र में आधुनिकीकरण होने पर गतिशीलता बढ़ती है, पुरानी प्रथाओं के स्थान पर नवीन मूल्य पनपते हैं, जटिल संस्थाओं का जन्म होता है, परिवार, रक्त-सम्बन्ध आदि में शिथिलता आती है। राजनैतिक क्षेत्र में सत्ता को अलौकिक शक्ति की देन नहीं माना जाता, सत्ता का लोगों में विकेन्द्रीकरण और वयस्क मताधिकार द्वारा सरकार का चयन होता है। आर्थिक क्षेत्र में मशीनों का उपयोग बढ़ता है तथा उत्पादन जड़-शक्ति के प्रयोग द्वारा होता है। यातायात के साधनों का विकास होता है और औद्योगीकरण बढ़ता है।

क्या आप जानते हैं परिस्थिति जन्य क्षेत्र में नगरीकरण बढ़ता है। सांस्कृतिक क्षेत्र में आधुनिकीकरण का तात्पर्य नये सांस्कृतिक दृष्टिकोण का विकास और व्यक्ति में नवीन गुणों के प्रादुर्भाव से है।

विभिन्न विद्वानों के उपर्युक्त विचारों से आधुनिकीकरण की निम्नलिखित विशेषताओं का पता चलता है :

घटनाओं की विवेकपूर्ण व्याख्या, सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि, धर्म-निरपेक्षता व लौकिकीकरण, वयस्क मताधिकार द्वारा राजनैतिक सत्ता का लोगों में हस्तांतरण, बढ़ता हुआ नगरीकरण, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, औद्योगीकरण, प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि, शिक्षा का प्रसार, परानुभूति, जड़ शक्ति का प्रयोग, नवीन व्यक्तित्व का विकास, प्रदत्त के स्थान पर अर्जित पदों का महत्त्व, वस्तु-विनियम के स्थान पर द्रव्य-विनियम, व्यवसायों में विशिष्टता, यातायात एवं संचार व्यवस्था का विकास, चिकित्सा एवं स्वास्थ्य में वृद्धि तथा प्राचीन कृषि विधि के स्थान पर नवीन विधियों का प्रयोग।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिकीकरण एक जटिल प्रक्रिया है जिसमें अनेक तत्वों का समावेश है तथा जो जीवन के भौतिक, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं बौद्धिक सभी पहलुओं से सम्बन्धित है। यह अवधारणा हमें परम्परात्मक समाजों में होने वाले परिवर्तनों को समझने में योगदान देती है। आज विश्व में कहीं परम्परात्मक समाज दिखलाई पड़ता है, तो कहीं आधुनिक समाज। इनकी तुलना करने तथा परिवर्तन की प्रकृति और दिशा को समझने में यह अवधारणा उपयोगी है।

9.2 लौकिकीकरण (Secularisation)

लौकिकीकरण वह प्रक्रिया है जिसके परिणामस्वरूप किसी समाज में धर्म के आधार पर सामाजिक व्यवहार में भेदभाव समाप्त किया जाता है। धर्मनिरपेक्षीकरण जो बुद्धिवाद पर आधारित है, आधुनिकीकरण के लिये आवश्यक

नोट

है। चूंकि प्रत्येक समाज अब आधुनिकृत होना चाहता है, इसलिए वह धर्मनिरपेक्षीकरण को आश्रय दे रहा है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में जो भी राज्य धर्म निरपेक्ष राज्य नहीं था, आज वहाँ भी धर्म निरपेक्षीकरण की बात की जा रही है।

लौकिकीकरण में धर्म की पुर्नव्याख्या, बुद्धिवाद और उदारवाद का सीधा सम्बन्ध है। **डॉ. श्रीनिवास** ने इस प्रक्रिया का विस्तृत विश्लेषण किया है। धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया प्रत्येक समाज की एक मूलभूत विशेषता हो गयी है। आज से कुछ शताब्दी पूर्व भारत में जिन कृत्यों को धार्मिक तथा पवित्र समझा जाता था आज उन्हें व्यर्थ के रूढ़िवादी अतार्किक व्यवहार के रूप में देखा जाता है, एक धर्म तथा जाति का जो विशेष प्रभाव स्वीकार किया जाता है, अब वह उस प्रकार से प्रभावी नहीं रहा है। विभिन्न विचारकों का मत है कि भारत में धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया को गति देने का श्रेय अंग्रेजी शासन को है।

अंग्रेजी शासन अपने साथ भारतीय सामाजिक जीवन और संस्कृति के लौकिकीकरण की प्रक्रिया भी लाया। यह प्रवृत्ति संचार साधनों के विकास और नगरों की बढ़ी हुई स्थान मूलक गतिशीलता और शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ क्रमशः और भी प्रबल हो गईं दोनों महायुद्धों और महात्मा गांधी के नागरिक अवज्ञा आन्दोलनों ने जन-साधारण को राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि से सक्रिय तो किया ही, लौकिकीकरण की वृद्धि में भी योग दिया। सन् 1947 के बाद भारत में धर्मनिरपेक्षीकरण की प्राप्ति का जो प्रयत्न किया है, वह वास्तव में उल्लेखनीय है। स्वतंत्र भारत के संविधान में यह लिखा हुआ है कि 'भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य होगा।' कानून की दृष्टि में भी नागरिकों में धर्म, जाति, लिंग आदि के आधार पर कोई भेद-भाव नहीं होगा।

नोट्स संसद सभा विधानसभाओं के लिये चुनाव बालिग मताधिकार के आधार पर होगा और भारतीय भू-भागों का विकास निष्पक्ष योजनाबद्ध कार्यक्रमों के आधार पर सम्पादित होगा।

शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से यह वह प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति के अस्तित्व, महत्त्व, पहचान या विकास का धर्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं जोड़ा जाता है। धर्मनिरपेक्षीकरण का प्रत्यक्ष सम्बन्ध तार्किक दृष्टिकोण से है। इसके अन्तर्गत विश्व की व्याख्या विशुद्ध चिन्तन के रूप में प्रस्तुत की जाती है। धर्मनिरपेक्षीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा परम्परागत विश्वासों तथा धारणाओं के स्थान पर तार्किक ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। **प्रो. श्रीनिवास** ने स्पष्ट लिखा है कि 'धर्मनिरपेक्षीकरण' में यह बात निहित है कि जिसे पहले धार्मिक माना जाता था, अब वैसा नहीं माना जाता है।" उन्होंने इसका स्पष्टीकरण देते हुए लिखा है कि, उसमें विभेदीकरण की एक प्रक्रिया भी निहित है जिसके परिणामस्वरूप समाज के विभिन्न आर्थिक, राजनीतिक, कानूनी तथा नैतिक पक्ष एक दूसरे के मामले में अधिकाधिक सावधान होते जा रहे हैं इस प्रकार **श्रीनिवास** ने लौकिकीकरण को मात्र धर्मनिरपेक्षता के अर्थ में नहीं समझा। इसके अनुसार लौकिकीकरण की दो विशेषताएं प्रमुख हैं :

1. प्रथम तो यह प्रक्रिया इस भावना से सम्बन्धित है कि हम पहले जिसे धार्मिक मानते थे उसे अब धर्म की श्रेणी में नहीं रखते ।
2. दूसरी विशेषता यह है कि इस प्रक्रिया के अन्तर्गत हम प्रत्येक तथ्य को तर्क बुद्धि से देखने और समझने का प्रयत्न करते हैं। परम्परागत रूप से हमारे सामाजिक जीवन में इन दोनों विशेषताओं का नितान्त अभाव था। कोई व्यक्ति सामाजिक व्यवस्था की सार्थकता के बारे में तर्क नहीं कर सकता था क्योंकि सम्पूर्ण व्यवस्था को धर्म से मिला दिया गया था।

कन्साईज आक्सफोर्ड शब्दकोष में लौकिकीकरण की कई परिभाषाएँ दी गई हैं। इन परिभाषाओं को लोकवाद, धार्मिक विश्वासों के प्रति सन्देहवाद तथा धार्मिक शिक्षा के प्रति विरोधाभास के रूप में बतलाया गया है, तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय शब्दकोश में लौकिकवाद की निम्न परिभाषा दी गई है—

"(लौकिकवाद) सामाजिक आचारों की एक ऐसी व्यवस्था है जो इस सिद्धान्त पर आधारित है कि आचार सम्बन्धी मापदण्ड तथा व्यवहार विशेष रूप से धर्म से हटकर वर्तमान जीवन तथा सामाजिक कल्याण पर आधारित होने चाहिये।"

नोट

वाटर हाऊस ने "लौकिकीकरण की परिभाषा एक ऐसी वैचारिकी के रूप में की है जो जीवन तथा आचार व्यवहार का एक सिद्धान्त प्रस्तुत करती है, जो धर्म द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के विरुद्ध है। इसका सार भौतिकवादी है। इसकी मान्यता यह है कि मानवीय कल्याण को केवल राष्ट्रीय प्रयासों के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।" लेकिन **बेकर** ने यह मानने से इन्कार किया है कि लौकिकवाद एक धर्मविरोधी अवधारणा है। इनका कहना है कि "लौकिक" "अपवित्र" या इसी प्रकार के अन्य शब्दों का पर्यायवाची नहीं है।" **ब्लेडशील्ड** ने बेकर के इस विचार का समर्थन किया है। इन्होंने बतलाया है कि "लौकिकवाद धार्मिक संस्थाओं का विरोध नहीं करता। न ही यह विधि, राजनीति तथा शिक्षा सम्बन्धी प्रक्रियाओं में धार्मिक उत्प्रेरणाओं का विरोधी है। इसमें तो केवल मनोवृत्तियों के प्रकार्यात्मक विभाजन पर बल दिया जाता है अर्थात् विभिन्न प्रकार की सामाजिक क्रियाओं में शक्तियों का सामाजिक विभाजन।" **ब्लेकशील्ड** का कहना है कि धर्म, शिक्षा तथा विधि को एक दूसरे के क्षेत्र में प्रवेश नहीं करना चाहिये और न ही अपने क्षेत्र की सीमाओं से बाहर जाना चाहिये। जिस सीमा तक धर्म अपनी ही सीमाओं के अन्दर रहता है वहां तक लौकिकवाद की अवधारणा धार्मिक निरपेक्ष मानी जा सकती है। यह न तो धार्मिकता का समर्थन करता है और न ही विरोध।

इस प्रकार लौकिकवाद सामाजिक समस्याओं के क्षेत्र में वह स्थिति है जिसमें विधि तथा शिक्षा धार्मिक संस्थाओं तथा धार्मिक उत्प्रेरणाओं से स्वतन्त्र होते हैं। लौकिकवाद तो एक ऐतिहासिक विकास की अवस्था है जिसमें विधि तथा शिक्षा का धर्म पर आधारित न होना स्थापित हो जाता है।

इस प्रकार यदि लौकिकवाद की विभिन्न परिभाषाओं पर विचार किया जाए तो ऐसे अनेक विषयों की सूची बनाई जा सकती है जिनको इसके अन्तर्गत माना जाता है। जैसे–वैज्ञानिक मानववाद, प्रकृतिवाद और भौतिकवाद, अज्ञेयवाद और प्रत्यक्षवाद, बौद्धिकवाद प्रजातन्त्रवाद तथा साम्यवाद, आशावाद तथा प्रगतिवाद, नैतिक सापेक्षवाद व शून्यवाद आदि।

9.3 लौकिकीकरण की विशेषताएँ (Characteristics of Secularisation)

1. **बुद्धिवाद का विकास**–धर्मनिरपेक्षीकरण के कारण प्रत्येक घटना के लिये धर्म पर आश्रित रहने की बात समाप्त हो जाती है। आदिम व्यक्ति प्रत्येक सामाजिक घटना को धर्म तथा अलौकिक शक्ति की देन मानता था लेकिन जैसे-जैसे बुद्धिवाद का विकास हुआ कार्य-कारण सम्बन्धों की व्याख्या बढ़ी और वास्तविक कारणों की जानकारी के कारण धर्म का महत्त्व कुछ कम हुआ। अब प्रत्येक व्यक्ति तार्किक व्यवहार को उचित मानता है।
2. **धार्मिकता में ह्रास**–धर्मनिरपेक्षीकरण के कारण धार्मिक संस्थाओं का महत्त्व अब कम हुआ है। इसका कारण यह है कि धर्म के नाम पर अब उच्च या निम्न प्रस्थिति का निर्धारण नहीं होता। पहले जो व्यक्ति जितने अधिक धार्मिक कर्मकाण्ड करता था उसे उतना ही अधिक सम्मान दिया जाता था। लेकिन अब उसी व्यक्ति को पिछड़ा हुआ व्यक्ति कहा जाता है जो अपने कार्यों की सफलता को धर्म में ढूँढ़ता है। अत: स्पष्ट है कि जैसे-जैसे धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया आगे बढ़ती है धर्म का महत्त्व कम होता है, और इस प्रकार धार्मिकता में ह्रास होता है।
3. **बढ़ता हुआ विभिन्नीकरण**–पहले प्रत्येक घटना के पीछे धर्म को प्रभावी कारक मान लिया जाता था और प्रत्येक घटना की व्याख्या धर्म के ही आधार पर की जाती थी चाहे वह अपराध हो या बीमारी, मृत्यु हो या प्राकृतिक प्रकोप। लेकिन अब प्रत्येक घटना के अलग-अलग और वास्तविक कारणों की खोज की जाती है जिसमें सामान्यत: धार्मिक और आध्यात्मिक शक्ति के प्रभाव को कम से कम स्वीकारा जाता है। इस स्थिति के कारण विभिन्नीकरण की मात्रा बढ़ जाती है। विशिष्ट प्रकार के कार्य करने वाले अलग-अलग लोग होते हैं। अत: उनमें दूरी स्वाभाविक है।
4. **आधुनिकीकरण की प्राप्ति में सहायक**–वर्तमान में आधुनीकरण की लहर बड़े जोरों पर है। प्रत्येक समाज अब अपने को आधुनिक कहलाना चाहता है। जिसके लिये आवश्यक हो जाता है कि परम्परागत व्यवहारों

नोट

में परिवर्तन लाया जाए। धर्मनिरपेक्षीकरण भी परम्परागत व्यवहारों को बदलता है। यथा–स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व भारत में विभिन्न धर्म और धर्मवाद की भावना खूब फलफूल रही थी। किन्तु स्वतन्त्रता संग्राम से ही जो धर्म धर्मनिरपेक्षीकरण की स्वाभाविक लहर उठी उसने इस प्रयास को बहुत कम कर दिया। स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर ज्यों ही भारत ने अपने को धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया, यहाँ के परम्परागत व्यवहार प्रतिमानों में अमूल परिवर्तन आए। वर्तमान में देश में ऐसे परिवर्तन हो रहे हैं जो सामाजिक विकास और आधुनिकीकरण के लिये आवश्यक हैं। अत: कहा जा सकता है कि धर्मनिरपेक्षीकरण आधुनिकीकरण में सहायक है।

5. **समानता का विकास**–प्राचीन काल में भारतवर्ष में अनेक प्रकार की सामाजिक विभिन्नताएँ पाई जाती थीं। भारत में धर्म, जाति, लिंग आदि के आधार पर विस्तृत विभेद किया जाता था। एक ही प्रकार के अपराध करने पर भिन्न-भिन्न धर्मों में भिन्न-भिन्न दण्ड का प्रावधान था। लेकिन धर्मनिरपेक्षीकरण के कारण इस प्रकार का भेदभाव स्वत: समाप्त हो जाता है और सभी लोगों को समान अवसर सुलभ हो पाते हैं।
6. **एक वैज्ञानिक अवधारणा**–धर्मनिरपेक्षीकरण एक वैज्ञानिक अवधारणा है। धर्म के प्रभाव के कारण कार्य-सम्बन्ध का प्रदर्शन उचित नहीं। अत: लोग अतार्किक हो जाते हैं। धर्मनिरपेक्षीकरण तार्किकता पर प्रबल जोर देता है और उसी चीज को सही कहता है जिसमें कार्य-कारण सम्बन्धों का प्रदर्शन हो।
7. **मानवतावादी और तटस्थ अवधारणा**–धर्मनिरपेक्षीकरण एक ऐसी अवधारणा है जिसमें मानव को मानव मानते हुए व्यवहार की बात कही गई है। ऐसा नहीं कि किसी भी काल्पनिक जैसे जाति के आधार पर मानव के साथ अमानवीय व्यवहार की बात करती हो। यह प्रक्रिया मानवतावादी व्यवहार को प्रोत्साहित करती है। साथ ही यह एक तटस्थ अवधारणा है जिसमें एक तरफ धर्म के आधार पर कोई भेदभाव नहीं पाया जाता तो साथ ही किसी भी धर्म को स्वीकारने की पूर्ण स्वतन्त्रता भी दी गई है।

टास्क लौकिकीकरण की क्या विशेषताएँ हैं? संक्षिप्त वर्णन करें।

लौकिकीकरण के आवश्यक तत्व (Essential Elements of Secularisation)

1. **तार्किकता**–धर्मनिरपेक्षीकरण का प्रत्यक्ष सम्बन्ध तार्किक दृष्टिकोण से है। इसके अन्तर्गत प्रघटना की व्याख्या विशुद्ध रूप में की जाती है। समाज में जितने भी व्यवहार तर्कहीन हैं, उन्हें इस प्रक्रिया द्वारा नकारा जाता है। इसी कारण इस प्रक्रिया में रूढ़िवादी, अतार्किक, परम्परागत विश्वासों तथा धारणाओं के स्थान पर तार्किक ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है इसमें विभेदीकरण की एक प्रक्रिया भी निहित है जिसके परिणामस्वरूप समाज के विभिन्न आर्थिक, राजनैतिक, कानूनी, नैतिक और सामाजिक आदि अंग एक दूसरे से अधिकाधिक स्वतंत्र होते जाते हैं।
2. **कार्य-कारण सम्बन्ध**–धर्मनिरपेक्षीकरण में एक अन्य आवश्यक तत्व 'कार्य कारण' सम्बन्धों का प्रदर्शन है जिसे बुद्धिवाद से भी सम्बोधित किया जाता है। **प्रो. श्रीनिवास** के अनुसार इसके अन्तर्गत पास्परिक विश्वासों और धारणाओं के स्थान पर आधुनिक ज्ञान की स्थापना निहित है। धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया की यह विशेषता है कि यह पारस्परिक विश्वासों तथा तर्कहीन धारणाओं को यथा सम्भव नष्ट करने का प्रयत्न करती है। ऐसे विचार जो पारस्परिक हैं व जिन्हें कार्यकारण सम्बन्ध की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता, वे अपने आप इस प्रक्रिया द्वारा समाप्त हो जाते हैं। यदि उनका अस्तित्व किसी प्रकार बना भी रहता है तो उन्हें उचित जनमत का समर्थन नहीं मिल पाता है।
3. **पवित्रता-अपवित्रता की धारणा**–हिन्दू धार्मिक आचरण में पवित्रता और अपवित्रता की धारणा प्रमुख रही है। इसी आधार पर विभिन्न जातियों की दूरी निश्चित होती है। इसी आधार पर जातियों में स्पर्श, विवाह और भोजन निषेध रहे हैं प्रत्येक हिन्दू के सामान्य जीवन में पवित्रता और अपवित्रता की धारणाएँ और कार्य जुड़े

नोट

हुए हैं। जैसे–दाढ़ी बनाना ब्राह्मणों के लिये अपवित्र कार्य था। पिछले वर्षों में ये धारणाएँ क्षीण हुई हैं पवित्रता के नियमों का स्थान स्वास्थ्य और स्वच्छता के नियमों ने ले लिया। शिक्षित ब्राह्मणों और कट्टरपंथियों ने धीरे-धीरे कट्टर नियमों के स्थान पर बुद्धि संगत व्याख्या को महत्त्व दिया है और पवित्रता को स्वास्थ्य नियमों का दूसरा रूप कहा है। **श्री निवास** ने मैसूर की ब्राह्मण स्त्रियों का उदाहरण दिया है और कहा है कि शिक्षित स्त्रियाँ अपवित्रता के बारे में बहुत अधिक चिंतित नहीं है, परन्तु स्वास्थ्य के नियमों को महत्त्व दे रही हैं। संयुक्त परिवार से अलग होने पर कर्मकाण्डों के इस रूढ़ रूप को छोड़ देती हैं।

लौकिकीकरण की प्रक्रिया ने अनेक कर्मकाण्डों को त्याग दिया गया है। नामकरण और अन्य कर्मकाण्ड जैसे–विधवा का मुण्डन अब प्रचलित नहीं है। संस्कारों को छोड़ने व संक्षिप्त करने की प्रक्रिया के साथ-साथ संस्कारों को मिला भी दिया जाता है जिससे व्यस्त जिन्दगी में समयाभाव को कम किया जा सके। यथा–विवाह के साथ दो दिन पूर्व उपनयन संस्कार भी हो जाता है। विवाह संस्कार भी संक्षिप्त होता जा रहा है। सर्वसंस्कार युक्त ब्राह्मण-विवाह जिसमें पहले 5 से 7 दिन लगते थे अब एक दिन या कुछ घण्टों में ही निपटा देते हैं।

लौकिकीकरण के उद्देश्य (Object of Secularisation)

1. धर्मनिरपेक्षीकरण का उद्देश्य धर्मनिरपेक्षता की प्राप्ति है। धर्मनिरपेक्षता से तात्पर्य एक निश्चित प्रकार के व्यवहार से है जबकि धर्मनिरपेक्षीकरण एक प्रक्रिया है जो उस व्यवहार प्रतिमान को प्राप्त करने में मदद देती है। धर्मनिरपेक्षता व्यवहार की उस दशा को कहेंगे जहाँ राज्य, नैतिकता तथा शिक्षा आदि के ऊपर धर्म का अनावश्यक प्रभाव नहीं होता। अमेरिका में धर्मनिरपेक्षीकरण का अर्थ होता है कि समाज में राज्य तथा चर्च बिना एक दूसरे को प्रभावित किए हुए अपने-अपने अस्तित्व को बनाए रखें। यही कारण है कि जो शिक्षण-संस्थाएँ वहाँ चर्च द्वारा चलाई जाती हैं राज्य सरकार उसे अनुदान नहीं देती हैं।

   भारतवर्ष में धर्मनिरपेक्षता का अर्थ पश्चिम में लिये गये अर्थ से कुछ भिन्न है। यहाँ धर्म निरपेक्षता का अर्थ होता है कि राज्य किसी भी धर्म को आश्रय नहीं देता। लेकिन इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि यदि कोई धार्मिक संस्था किसी शिक्षण संस्था को चलाती है तो राज्य सरकार उसे अनुदान नहीं देगी। सांस्कृतिक विकास के लिये तथा विभिन्न सम्प्रदायों के सह-अस्तित्व के लिये यदि आवश्यक हुआ तो राज्य सरकार विभिन्न धार्मिक संस्थाओं को निर्देशित कर सकती है।

2. धर्मनिरपेक्षीकरण का दूसरा उद्देश्य धर्मनिरपेक्ष राज्य की प्राप्ति है। धर्मनिरपेक्ष राज्य वह है जहाँ प्रत्येक नागरिक को समान अवसर समानता के आधार पर प्राप्त हैं और जहाँ समाज नागरिकों के कार्य-कलापों में धर्म के आधार पर व्यवधान नहीं डालता। **डी. ई. स्मिथ** ने धर्मनिरपेक्ष राज्य की व्याख्या करते हुए लिखा है कि वह राज्य जो लोगों को धर्म की स्वतन्त्रता की गारण्टी देता है, प्रत्येक धर्म अनुयायी को नागरिक की मान्यता देता है वह मात्र संवैधानिक रूप से किसी विशेष धर्म से सम्बन्धित नहीं होना चाहिये और न ही वह किसी धर्म विशेष की प्रगति और अवनति से सम्बन्धित हो। धर्मनिरपेक्ष राज्य का शाब्दिक अर्थ है कि वह राज्य जो किसी धर्म विशेष में आस्था नहीं रखता है। अत: धर्मनिरपेक्ष राज्य एक व्यक्ति को एक नागरिक के रूप में देखता है न कि किसी विशेष धार्मिक समूह के सदस्य के रूप में। धर्मनिरपेक्ष राज्य में धर्म के आधार पर लोगों के अधिकार तथा कर्तव्य की व्याख्या नहीं होती। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 15 की धारा एक में यह घोषणा की गई है कि राज्य धर्म, प्रजाति, जाति, लिंग तथा जन्म-स्थान के आधार पर लोगों में भेदभाव नहीं करेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्मनिरपेक्षीकरण के कारण भारत एक ऐसे धर्मनिरपेक्ष राज्य के रूप में प्रवर्तित हुआ है जहाँ धार्मिक भेदभाव है वैसे अब धर्म का समाज में वह स्थान नहीं रहा जो पाँच शताब्दी पूर्व था।

9.4 सारांश (Summary)

- ई.ए. रॉस पहला व्यक्ति था जिसने सामाजिक नियंत्रण विषय पर 1901 में अपनी पुस्तक 'Social Control' में अपने विचार व्यक्त किए।

नोट

- संपूर्ण समाज में एकता एवं व्यवस्था बनाए रखने के लिए लोगों के व्यवहार का नियमन करना ही सामाजिक नियंत्रण है।
- विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग रूपों में सामाजिक नियंत्रण को विभक्त किया है। गुरविच तथा मूर ने सामाजिक नियंत्रण को दो भागों में बांटा है—औपचारिक एवं अनौपचारिक नियंत्रण।
- सामाजिक परिवर्तन से तात्पर्य उन परिवर्तनों से है जो मानवीय संबंधों, व्यवहारों, संस्थाओं, परिस्थितियों, मूल्यों, सामाजिक संरचना एवं प्रकार्यों आदि में होते हैं।
- संस्कृतीकरण तथा पश्चिमीकरण के माध्यम से आधुनिक भारत में होने वाले सामाजिक परिवर्तनों का वर्णन सांस्कृतिक दृष्टि से ही किया जा सकता है न कि संरचनात्मक दृष्टि से।
- आधुनिकीकरण एक जटिल प्रक्रिया है जिसमें अनेक तथ्यों का समावेश है जो जीवन के भौतिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक सभी पहलुओं से संबंधित है।
- लौकिकीकरण वह प्रक्रिया है जिसके परिणामस्वरूप किसी समाज में धर्म के आधार पर सामाजिक व्यवहार में भेदभाव समाप्त किया जाता है।

9.5 शब्दकोश (Keywords)

1. **आधुनिकीकरण (Modernisation)**—राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिवर्तन तथा आर्थिक विकास की एक ऐसी मिली-जुली पारस्परिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा ऐतिहासिक तथा समकालीन अविकसित समाज अपने आपको विकसित करने में संलग्न रहते हैं।
2. **लौकिकीकरण (Secularisation)**—एक प्रक्रिया है जिसमें किसी समाज के सदस्यों के विचार एवं व्यवहार के निर्धारण के लिए धार्मिक मान्यताओं प्रतीकों की अपेक्षा बुद्धिसंगत एवं तार्किक दृष्टिकोण को अधिक महत्त्व दिया जाता है।

9.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. आधुनिकीकरण की अवधारणा को समझाएँ।
2. लौकिकीकरण शब्द का क्या अर्थ है?

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. आधुनिकीकरण
2. ए फ्यू क्यूरीज (1969)
3. शाह।

9.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. भारतीय समाज – *राम आहुजा।*
2. विकास का समाजशास्त्र – *दूबे श्यामाचरन, वानी पब्लिकेशन।*

नोट

इकाई–10: विकास की परिवर्तित अवधारणा : आर्थिक वृद्धि, मानव विकास (Changing Conception of Development : Economic Growth, Human Development)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
10.1 विकास की परिवर्तित अवधारणा (Changing Conception of Development)
10.2 आर्थिक जीवन में परिवर्तन (Changes in Economic Life)
10.3 मानव सम्बन्ध (Human Relations)
10.4 बाजार अर्थव्यवस्था और उसके सामाजिक परिणाम (Market Economy and Its Social Consequences)
10.5 आर्थिक सुधार : उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण (Economic Reforms : Liberalisation, Privatisation and Globalisation)
10.6 आर्थिक सुधार (Economic Reforms)
10.7 नई अर्थव्यवस्था : संघीय बाजार अर्थनीति की ओर (New Economic System : Towards Federal Market Economy)
10.8 निजीकरण (Privatisation)
10.9 वैश्वीकरण (Globalisation)
10.10 सारांश (Summary)
10.11 शब्दकोश (Keywords)
10.12 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
10.13 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- विकास की धारणा की जानकारी।
- मानव विकास की अवधारणा को समझना।

नोट

प्रस्तावना (Introduction)

अपने आर्थिक विश्लेषण में राबर्ट माल्थस ने उत्पादन की मात्रा और धन में वृद्धि के कारणों का विवेचन प्रस्तुत किया। कार्ल मार्क्स ने भी आर्थिक विकास की प्रक्रिया का विश्लेषण किया। पिछले कुछ दशकों में आर्थिक विकास की अवधारणा को स्पष्ट करने के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया है और आर्थिक विकास पर बहुत कुछ कहा और लिखा गया है।

10.1 विकास की परिवर्तित अवधारणा (Changing Conception of Development)

पश्चिमी अर्थशास्त्रियों की विकास में रूचि का प्रमुख कारण यह है कि अब आर्थिक विकास के क्षेत्र में पूँजीवादी और समाजवादी देशों के बीच प्रतिस्पर्धा लगातार बढ़ रही है। इसके अतिरिक्त दूसरे विश्वयुद्ध के बाद बहुत से अफ्रीकी व एशियाई देशों को स्वतंत्रता प्राप्त हुई है और उनमें जल्द से जल्द आर्थिक विकास करने की तीव्र इच्छा जाग्रत हुई है।

विस्तृत अर्थों में, आर्थिक विकास को "किसी भी स्रोत से वास्तविक आय में प्रति व्यक्ति वृद्धि" के रूप में देखा जा सकता है (Robert Faris, 1964: 889)। बैच (Bach, 1960: 167) ने इसका वर्णन इस प्रकार है– "अर्थव्यवस्था में वस्तुओं और सेवाओं के कुल उत्पादन में वृद्धि ही आर्थिक विकास है।" डैविड नोवाक (David Novack, 1964: 151) ने आर्थिक विकास को एक पुरानी परिभाषा के सन्दर्भ में समझाया है–"यह प्रति व्यक्ति वस्तुओं और सेवाओं के उपभोग में निरन्तर ठोस वृद्धि है।" आर्थिक वस्तुओं का ठोस उपभोग तभी सम्भव है जब आर्थिक वस्तुओं का ठोस रूप में उत्पादन हो और ठोस उत्पादन आजकल अधिक तकनीकी उपयोग पर निर्भर करता है। संकुचित अर्थ में, यह कहा जा सकता है कि आर्थिक विकास का अर्थ है: "आर्थिक वस्तुओं के उत्पादन और वितरण में निर्जीव शक्ति व अन्य तकनीकियों का विस्तृत प्रयोग" (Robert Faris, वही, 889)। इस अर्थ में व्यावहारिक दृष्टि से आर्थिक विकास केवल औद्योगीकरण ही है सही नहीं होगा क्योंकि उत्पादन में शक्ति और अन्य तकनीकियों के प्रयोग के साथ-साथ इसमें श्रम गतिशीलता, विस्तृत शिक्षा पद्धति, आदि भी शामिल हैं।

जेफ और स्टूवर्ट (Jaffe and Stewart) जिन्होंने विकास को आर्थिक उत्पादन के युक्तीकरण (rationalisation) के रूप में वर्णन किया है, उन्होंने विकसित और कम विकसित देशों में द्विभाजन (dichotomy) किया है, जिसका आधार हैं प्रति व्यक्ति आय तथा कुछ अन्य कारक, जैसे उच्च शिक्षास्तर, लम्बी अवधि के जीवन की जन्म के समय आकांक्षा, निम्न उर्वरकता (fertility), कृषि में संलग्न श्रम शक्ति का अनुपात, और प्रति व्यक्ति बिजली का उच्च उत्पादन, आदि। इसके अतिरिक्त इस वर्कीकरण में हम एक तीसरी श्रेणी भी जोड़ सकते हैं–वे देश जो विकसित और कम विकसित देशों के बीच हैं, अर्थात, विकासशील देश। प्रति व्यक्ति आय की दृष्टि से अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, और पश्चिमी यूरोप के देश (इटली, फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैण्ड) विकसित देश माने जाते हैं।

नोट्स दक्षिण अफ्रीका, मेक्सिको और दक्षिणी तथा पूर्वी यूरोप के अधिकतर देश विकासशील देश है। भारत भी प्रति व्यक्ति आय की दृष्टि से विकासशील देश है।

10.2 आर्थिक जीवन में परिवर्तन (Changes in Economic Life)

विज्ञान के आविष्कार, प्रौद्योगिकी, औद्योगीकरण और नगरीकरण ने भारतीय समाज के आर्थिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिए हैं। परिवर्तनों का वर्णन इस प्रकार हैं–

1. पूँजीवाद का विकास (Development of Capitalism)—पहले इस देश में कृषि अर्थ-व्यवस्था थी, पर अब अनेक प्रकार के प्रौद्योगिकीय परिवर्तनों के फलस्वरूप देश में पूँजीवाद का विकास हुआ है। आज आर्थिक उत्पादन

नोट

गृह-उद्योगों में नहीं अपितु बड़े-बड़े मिल और कारखानों में मशीनों द्वारा बड़े पैमाने पर होता है। इसके लिए काफी धन की आवश्यकता होती है। और इस कारण आर्थिक उत्पादन के साधनों पर उन्हीं का अधिकार हो गया हैं जिनके कारण काफी पूँजी है। अर्थात उत्पादन के साधनों पर पूँजीपतियों का अधिकार हो गया है और अन्य सभी पूँजीहीन व्यक्तियों के लिये जीविका पालन का केवल एक ही रास्ता रह गया है और वह यह है कि वे अपने श्रम को बेचकर पेट पालें। इस पूँजीवाद के विकास के फलस्वरूप भारतीय समाज में दो आर्थिक वर्ग विकसित हो गये हैं। पूँजीवाद वर्ग और श्रमिक वर्ग।

2. ग्राम-उद्योगों का ह्रास (Decline in Village Industries)—भारत में औद्योगीकरण के फस्वरूप ग्रामीण उद्योगों का बुरी तरह ह्रास हुआ हैं, क्योंकि इस देश में ग्रामों के कुटीर उद्योगों और शहरों के बड़े-बड़े उद्योगों के बीच न तो कोई समन्वय है और न ही किसी प्रकार का श्रम-विभाजन। फलत: बड़े पैमाने में मशीन द्वारा जिन सस्ती चीजों का उत्पादन होता हैं, उनसे प्रतियोगिता करना ग्रामीण उद्योगों में बनी चीजों के लिये सम्भव नहीं होता है। इससे ग्रामीण उद्योगों का निरन्तर ह्रास ही होता जा रहा है, यद्यपि सरकारी प्रयत्न ग्राम-उद्योगों को प्रोत्साहिक करने की दिशा में ही है।

3. जीवन-स्तर में परिवर्तन (Changes in Standard of Living)—भारतीय समाज के आर्थिक जीवन के एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन भारतीयों के जीवन स्तर से सम्बन्धित है। आज इस परिवर्तन से सम्भवत: कोई ही भारतवासी अछूता न हो।

नोट्स 1990 के दशक की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि "उदारीकरण, आर्थिक नीतियों ने उपभोक्तावादी संस्कृति को जन्म दिया।

आज कार, मोटरसाइकिल, रेडियों, पक्के मकान, फ्रिज, टी.वी. ग्रामों में आम वस्तु हो गईं हैं जोकि पहले बड़े-बड़े शहरों में देखने को मिलते थे। पहनने-ओढ़ने के दृष्टिकोण एवं खाने-पीने के सम्बन्ध में भी काफी परिवर्तन आते जा रहे हैं। आज गाँव वाला भी पैण्ट व बुशर्ट या सूट पहनता है, साथ ही कुर्सी व मेज पर खाना अधिक पसन्द करता है। वास्तव में यह सभी उच्च जीवन-स्तर के ही परिचायक है। प्रत्येक व्यक्ति सभी सुख सुविधाओं का उपभोग करने के लिए प्रतियोगिता के दौर में शमिल होना चाहता है।

4. आय में वृद्धि (Increase in Income)—आर्थिक में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन भारतीयों की आय में अत्याधिक वृद्धि का होना है। आज प्रति व्यक्ति औसत आय पहले से कहीं अधिक बढ़ गई है। चालू मूल्यों के आधार पर प्रति व्यक्ति सन् 1960-61 में ₹ 305 थी जो सन् 1997-98 में बढ़कर अनुमानत: ₹ 13,112 (चालू कीमत पर) हो गई। यदि भारतीय कृषक की आय को ही लिया जाए तो देखा जाएगा कि उसकी आय में भी महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई हैं। इसका कारण मुख्यत: विज्ञान की देन है। कृषि के वैज्ञानिक तरीकों ने उसके कृषि उत्पादन को बढ़ा दिया है। अब वह थोड़े समय में अधिक उत्पादन कर सकता है और बचे हुए समय को किसी अन्य धन्धे में लगा देता है। कृषि, उद्योग, व्यापार और वाणिज्य के क्षेत्र में देश जैसे-जैसे प्रगति करता जा रहा है, यहाँ के लोगों की आय में भी वैसे-वैसे वृद्धि हो रही है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. आर्थिक में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन भारतीयों की आय में ..... का होना है।
2. भारतीय कृषक की आय को लिया जाए तो देखा जाएगा कि उसकी आय में भी ..... हुई हैं।
3. कृषि के वैज्ञानिक तरीकों ने उसके ..... को बढ़ा दिया है।

नोट

5. औद्योगीकरण (Industrialisation)—भारतीय सामाजिक संरचना के आर्थिक पक्ष का एक महत्त्वपूर्ण औद्योगिकरण है। इस औद्योगिकरण ने भारतीय समाज के महत्त्वपूर्ण आधारों व संस्थाओं को भी बदल दिया है। औद्योगीकरण के फलस्वरूप यदि एक ओर देश का उत्पादन बढ़ा है, बड़े पैमाने पर उत्पादन होने लगे है और देश की आयु बढ़ी है तो दूसरी और अनेक समस्याओं ने भी जन्म लिया है। आज इसके कारण ही निवास-स्थानों की कमी तथा गन्दी बस्तियों का विकास हुआ है। क्योंकि औद्योगीकरण से उद्योग-धन्धों का विकास होता है। और उससे शहरों की जनसंख्या जिस गति से बढ़ती है उस अनुपात से नगरों में रहने वालों के लिये नये मकान नहीं बन पाते है। इसका परिणाम यह हुआ कि नगरों में निवास-स्थानों की नितान्त कमी है और इसीलिये इस कमी को पूरा करने के लिए गन्दी बस्तियों का विकास हुआ है। इन गन्दी बस्तियों में रहने वालों का केवल स्वास्थ्य ही नहीं बिगड़ता बल्कि नैतिक पतन भी होता है और साथ ही उनमें अन्य अपराधी-आदतें भी पनपती रहती है।

उदारीकरण की नई औद्योगिक नीतियों ने विदेशी विनियोग को आकर्षित करने में सफलता हासिल की है। इस बारे में सन्देह है कि अधिक उत्पाद के साथ वे अधिक रोजगार भी कायम हुआ है। दूसरा, विदेशी पूँजी को अत्याधिक स्वतंत्रता देने से हमारी आर्थिक स्वायत्तता के लिए खतरा उत्पन्न हो सकता है।

6. महँगाई व बेरोजगारी में वृद्धि (Increasing Dearness and Unemployment)—भारतीय आर्थिक जीवन में आज निर्धनता एवं बेरोजगारी में वृद्धि हो रही है। यह ठीक है कि औसतन प्रति व्यक्ति आय बढ़ी है, परन्तु यह भी ठीक है कि असम्भव रूप से बढ़ती हुई महँगाई ने आम जनता की कमर तोड़ दी है सन् 1949 की तुलना में अब प्राय: सभी आवश्यक चीजों की कीमतें लगभग 20 गुना ज्यादा हो गई है। साथ ही बेरोजगारी ने भी भयंकर रूप धारण किया है। आज शिक्षित लोगों में बेकारी अत्याधिक बढ़ रही है। वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान परिषद् द्वारा जारी किये गये आँकड़ों के अनुसार सन् 1971 और 1991 के बीच शिक्षित बेरोजगारों की संख्या 23 लाख से बढ़कर 224 लाख हो गई है। इस समय इस देश में कुल 10.6 करोड़ लोग बेरोजगार हैं।

7. कृषि उत्पादन में उन्नति (Development in Agricultural Production)—भारत में कृषि उद्योग में पर्याप्त उन्नति हुई है। इसका कारण प्रमुख रूप से कृषि कार्यों में वैज्ञानिक खाद, मशीनों तथा कृषि के आधुनिक तरीकों का उपयोग है। आज हमारी सरकार का यह प्रयत्न जोरों पर चल रहा है कि कृषि को वैज्ञानिक ढंग से किया जाए। नए तरीकों से खेती करने से उत्पादन भी अधिक होगा और साथ ही समय की भी बचत होगी; इस बचे समय को किसान अन्य किसी कार्य में लगा सकेगा। आज सहकारिता खेती के भी महत्त्वपूर्ण फल प्राप्त हो रहे हैं; कई गुना पैदावार भी बढ़ गई है। अनाज के मामले में भारत आज आत्मनिर्भर है।

टास्क आर्थिक जीवन में क्या परिवर्तन हुआ है? संक्षिप्त वर्णन करें।

10.3 मानव सम्बन्ध (Human Relations)

मानव सम्बन्ध (Human Relation)–मानव संबंध उद्योग में एक तकनीकी अवधारणा है। इस अवधारणा का उद्विकास अमेरिका से है। दूसरे विश्वयुद्ध से पहले इस अवधारणा का सूत्रपात अमेरिका के उद्योग में हुए कुछ आनुभविक प्रयोगों से हुआ है। यह अवधारणा अमेरिका से ब्रिटेन में आयी और वहाँ के उद्योगों में भी इसका प्रयोग होने लगा। इन देशों में **ह्यूमन रिलेशन्स** को सामान्यतया **एच. आर** (HR) के रूप में प्रयोग में लिया जाता है। औद्योगिक क्षेत्र में मानव सम्बन्ध को एक महत्त्वपूर्ण **शाखा** (School) की तरह यूरोप और अमेरिका में माना जाता है। हमारे देश में श्रमिक संघों ने इस विधा में बहुत बड़ा काम किया है। जब हम **ट्रेण्ड रिपोर्ट्स** को देखते हैं तो इससे बहुत स्पष्ट हो जाता है कि हमारे यहाँ मानव सम्बन्धों की अवधारणा अभी विकसित नहीं हुई है। सामान्यतया इस क्षेत्र में पहल प्रबन्ध को लेनी चाहिये लेकिन ऐसा कुछ हुआ नहीं है।

मानव सम्बन्ध की शाखा में विदेशों में ढेर सारी सामग्री है। यह सामग्री दो भागों में बाँटी जाती है। इस भाग में तो अकादमिक साहित्य है। इस साहित्य का निर्माण औद्योगिक समाजशास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों ने किया है। यूरोप और

नोट

अमेरिका में उत्पादन वृद्धि तथा श्रमिकों के मनोबल तथा प्रतिबद्धता को बनाये रखने के लिये उद्योग के क्षेत्र में जो भी प्रयोग हुए हैं, उनकी पड़ताल है। मानव सम्बन्धों से दूसरी श्रेणी का साहित्य प्रबन्ध के मैनेजरों के लिये हैं।

नोट्स साहित्य में यह बताया गया है कि मैनजरों को श्रमिकों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये। कारखाने में काम की दशाएँ कैसी होनी चाहिये और अधिकतम उत्पादन करने के लिए कौन-सी विधियों को अपनाना चाहिये।

मानव सम्बन्ध किसे कहते हैं? (What are Human Relations?)

अमेरिका में मानव सम्बन्ध की अवधारणा का इतिहास **हाथोर्न अध्ययनों** (Hawthrone Studies) से जुड़ा हुआ है। बात यह है कि सन् 1920 में शिकागों शहर के हाथोर्न कम्पनी में वेस्टर्न इलैक्ट्रिक कम्पनी और हारवर्ड बिजनेस स्कूल के तत्त्वावधान में सन् 1920 के मध्य में कुछ प्रयोग हुए। इन प्रयोगों की समस्या यह थी कि कारखाने में काम करने वाले मजदूरों में असंतोष क्यों होता है। इस अध्ययन ने दो बातों की खोज की । एक तो उन्होंने यह पता लगाया कि मजदूरों के असंतोष के क्या कारण हैं और दूसरा इस असंतोष को दूर करने का क्या निदान है? हाथोर्न के ये प्रयोग लम्बे समय तक चले। इसके परिणाम उद्योग जगत को चौंकाने वाले थे। औद्योगिक समाजशास्त्रियों ने अध्ययन के परिणामस्वरूप यह बताया कि मजदूर आर्थिक समस्याओं की चिन्ता नहीं करते। प्रबन्ध को आर्थिक उत्प्रेरक देने की कोई आवश्यकता नहीं है। वास्तव में देखा जाय तो हाथोर्न मजदूरों के असंतोष का मुद्दा आर्थिक नहीं था। उनकी सबसे बड़ी परेशानी मानसिक तनाव की थी। अध्ययन में पाया कि मजदूरों के संवेगों को सहलाने की जरूरत है। यदि मानसिक रूप से मजदूर तनाव मुक्त हो जाये, तो कारखाने का उत्पादन अपने आप बढ़ जायेगा। इस अध्ययन से पहले औद्योगिक क्षेत्र में यह एक लोकप्रिय धारणा थी कि यदि मजदूरों को आर्थिक प्रोत्साहन दिया जाये तो इससे उत्पादन बढ़ जायेगा। हाथोर्न अध्ययन ने इस धारणा को गलत सिद्ध कर दिया।

एल्टन मेयो (Elton Mayo) हाथोर्न प्रयोग के प्रभारी थे। उन्होंने विल्फ्रेडो पेरेटो और दुर्खीम की प्राप्तियों को नकारा और दृढ़तापूर्वक कहा कि कारखाने का उत्पादन मजदूरों को तनाव मुक्त रखने से बढ़ता है। यह समझना भूल होगी कि मजदूरों पर सख्त निगरानी रखने से उत्पादन में वृद्धि होती है। मुख्य बात तो मानव सम्बन्ध है। **एल्टन मेयो** ने हाथोर्न अध्ययन के निष्कर्षों पर लिखते हुए यह आग्रह किया कि मजदूरों को भरोसे में रखकर काम किया जाना चाहिये। **एल्टन मेयो** की इन प्राप्तियों पर सन् 1949 में एक फड़फड़ाती पुस्तक प्रकाशित हुई। पुस्तक का नाम था: **मैनेजमेन्ट ऑफ दि वर्कर** (Management of the Worker) इस पुस्तक के लेखक **रोथलिसबर्जर एवं डिस्कन** (J. Roethlis Burger and W.J. Dickeon) हैं। अभी तक औद्योगिक समाजशास्त्री कारखाने की व्यवस्था पर लिख रहे थे।

क्या आप जानते हैं यह पहली बार था कि इन लेखकों ने **मजदूरों की व्यवस्था** पर लिखा। इस पुस्तक में बड़े ही सहज रूप से यह बताया गया है कि यदि कारखाने के मजदूरों को ठीक तरह से व्यवस्थित कर दिया जाये तो उत्पादन में आशाजनक वृद्धि होगी। यह पुस्तक आज भी अमेरिका और यूरोप में एक ऐतिहासिक दास्तावेज़ समझी जाती है।

एन.आर. शेठ और **प्रवीण पटेल** ने औद्योगिक समाजशास्त्र की भारत में जो प्रस्थिति है उसका लेखा-जोखा **ट्रेण्ड रिपोर्ट** में किया है। वे उद्योग के विभिन्न आयामों की चर्चा करते हैं। इस चर्चा में वे यह बताते हैं कि भारतीय समाज में औद्योगीकरण की क्या प्रस्थिति है। औद्योगिक संगठन, श्रमिक संगठन और औद्योगिक सम्बन्धों तथा संघर्षों की चर्चा भी वे आनुभविक अध्ययनों के संदर्भ में करते हैं। औपचारिक रूप से कहीं भी उन्होंने मानव सम्बन्धों यानी **एच. आर** का उल्लेख नहीं किया है जो सामान्य अध्ययन उद्योग के क्षेत्र में उपलब्ध है। उनमें यह चर्चा अवश्य मिलती है कि मजदूरों के संतोष और कारखाने के उत्पादन में वृद्धि के लिये मजदूरों को थोड़े बहुत प्रोत्साहन अवश्य

नोट

देने चाहिये। यह प्रोत्साहन के रूप में ही है कि कुछ प्रबन्धकों ने मजदूर बस्तियों को बसाया है, बच्चों के लिये स्कूल का प्रावधान किया है, रियायती दर पर केन्टीन चलाये हैं, आवागमन के लिये बसें चलाई हैं। इन सब प्रोत्साहनों से ऐसी आशा की जाती है कि ये कारखाने के उत्पादन को बढ़ाने में सहायक होंगे। हमारे यहाँ ये मजदूर कल्याणकारी कार्य व्यवस्था का एक अंग समझे जाते हैं। मानव सम्बन्धों के क्षेत्र में इन मजदूरों को तनाव से मुक्त रखने के लिये अभी कोई ठोस कार्यक्रम आगे नहीं आये हैं लेकिन कुछ संकेत कारखाने के प्रबन्ध ने दिये हैं। देश में कुछ ऐसे प्रबन्धक हैं जो श्रमिक और प्रबन्ध की दूरी को कम करने का प्रयास अवश्य कर रहें हैं। मानव सम्बन्धों के क्षेत्र में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यदि मजदूरों को उनकी अच्छी **मुद्रा** (Humour) में रखा जाये तो उत्पादन में वृद्धि हो सकती है। अब यह स्थापित हो जाना चाहिए कि उत्पादन वृद्धि के लिये आर्थिक प्रोत्साहन अधिक प्रासंगिक नहीं है।

10.4 बाज़ार अर्थव्यवस्था और उसके सामाजिक परिणाम (Market Economy and Its Social Consequences)

सामान्यतया एक ऐसी जगह जहाँ बेचने और खरीदने वाले मिलते हैं, बाज़ार है। लेकिन बाज़र का यह अर्थ वह है जिसे आम आदमी लेता है। अर्थशास्त्र में इसका तकनीकी अर्थ लिया जाता है। आज जब वैश्वीकरण एक प्रभावी प्रक्रिया की तरह हमारे देश में काम कर रही है विनिमय के क्षेत्र में बाज़ार का स्थान महत्त्वपूर्ण हो गया है। बाज़ार वह है जहाँ वस्तुओं का मोल-भाव निर्धारित होता है। किसी भी वस्तु का आयात-निर्यात वस्तु के भाव पर निर्भर रहता है और यह भाव बाज़ार पक्का करता है। "बाज़ार का अस्तित्व वस्तुओं के एक से अधिक विक्रेताओं के अस्तित्व पर निर्भर है। औद्योगिक पूँजीवादी व्यवस्था में बाज़ार की कार्यपद्धति मुक्त बाज़ार और खुली प्रतिस्पर्द्धा पर आधारित है। खरीदने वाले तथा बेचने वालों में आपसी प्रतिस्पर्द्धा तथा मोल-भाव के कारण दाम, वस्तुओं के गुण तथा संविदा के बीच संतुलन बना रहता है।"

आधुनिक अर्थ-व्यवस्था में बाज़ार की जो भूमिका हम देखते हैं, उसका प्रारम्भ बहुत पुराना नहीं है। दुनियाँभर में इस व्यवस्था का सम्बन्ध उत्पादन की प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है। प्रारम्भ में बाज़ार जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी। लोग सामूहिक सम्बन्धों के आधार पर वस्तु-विनिमय कर लिया करते थे। अभी कुछ समय पहले तक हमारे यहाँ गाँवों और आदिवासियों में वस्तु-विनिमय प्रथा प्रचलित थी। यह अर्थव्यवस्था ऐसी थी जिसे जीविकोपार्जन अर्थव्यवस्था कहते हैं। जो कुछ खेत में पैदा होता था, इससे लोग अपना जीवन चला लेते थे। आवश्यकता पड़ने पर अपने उपार्जन को विनिमय द्वारा दूसरों को दे देते थे और इस तरह समुदाय पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलते रहते थे। कुछ समुदाय के जीवन में ऐसी अवस्था भी आयी जब उपभोग के अतिरिक्त वस्तुओं का उत्पादन होने लगा। इस अतिरिक्त उत्पादन को बेचने के लिए बाज़ार की आवश्यकता हुई और इस तरह सामूहिक या व्यक्तिगत विनिमय का स्थान बाज़ार ने ले लिया। इस अर्थ में बाज़ार अर्थव्यवस्था वह है जहाँ जीविकोपार्जन से अतिरिक्त उत्पादन को बेचा जा सके और उपभोग की अन्य वस्तुओं का विक्रय हो सके। इस अर्थव्यवस्था ने सम्पूर्ण उत्पादन प्रक्रिया को ही बदल दिया है। स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी है कि किसान जो कुछ उत्पादन करता है, वह बाज़ार के लिये ही होता है। वह अपने उपभोग की वस्तुओं को बाज़ार से खरीद लेता है। बाज़ार में जिन खाद्यान्नों के भाव ऊँचे होते हैं, किसान उन्हीं खाद्यान्नों की पैदावार करता है।

आज इस भाँति बाज़ार सम्पूर्ण उत्पादन प्रक्रिया को बदल देते हैं। बाज़ार का यह क्षेत्र स्थानीयता से आगे बढ़कर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आ जाता है। आज तो इलेक्ट्रोनिक तथा युद्ध के हथियारों का भी अन्तराष्ट्रीय बाज़ार बन गया है।

बाज़ार प्रणाली (Market System)

अर्थशास्त्री बाज़ार को विनिमय का माध्यम मानते हैं, समाजशास्त्र में इसे एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में देखा जाता है। बाज़ार को हम एक व्यवस्था इसलिये कहते हैं कि इसमें क्रेता यानी खरीददार और विक्रता अर्थात् बेचने वाला दोनों ही मिलते हैं। इसी कारण बाज़ार क्रेता और विक्रेताओं की गतिविधियों का केन्द्र है। जॉनसन का कहना

नोट

है कि बाज़ार का अर्थ इसके संकुचित और व्यापक रूप में लिया जाता है। अपने संकुचित अर्थ में यह आवश्यक है कि विनिमय की शर्तों के बारे में स्पष्ट सौदेबाजी हो, और विनिमय प्रक्रिया के दोनों ही पक्षों में स्पष्ट रूप से प्रतियोगिता हो अर्थात् व्यापारियों तथा खरीददारों के बीच में प्रतियोगिता।

उद्योगों के आने से पहले भारत में सामन्तवादी अर्थव्यवस्था थी। इस व्यवस्था में किसान से बिना किसी भुगतान के श्रम करवाया जाता था। एक प्रकार से ऐसा श्रम गैर-बराबरी का विनिमय था। किसानों के अतिरिक्त पूर्व औद्योगिक आर्थिक व्यवस्था में व्यापार और व्यवसाय का विकास भी पर्याप्त नहीं हो पाता था। इस व्यवस्था में किसानों के हितों के मुकाबले आम आदमी को उत्पादन करने की कोई प्रेरणा नहीं थी।

भारत में जब औद्योगीकरण आया तब इसके परिणामस्वरूप बाज़ार अर्थव्यवस्था का उदय हुआ। इस उदय के विकास की कहानी वस्तुत: पूँजीवाद के विकास की कहानी है। अब वस्तु-विनिमय समाप्त हो गया, दूर-दराज के क्षेत्रों में भी मुद्रा का चलन हो गया। उद्योग में जब माल का निर्माण होता है जब इसे बेचने के लिये बाज़ार की आवश्यकता पड़ती है; और जैसे लोग वैसे बाज़ार। वैश्वीकरण, उदारीकरण और विकास कार्यक्रमों के परिणामस्परूप देश में बाज़ार का बेतहाशा विस्तार हुआ है। जहाँ बड़े बाज़ार हैं वहीं छोटे बाज़ार भी हैं। बाज़ारों के भी प्रकार होते हैं: कुछ बाज़ार निम्न वर्ग के लोगों के लिये होते हैं। इन बाज़ारों में केवल वही वस्तुएँ खरीदी या बेची जाती हैं जिनका ताल्लुक निम्न वर्ग और जातियों के लिये होता है। इनसे ऊँचे अधिक विकसित बाज़ार होते हैं जहाँ उच्च वर्ग और जाति के लोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आते हैं। दिल्ली का कनाट सर्कस उच्च वर्ग के लोगों का बाज़ार है। दूसरी ओर चांदनी चौक का बाज़ार मध्यम और निम्न वर्ग के लोगों के लिये है। गाँवों में बाज़ार और किस्म के होते हैं। यहाँ के बाज़ार में विशिष्टीकरण नहीं होता। एक ही दुकान से खाद भी मिल जाता है और चाय भी। ये बाज़ार हरफनमौला होते हैं।

वैश्वीकरण ने बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को हमारे देश में स्थापित किया है। इन व्यापारिक संगठनों ने उपभोक्तावाद को नई हवा दी है। यह इन्हीं संगठनों के माध्यम से हैं कि हमारे यहाँ विदेशी बाज़ार की वस्तुएँ आम आदमी तक पहुँच गई हैं।

नोट्स मेकडॉनल्ड और कोकाकोला ऐसे ही पदार्थ हैं जो उपभोक्तावाद को बढ़ाते हैं। बाज़ार के भाव अत्यधिक रूप से प्रतियोगी हो गये हैं। जब यह कहा जाता है कि वैश्वीकरण ने दूर-दराज के गाँव को भी अपने आगोश में ले लिया है, तो इसका मतलब है बाज़ार का विस्तार दूर के गाँवों तक हो गया है।

इस बाज़ार की बहुत बड़ी विशेषता यह है कि यह अपना कामकाज बैंकिग प्रणाली से करता है और भरपूर **साख** (Credit) देता है। कार, मोटर बाइक, फ्रीज, सी.डी. आदि ऐसे आइटम हैं जो आधुनिक बाज़ार द्वारा सुलभ किश्तों से मध्यम वर्ग के लोगों तक पहुँचाये जा रहे हैं। बाज़ार के इन प्रकारों व काम करने की पद्धति पर हम और अधिक विस्तार से वैश्वीकरण तथा उदारीकरण के विवरण में देखेंगे। **यहाँ तो केवल यही कहना है कि आज हमारे देश में जो भी बाज़ार है उसने सरकार के किसी भी हस्तक्षेप को कमज़ोर कर दिया है।** सरकार ने जिस आर्थिक नीति को अपनाया है वह संरचनात्मक अर्थशास्त्र (Structural Economy) पर आधारित है और इसने पूँजीवाद को अपने लेन-देन का आधार बना लिया है। अब **राजनीति अर्थनीति** (Political Economy) केवल बाजार द्वारा ही चलायी जाती है। इसी कारण हम कहते हैं कि आज की अर्थव्यवस्था में बाज़ार बहुत शक्तिशाली है।

सामाजिक परिणाम (Social Consequences)

हमारे देश में बाज़ार का विकास नई कारकों के साथ जुड़ा हुआ है। देखा जाय तो बाज़ार की अवधारणा जिस अर्थ में हम आज इसे समझते हैं, एकदम आधुनिक है। बाज़ार तो दो बातों पर विकसित होता है। एक तो यह कि खेतों का उत्पादन परिवार के उपभोग की आवश्यकता से अधिक हो और कारीगर तथा दस्तकार स्थानीय आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद अपनी वस्तुओं को बाज़ार में लाये। बाज़ार की दूसरी विशेषता विनिमय होता है। इस विनिमय

नोट

के कारण बाज़ार का अस्तित्व सामान्य अर्थव्यवस्था वाले समाजों में भी रहा है। आज का बाजार वस्तुत: राष्ट्रीय बाजार ही नहीं अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार है। दिल्ली का सदर बाज़ार या मुम्बई का बाज़ार अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार के दृष्टान्त हैं। हम इस तथ्य को दोहरायेंगे कि बाज़ार केवल विनिमय के स्थान ही नहीं है, उनके माध्यम से सांस्कृतिक विनिमय भी होता है देखा जाय तो बाज़ार का घनिष्ठ सम्बन्ध वर्ग व्यवस्था, धर्म, परिवार, एथनिसिटी आदि से भी जुड़ा हुआ है। यहाँ हम बाज़ार के प्रभाव जो समाज पर पड़ते हैं, उनका सिलसिले से विश्लेषण करेंगे:

1. **बढ़ता हुआ उपभोक्तावाद** (Increasing Consumerism)—आज के बाजार का एक बहुत अच्छा मुहावरा इस तरह है–"यह बहुत अच्छा होगा कि तुम तैरना सीख जाओ, या एक पत्थर की तरह तुम डूब जाओगे।" यह मुहावरा बाज़ार की एक चुनौती है जो ग्राहकों को बराबर कहती है कि उपभोग की वस्तुओं का पूरा उपभोग कीजिये। इस तरह की चुनौतियाँ आज लोगों को अधिक से अधिक उपभोक्तावादी बना देती है। खाने-पीने की वे वस्तुएँ–आटा-दाल जो घर में तैयार की जाती थी, बाज़ार में लक-झक करते टिनों और पॉलीथीन थैलों में मिलने लगी हैं। वे वस्तुएँ जिन्हें लोगों ने देखा नहीं था। आज बिक्री काउन्टर पर आग्रहपूर्वक दी जाने लगी हैं। बाज़ार का शायद बहुत बड़ा सामाजिक परिणाम दिन-प्रति-दिन विकसित होता उपभोक्तावाद है।
2. **मध्यम वर्ग का विकास** (Rising Middle Class)—मध्यम वर्ग पहले भी थे लेकिन इनके विकास की गति बहुत धीमी थी। देखा जाय तो सरकारी नौकरियों, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और बढ़ते हुए बाज़ार ने माध्यम वर्ग के विकास को एक ऐतिहासिक अवसर प्रदान किया है। मध्यम वर्ग के साथ-साथ राजनीति और शिक्षा ने एक नये अभिजात वर्ग को भी पैदा कर दिया है। मध्यम वर्ग और अभिजात वर्ग की आवश्यकताएँ कभी पूरी नहीं होती, उनका विस्तार होता ही रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि समाज में नियमहीनता (Anomie) आ जाती है। मध्यम वर्ग का आदमी गैर-नियमित आय करने के लिये सदा तत्पर रहता है। इसके परिणामस्वरूप एक समानान्तर अर्थव्यवस्था पैदा हो जाती है।
3. **नपुंसक होता राज्य** (State becoming Impotent)—वैश्वीकरण तथा खुले बाज़ार की व्यवस्था ने सरकार को पंगु बना दिया है। यह अवश्य है कि राज्य अर्थनीति का निर्धारण करता है लेकिन यह अर्थनीति बाज़ार में आकर बेदम हो जाती है, उसकी सांस फूलने लगती है। अर्थनीति में यह बराबर कहा जाता है कि गृह उद्योग और स्वदेशी वस्तुओं के उत्पादन को राज्य बढ़ावा देगी लेकिन बाजार में विदेशी वस्तुएँ सस्ते दामों में धडल्ले से बिकती मिलती हैं। बाज़ार के काम-काज में राज्य का हस्तक्षेप न्यूनतम होता है।
4. **गला काटने वाली प्रतियोगिता** (Cut Throat Competition)—पहले गाँवों के बाज़ार प्रतियोगिता से दूर थे। यहाँ के स्थानीय हाट में ग्राहक को जो उपलब्ध हो जाता था, ले लेता था। अब बाज़ार प्रतियोगी हो गये हैं। इस प्रतियोगिता ने आम खरीददार को अधिक से अधिक वस्तुएँ खरीदने के लिये प्रोत्साहित किया है। प्रतियोगिता कुछ ऐसी चल पड़ी है कि दो वस्तुएँ खरीदो और एक वस्तु मुफ्त में ले जाओ। चुकाने को दाम न हो, तो किश्तों पर ले जाओ। बाज़ार का यह व्यवहार कई आर्थिक प्रक्रियाओं के कारण हैं।
5. **नवीन उद्यमिता** (Neo-entrepreneurship)—अब बाज़ार परम्परागत नहीं रहे, उनमें उद्यमिता आ गयी है। परम्परागत बाज़ार में व्यापारी एक रूढ़िवादी व्यवस्था पर अपना काम-काज चलाता था। उसके ग्राहक उसके आसामी थे। अब यह स्थिति बदल गयी है। जाति और परम्परा पर आधारित व्यापारी अब अपने धंधे को उद्यमिता के रूप में देखते हैं। बाज़ार में बैठने वाले ये लोग हर तरह की जोखिम लेने के लिये तैयार रहते हैं। इसका अर्थ यह निकला कि अब बाज़ार का कारोबार रूढ़िवादी और परम्परागत ढँग से नहीं होता। अब इसमें नवीनता आ गयी है, उद्यमिता का प्रवेश हो गया है।
6. **विशिष्टीकरण और बदलती हुई वर्ग व्यवस्था** (Specialisation and Changing Class System)—योगेन्द्र सिंह कहते हैं कि आधुनिक बाज़ार व्यवस्था ने वर्ग-व्यवस्था को एक नया पोषण दिया है। जो व्यापारी जोखिम लेते हैं, रातों-रात करोड़पति बन जाते हैं। यह ठीक है कि निम्न वर्गों का जितना विकास होना चाहिये था, पिछले 50 वर्षों में नहीं हुआ है। यह सब होते हुए भी बाज़ार ने वर्ग व्यवस्था को समाज

नोट

में अधिक मुखर कर दिया है। यह बाज़ार के कारण ही है कि गाँवो में भी वर्ग-व्यवस्था ने सामाजिक संरचना को अत्यधिक जटिल बना दिया है। अब गाँवों का बाज़ार भी धीरे-धीरे विशिष्ट बाज़ार होने लगा है। पहले बाज़ार सभी लोगों के लिये होते थे, अब गाँव और शहर दोनों में बाज़ारों का विशिष्टीकरण होने लागा है।

7. **बाज़ार के माध्यम से सांस्कृतिक साम्राज्यवाद** (Cultural Imperialism through Market)—बाज़ार का विश्लेषण जब सामाजशास्त्री करता है तो वह उसे केवल आर्थिक विनिमय का केन्द्र ही नहीं मानता। हमारा अनुभव बताता है कि बाज़ार नई संस्कृति को भी पनपाता है। जब मेकडॉनल्ड दिल्ली या चण्ड़ीगढ़ के बाज़ार में आता है तो केवल पीजा ही नहीं बेचता, अमेरिका की संस्कृति और वहाँ के व्यवहारों को भी बेचता है। वहाँ काम करने वाली महिला वेटर भारतीय लड़कियों में एक नई संस्कृति के प्रति उत्सुकता पैदा करती है। बाज़ार के माध्यम से एक ऐसी कोस्मोपोलिटन और विदेशी संस्कृति का बोम्बार्डमेन्ट होता है कि स्थानीय संस्कृति आहत हो जाती है।

भारत में आधुनिक बाज़ार का उद्‌भव एक अ-ऐतिहासिक घटना है। उपनिवेशवाद में बाज़ार का विकास हुआ था। यह विकास अपने विस्तार में बहुत सीमित था। इस काल में देश के पाँच लाख गाँवों में कोई व्यवस्थित बाज़ार नहीं था। कुछ कस्बों और गाँवों में छोटे-छोटे स्थानीय बाज़ार थे। आस-पास के गाँव सामान्यतया बिना बाज़ार के थे। उद्योगीकरण, शहरीकरण और आधुनिकीकरण के कारण बाज़ार धीरे-धीरे अपने विस्तार में बढ़ने लगे। उनमें जटिलता आने लगी और आज तो बाज़ार एक तरह से विश्व बाज़ार बन गये हैं। दुनियाँ के किसी भी कोने की वस्तु देश के सामान्यतया प्रत्येक बाज़ार में उपलब्ध होने लगी है। बाज़ार के इस बढ़ते हुए विस्तार ने सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से सम्पूर्ण समाज को प्रभावित किया है। बाज़ार के ये परिणाम केवल आर्थिक ही नहीं है, सांस्कृतिक भी है, जिसे हम पोप कल्चर कहते हैं। वस्तुतः यह बाज़ार द्वारा प्रेरित लोकप्रिय संस्कृति है।

10.5 आर्थिक सुधार : उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण (Economic Reforms : Liberalisation, Privatisation and Globalisation)

कल्पना कीजिये, हम नुक्कड़ के एक अदने आदमी से पूछते हैं कि देश के सामने कौन-सी आर्थिक समस्याएँ हैं। अपने अनुभव से वह तुरन्त कहेगा कि उसे दिन-प्रतिदिन के जीवन में कई आर्थिक समस्याओं से जूझना पड़ता है; बेरोजगारी दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है; नौकरी के अवसर डगमग रहे हैं। प्रत्येक परिवार में अधिक नहीं तो कम से कम एक व्यक्ति ऐसा है जिसके पास कोई रोजगार नहीं है। आय बहुत घट गयी है। आवश्यक वस्तुओं के भाव आकाश को छू रहे हैं और खाद्यान्नों के भाव बढ़ जाने से आम आदमी कुपोषण का शिकार है। बड़े शहरों के हालात कुछ दूसरे हैं। यहाँ सिर ढँकने को छत मिलना बहुत कठिन है। किराये बहुत ज्यादा हैं। गाँवों में जीवनयापन करना कठिन हो गया है। वहाँ कोई चिकित्सा सुविधा नहीं है। विद्यालय तो है पर अध्यापक नदारद हैं। आर्थिक कठिनाइयों की यह कथा अनन्त है।

दुनियाँ के देशों में भारत का स्थान अत्यधिक गरीब देशों की श्रेणी में हैं। दुनियाँ के निरक्षरों की बहुत बड़ी संख्या हमारे यहाँ है। देश के कोटि-कोटि लोगों को पीने का स्वच्छ पानी उपलब्ध नहीं है। प्रतिदिन हजारों बच्चे ऐसी बीमारी से मर जाते हैं जिन्हें दुरुस्त किया जा सकता है। भोजन के कुपोषण के कारण प्रतिवर्ष हजारों बच्चे अंधे हो जाते हैं। देखा जाय तो एक अरब की जनसंख्या वाला यह देश एक बीमार देश है। हमारे यहाँ संसाधन बहुत हैं फिर भी हम गरीब हैं। इस सम्पूर्ण समस्या का केन्द्र हमारी राजनीतिक अर्थनीति है। पिछले वर्षों में राज्य ने जिस आर्थिक नीति को अपनाया है उसने हमारे सामने आर्थिक समस्याओं का अम्बार खड़ा कर दिया है। राजनीतिक अर्थ नीति पर इस देश में कुछ अधिवृत पुस्तकें आयी हैं। इन पुस्तकों में **अमित भादुड़ी** और **दीपक नैय्यर** की पुस्तक **दि इन्टेलिजेन्ट परसन्स गाइड टू लिबरेलाइजेशन** (The Intelligent Person's Guide to Liberalisation, 1996), भारत सरकार द्वारा प्रकाशित **दि करेन्ट इकॉनामिक सिचुएशन एण्ड प्रायोरिटी एरियाज फॅार एक्शन**

नोट

(The Current Economic Situation and Priority Areas for Action, 1989), और **फूकूयामा** की **दि एण्ड ऑफ हिस्ट्री** (The End of History, 1970) सम्मिलित है। अगर हम पिछले दस वर्षों में प्रकाशित पुस्तकों और राजनैतिक एजेण्डा को देखें तो लगता है कि आज देश में पूँजीवाद अपने विकास की चरम अवस्था में है। ढेर सारी लफ्फाज़ी वैश्वीकरण, निजीकरण और उदारीकाण के बारे में राजनैतिक नेताओं और अर्थशास्त्रियों द्वारा उछाली जा रही है। सभी ओर पूँजीवाद का जय-जयकार हो रहा है।

आज के आर्थिक संकट को समझने के लिये हमें एक बहुत बड़े विवाद को उठाना पड़ेगा। यह विवाद उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण पर केन्द्रित है। हमें यह देखना होगा कि आज देश के सामने कौन-सी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक समस्याएँ है। इन सब अवधारणाओं को अपनाने से हमें इन पर बहस करनी होगी। इस बहस के पीछे हम यह मानकर चलते हें कि प्रजातान्त्रिक संस्थाओं में पूरी पारदर्शिता होनी चाहिये। हमें यह जानने का अधिकार है कि जिस निजीकरण और उदारीकरण को हमने अपनाया है वह हमें यानी देश को कहाँ ले जायेगा।

बीमार अर्थव्यवस्था (Sick Economic)

सन् 1991 में सरकार ने कुछ **आर्थिक सुधार** (Economic Reforms) किये थे। इन आर्थिक सुधारों के अन्तर्गत हम निजीकरण, उदारीकरण और वैश्वीकरण को सम्मिलित करते हैं। ये सब अवधारणाएँ **तकनीकी अवधारणाएँ** (Technical Concepts) हैं और इनका सरोकार हमारी राजनीतिक अर्थनीति और अर्थशास्त्र के साथ है। हम इन सुधारों का यहाँ खुलासा करें इससे पहले हमें यह समझना होगा कि ऐसी कौन-सी आवश्यकता आई जिसने सरकार को आर्थिक सुधार करने के लिये बाध्य किया। सन् 1991 से पहले के 10 वर्ष देश के लिये भंयकर रूप से संकटपूर्ण थे। देश पर विदेशी कर्जे का भार बहुत बढ़ गया था। इस कर्जे की किश्तें चुकाना हमारे लिये भारी पड़ रहा था। सरकार ने देश में ही विविध स्रोतों से जो कर्जा लिया था उसका चुकारा भी नहीं हो पा रहा था। हमारे वार्षिक बजट बराबर घाटे के बजट बनते थे। इधर सार्वजनिक क्षेत्र, एक के बाद एक घाटे में जा रहे थे। हमारे सामने कर्ज चुकाने के लिये कोड़ी भी नहीं थी। ये सब हमारी 1980 के दशक की कठिनाइयाँ थी। आम आदमी इसे नहीं समझ सकता था। वह तो अपने ही चूल्हे से उलझा हुआ था। अर्थशास्त्र की तकनीकी उसकी समझ के बाहर थी।

सच्चाई यह है कि दशक में जो हमारी आर्थिक कठिनाइयाँ थी उसका **बोध** (Perception) एक समान नहीं था। सरकार समझती थी कि यह सार्वजनिक कर्जा बहुत महत्त्वपूर्ण है। देश के लोग कैसे भी आर्थिक संकट में क्यों न हो, सरकार को तो **अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा का कोष** (IMF) और **विश्व बैंक** को किश्तें चुकानी थी। मगर आम नागरिक का बोध कुछ दूसरा था। वह तो यह अनुभव कर रहा था कि उसके रोजगार के अवसर सिमट गये हैं। मध्यम वर्ग की समस्या कुछ और तरह की थी। वह तो चाहता था कि विदेशी पूँजी का निवेश इस देश में होवे और इससे दो पहिया वाहन, मोटरकार, वातानुकूलित यंत्र आदि देश में उपलब्ध हो सके; मध्यम वर्ग तो अधिक से अधिक विदेशी पूँजी का देश में निवेश चाहता था। आपने देखा कि 1980 के दशकों में जो आर्थिक बीमारी इस देश में थी उसके बोध जुदा-जुदा थे। आम आदमी बेरोजगारी के लिये रो रहा था; मध्यम वर्ग वातानुकूलित मोटरकार के लिये तरस रहा था और सरकार को यह पड़ी थी कि वह अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में देश की साख को रख सके।

आर्थिक कठिनाइयों के भंयकर संकट में 1991 में सरकार ने अपनी राजनीतिक अर्थनीति को बदला। उसमें सुधार किया और इसके फलस्वरूप आर्थिक उदारीकरण और निजीकरण आये।

10.6 आर्थिक सुधार (Economic Reforms)

भारत सरकार ने उदारीकाण की जिस अर्थनीति को अपनाया है उसका बहुत बड़ा सम्बन्ध प्रजातंत्र की राजनीति से है। उदारीकरण के अन्तर्गत बाज़ार को स्वतन्त्रता दी गई है। और इसके पीछे जो **प्रजातन्त्र की राजनीति** (Politics of Democracy) है वह यह है कि बाज़ार में अमीर लोगों का प्रभाव बढ़ा जायेगा। अपनी धन शक्ति के कारण वे राजनीतिक सत्ता को खरीद लेंगे और इस तरह **मुक्त बाज़ार** (Free Market) प्रजातन्त्र की राजनीति को भी चलायेगा। सन् 1991 के बाद जब सरकार ने नये आर्थिक कार्यक्रम को अपनाया तब इसके परिणामस्वरूप बाज़ार

नोट

एक तरह से सरकार के हस्तक्षेप से मुक्त हो गया। सामान्यतया गैर-तकनीकी शब्दों में **उदारीकरण वह कार्यक्रम है जिसमें आयात और निर्यात के नियम बहुत ढीले होते हैं और सरकार का इसमें हस्तक्षेप नगण्य हो जाता है।** अब हम थोड़े विस्तार से उदारीकरण के अर्थशास्त्र को समझेंगे:

उदारीकरण किसे कहते है? (What is Liberalisation?)

सन् 1991 में उदारीकरण को अपनाने से पहले देश की आर्थिक हालत खस्ता थी। विदेशी कर्ज को चुकाने के लिये हमारे पास धन नहीं था। एक विशेष प्रकार का **वित्तीय** (Fiscal) संकट सरकार के सामने था। मानसून प्रतिकूल था; विश्व बाज़ार में पेट्रोल के भाव आकाश को छू रहे थे। देश और देश से बाहर का कर्ज इतना बढ़ गया था कि इसे सहन करना मुश्किल था। इस संकट से उबरने के लिये उदारीकरण को अपनाया गया।

अर्थशास्त्रियों ने उदारीकरण की नीति को तकनीकी पदावली में समझाया है। इस आर्थिक सुधार के समर्थक हैं और इसी तादाद में इसके विरोधी भी हैं। इसके समर्थक कहते हैं कि उदारीकरण की मुक्त बाज़ार की अवधारणा देश के आम आदमी के लिये और सरकार के लिये बहुत लाभदायक है। दूसरी ओर उदारीकरण के आलोचक कहते हैं कि सरकार की यह अर्थनीति देश को डूबो देगी। विदेशी निवेश के सामने स्वदेशी बाज़ार समाप्त हो जायेगा। भारतीय उद्योग कमज़ोर हो जायेगा और स्थानीय कलकारखाने ठप्प हो जायेंगे। यह तो सब विवाद है, जरा तकनीकी दृष्टि से उदारीकरण को समझें।

उदारीकरण एक आर्थिक रणनीति है। केवल भारत ही नहीं लैटिन अमेरिका और अफ्रीका के देशों ने भी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सलाह पर उदारीकरण को अपनाया है। यदि भारत ने इसे अपनाया है तो इसमें कोई खास बात नहीं है। **उदारीकरण के अर्थशास्त्र** (Economic of Liberalisation) में दो मुख्य अवधारणाएँ हैं–

(1) स्थिरीकरण (Stabilisation), और

(2) ढाँचागत समायोजन (Structural Adjustment)।

1. स्थिरीकरण (Stabilisation)—**स्थिरीकरण** का अर्थशास्त्र में लगभग वही अर्थ लिया जाता है जो चिकित्सा विज्ञान में लिया जाता है। जब किसी व्यक्ति को हार्ट अटैक हो जाता है तब उसे अस्पताल ले जाते हैं। रोगी संकट में होता है। वह जीवन और मौत के बीच में साँसे लेता है। चिकित्सक दवा-दारू देकर उसे मरने से बचाता है और तब वह कहता है कि रोगी की दशा **स्टेबल** यानी स्थिर है। वह पूर्णरूप से स्वस्थ तो नहीं है लेकिन मरेगा भी नहीं। कुछ इसी तरह का अर्थ अर्थशास्त्री स्थिरीकरण का उदारीकरण में निकालते हैं। होता यह है कि सरकार कुछ ऐसे आर्थिक कार्यक्रम बनाती है जिसके माध्यम से आर्थिक संकट थोड़े समय के लिये टल जाता है। **इस अवधि में लघु अवधि के कर्जों की किश्तें चुका दी जाती हैं और बढ़ती हुई महँगाई को रोक लिया जाता है।** स्थिरीकरण का यह कार्यक्रम **अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष** के सुझाव पर वित्तीय संकट से उबरने के लिये सरकार ने अपनाया है। यह सलाह देने में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की धारणा है कि भारत का घाटे का बजट सम्भल जायेगा और मँहगाई थोड़ी नीचे आ जायेगी। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की इस विचारधारा से वामपंथी अर्थशास्त्री सहमत नहीं हैं वे कहते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने जिस नीति की सिफारिश की है इससे बाज़ार में वस्तुओं की माँग घट जायेगी और इससे उत्पादन कम हो जायेगा। परिणाम यह होगा कि बाज़ार सिकुड़ जायेगा।

2. ढाँचागत समायोजन (Structural Adjustment)–उदारीकरण की दूसरी महत्त्वपूर्ण अवधारणा ढाँचागत समायोजन है। जब सरकार स्थिरीकरण को अपनाती है तो इसके साथ-साथ कुछ आर्थिक **समायोजन** (Adjustment) और आर्थिक सुधार करने पड़ते हैं। इसके लिये सरकार को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक द्वारा थोपे गये कुछ **नीति सम्बन्धी सुधार** (Policy Reforms) करने पड़ते हैं। यदि सरकार स्थिरीकरण को अपनाती है तब उसके लिये आवश्यक हो जाता है कि वह ढाँचागत समायोजन भी करें। ढाँचागत समायोजन के निम्न उद्देश्य है।

(1) वस्तुओं के वे क्षेत्र जिनमें व्यापार नहीं होता उन्हें व्यापारिक बनाया जाये।

(2) अब ढाँचागत परिवर्तन में उत्पादन सरकारी क्षेत्र से हटकर **निजी क्षेत्र** (Private Sector) में आ जायेगा। **ढाँचागत समायोजन में ही निजीकरण निहित है।**

नोट

(3) अब अर्थव्यवस्था को अधिक खुला बनाया जाये।

(4) निजी क्षेत्रों को प्रोत्साहन देने के लिये सभी प्रयास किये जायें।

(5) सामान्य आर्थिक दर्शन यह है कि ढाँचागत समायोजन में बाज़ार की शक्तियों पर अधिक भरोसा किया जाये।

(6) सरकार अपने सभी नियंत्रणों को हटाकर, बाज़ार के भावों पर भरोसा करें।

(7) सार्वजनिक क्षेत्र को समाप्त कर दिया जाये और यह आशा की जाये कि उसका स्थान निजी क्षेत्र ले लेगा।

जब कभी हम उदारीकरण की आर्थिक नीति की चर्चा करते हैं तो इसमें बहुत स्पष्ट रूप से हम **स्थिरीकरण** (Stabilisation) और ढाँचागत समायोजन को अवधारणात्मक रूप में प्रयोग में लाना चाहिये। बहुत मोटे शब्दों में **उदारीकरण के अन्तर्गत निजीकरण भी आ जाता है। इसके अन्तर्गत आयात और निर्यात के नियमों को उदार कर दिया जाता है और दूसरी ओर निजीकरण की भूमिका बढ़ जाती है।** आर्थिक उदारीकरण में सरकार की भूमिका एकदम न्यूनतम हो जाती है।

उदारीकरण के निम्न तथ्य महत्त्वपूर्ण हैं–

(1) आयात पर सरकार का जो नियंत्रण है उसे हटा दिया जाता है। लगभग सभी वस्तुएँ और कच्चा माल देश में आयात किया जा सकता है।

(2) उदारीकरण के परिणामस्वरूप कर का सम्पूर्ण ढाँचा बदल दिया गया है।

(3) उदारीकरण के अन्तर्गत नयी औद्योगिक नीति बनायी गयी है जो औद्योगिक क्षेत्र के नियमन में सहायक है।

(4) **विदेशी विनिमय नीति** (Foreign Exchange Policy) पूरी तरह से बदल दी गयी है और इसके परिणामस्वरूप उद्योग के कई क्षेत्रों में विदेशी पूँजी निवेश को प्रोत्साहित किया गया है।

क्या आप जानते हैं अर्थव्यवस्था में हमारे देश में जो सुधार हुए हैं वे सन् 1991 के बाद हुए हैं। आर्थिक संकट का मुकाबला राज्य की अर्थनीति ने उदारीकरण और निजीकरण के सुधारों द्वारा किया है।

अब जो कुछ केन्द्रीय और राज्य सरकार कर रही है वह स्थिरीकरण और ढाँचागत समायोजन के माध्यम से है। इन्हीं दो नीतियों के कारण देश में आयात और निर्यात के नियमों में बहुत बड़ी उदारता बरती है। इस उदारता को वैश्वीकरण ने अधिक तीव्रता दी है। सरकारी और राज्य स्तर पर विदेशी पूँजी निवेश के कई प्रोत्साहन दिये जा रहे है। यह इसी अर्थनीति के अन्तर्गत है कि निजीकरण का विकास हुआ है।

10.7 नई अर्थव्यवस्था : संघीय बाज़ार अर्थनीति की ओर (New Economic System : Towards Federal Market Economy)

नरसिंहा राव के प्रधानमंत्रीत्व काल में सन् 1991 में जैसाकि हमने ऊपर कहा है कि एक नई अर्थव्यवस्था आयी। इस दौरान मनमोहन सिंह वित्तमंत्री थे। यह पहली बार था कि देश की अर्थव्यवस्था ने एक नया ऐतिहासिक मोड़ लिया। सन् 1950 और 60 के दशक में प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने जो योजना आयोग के अध्यक्ष भी थे जिस राजनीतिक अर्थनीति को अपनाया वह **औद्योगिक आधुनिकीकरण** (Industrial Modernisation) की नीति थी। इस अवधि में नेहरू जी ने बड़े-बड़े कारखानों और उद्योगों की कल्पना की। लेकिन सन् 1991 में पहुँचकर ये सब ऊँचाइयाँ नीचे आ गयी। हुआ यह कि सरकार पर अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का कर्ज़ बढ़ गया और तब उदारीकरण का सूत्रपात हुआ। इसी उदारीकरण ने निजीकरण को जन्म दिया।

निजीकरण की हम कोई भी व्याख्या करें इससे पहले हमें यह कहना चाहिये कि इस नई अर्थव्यवस्था ने **निवेश** (Investment) की जिस नीति को अपनाया इसके परिणामस्वरूप संघीय बाज़ार उभर कर इस देश में आया। **संघीय**

नोट

बाज़ार (Federal Market) की व्याख्या अपने एक लेख में (EPW, May, 2001) **लियोर्ड रूडोल्फ और सूसेन हॉबेर रूडोल्फ** (Lioyd Rudolph and Susanne Hoeber Rudolph) ने की है। इन दोनों अमेरिकी समाजशास्त्रियों का कहना है कि उदारीकरण की जिस अर्थव्यवस्था को भारत ने अपनाया है उसने इस देश में नये संघीय बाज़ार को जन्म दिया है। **अब प्रत्येक राज्य इस प्रतियोगिता में है कि विदेश का अधिकतम निवेश उसके राज्य में हो। अब राज्य का मुख्यमंत्री और उसके वित्त तथा उद्योग मंत्री विदेशों का दौरा करते हैं।** वे अमेरिका जाते हैं पश्चिमी यूरोप की यात्रा करते हैं और जापान पहुँचते हैं, इस तलाश में कि उन्हें विदेशी निवेशक मिल जायें और उनके राज्य में धंधे को विकसित करें। इसके परिणामस्वरूप विदेशी निवेशक बड़ी तादाद में देश की राजधानी में आये हैं। इन निवेशकों का राज्यों की राजधानी में भी दौरा हुआ है। उदाहरण के लिये बिल गेट्स और बिल क्लिंटन हैदराबाद पहुँचे; योशिरो मोरी और लि पेंग बैंगलौर गये। अमेरिका के पूर्व राष्ट्रपति बिल क्लिंटन आंध्रप्रदेश के मुख्यमंत्री चंद्रा बाबू से मिले। महाराष्ट्र सरकार ने एनरान, अमेरिकी कम्पनी से बिजली के ठेके की बात की। ये सब दृष्टांत केवल इस तथ्य को बताते हैं कि उदारीकरण के परिणामस्वरूप अब राज्यों में एक नया संघीय बाज़ार उभरकर आया है। सन् 1991 के पहले विदेशी निवेश का मसला केवल केन्द्र सरकार के हाथ में था। यह पहली बार है कि उदारीकरण के परिणामस्वरूप राज्य अपने स्तर पर ही विदेशी निवेश को प्रोत्साहित करते हैं। उदारीकरण की इस व्याख्या के पश्चात् अब हम इससे उभरने वाले निजीकरण का खुलासा देंगे।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

4. ..... के प्रधानमंत्रीत्व काल में सन् 1991 में एक नई अर्थव्यवस्था आयी।
5. प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू जो योजना आयोग के अध्यक्ष भी थे जिस राजनीतिक अर्थनीति को अपनाया वह ..... की नीति थी।
6. अब प्रत्येक राज्य इस ..... में है कि विदेश का अधिकतम निवेश उसके राज्य में हो।

10.8 निजीकरण (Privatisation)

प्राचीन यूनान में सबसे पहली बार सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों का अन्तर किया गया था वहाँ राज्य का अर्थनीति में कोई योगदान नहीं था। राज्य का काम तो वहाँ केवल हुकूमत करना था; लड़ाइयाँ लड़नी थी; सभ्यता को विकसित करना था; लोगों को शांति और सुरक्षा देनी थी जिससे वे मजबूती प्राप्त कर सकें। यूनान ने निजी क्षेत्रों को पूरी तरह से पृथक् कर दिया था। निजी क्षेत्र परिवार तक सीमित था। यह परिवार की ही दुनियाँ थी जो अर्थव्यवस्था को देखती थी। यूनान में इस भाँति सार्वजनिक क्षेत्र और निजी क्षेत्र में बहुत स्पष्ट अन्तर था। **सार्वजनिक क्षेत्र राजनीति का क्षेत्र था और निजी क्षेत्र परिवार और अर्थव्यवस्था का था।**

धीरे-धीरे जब प्रजातान्त्रिक व्यवस्थाएँ आयीं तब भी निजी और सार्वजनिक क्षेत्र का अन्तर बराबर बना रहा। ब्रिटिश भारत में सरकार ने राजस्व अपने पास रखा था, वह कई प्रकार के कर लेता था लेकिन उद्योग-धंधे बहुत स्पष्ट रूप से निजी क्षेत्र में थे। यह पहली बार था कि ब्रिटिश सरकार ने रेल को सरकारी क्षेत्र में ले लिया। इसका मतलब हुआ आवागमन के साधन धीरे-धीरे सरकारी क्षेत्र में आने लगे। जब कांग्रेस के अवाड़ी सम्मेलन में यह तय हुआ कि देश में समाजवादी समाज की स्थापना की जायेगी, तब सरकार ने संविधान में संशोधन किया और व्यवस्थित रूप से निजी क्षेत्र के कुछ उद्योगों को अपने हाथों में ले लिया। यह उद्योगों का सरकारीकरण था। अब सार्वजनिक क्षेत्र उभरकर आया। सामान्यतया भारत सरकार ने उद्योगों या पूँजी निवेश के क्षेत्रों को आंशिक रूप से अपने पास रखा। लम्बे समय तक सरकार ने अन्य क्षेत्रों को हाथ नहीं लगाया। इसका प्रारम्भ तब हुआ जब सरकार ने शिक्षा को भी निजी क्षेत्र में ले लिया। आज देश की शिक्षण संस्थाएँ सामान्यतया सरकार द्वारा **अनुदानित** (Added) संस्थाएँ हैं। अब तो शिक्षा का क्षेत्र अपने आप में एक उद्योग हो गया है और यह उद्योग निजी क्षेत्र में सरकार के अनुदान से बराबर चल रहा है। चिकित्सा का क्षेत्र भी निजी क्षेत्र में पहुँच गया है।

नोट

जब हम उदारीकरण में मुक्त बाज़ार की बात करते हैं तब यह नहीं समझ लेना चाहिये कि राज्य ने अपने आपको आर्थिक गतिविधियों से एकदम पृथक् कर लिया है। इन नयी प्रक्रियाओं में राज्य ने अपनी एक भूमिका अपना ली है। पिछले वर्षों का अनुभव बताता है कि बाज़ार सब कुछ जानता है ऐसा नहीं है और राज्य का हस्तक्षेप बाज़ार को बिगाड़ देगा ऐसा भी नहीं है। कोरिया, ताइवान और सिंगापुर के अनुभव बताते हैं कि उदारीकरण की प्रक्रिया में राज्य की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण होती है। निजीकरण में राज्य की सबसे बड़ी भूमिका यह है कि वह बाज़ार की असफलता पर अपनी आँखें रखे। मँहगाई बढ़ती है या घटती है इस पर राज्य का हस्तक्षेप होता है। राज्य कुछ **संस्थागत हस्तक्षेप** (Institutional Intervention) भी करता है। उदाहरण के लिये बाज़ार व्यवहार के कुछ नियमों को राज्य बनाता है। इसके लिये राज्य नियंत्रण के कुछ नियम बनाता है। यह राज्य ही है जो व्यापार नीति में सुधार लाता है यदि निजी क्षेत्र आवागमन के साधनों को बनाते हैं तो राज्य देखता है कि यात्रियों को पूरी सुरक्षा दी जाये। ट्राफिक के नियम ऐसे बनाये जायें कि राहगीरों को निश्चित सुरक्षा मिले। अगर राज्य ऐसा नहीं करता तो लोगों का जीवन खतरे में आ जाता है। कभी-कभी राज्य एक निश्चित रणनीति द्वारा (Strategic) बाज़ार को मार्गदर्शन देता है। इसके पीछे राज्य का उद्देश्य दूरगामी विकास की ओर होता है। विदेशी मुद्रा के नियम, ब्याज, की दर आदि राज्य द्वारा ही निश्चित किये जाते हैं। यह सब होते हुए भी ऐसा लगता है कि लम्बी अवधि में जाकर राज्य की आर्थिक भूमिका न्यूनतम हो जायेगी और निजी क्षेत्र पूँजीवाद का पूर्ण नेतृत्व ले लेगा।

आर्थिक सुधारों के बाद उद्योग के क्षेत्र में निजीकरण का विकास तीव्र गति से हुआ है। परम्परा से जिन उद्योगों को सरकार स्वयं करती आ रही है उन्हें भी अब शीघ्रता से निजी क्षेत्र में डाला जा रहा है। इस तरह के सुधार के पीछे जो आर्थिक दर्शन काम कर रहा है वह यह है कि स्थितिकरण और ढाँचेगत समायोजन के लिए उद्योगों और आर्थिक गतिविधियों को निजी क्षेत्र में देना सरकार के लिए लाभदायक है। ऐसा करने से सरकार अपनी अर्थव्यवस्था को बनाये रखेगी। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के कर्जों को चुकाने में यह निजीकरण सहायक होगा। जब निजीकरण चला था। तब इसके दोष अधिक स्पष्ट नहीं हुए थे लेकिन अब ऐसा समझा जाता है कि निजीकरण द्वारा पूँजीवाद का बहुत बड़ा विकास होगा। सरकार ने पूँजी को विकेन्द्रित करके सार्वजनिक क्षेत्रों में डालकर निजी क्षेत्रों में डाल दी है। इसका परिणाम यह होगा कि स्थानीय स्तर पर वर्गों के बीच की खाई अधिक गहरी हो जायेगी। इससे औद्योगिक उत्पादन तो बढ़ेगा लेकिन सामाजिक न्याय की हत्या हो जायेगी।

निजीकरण की आर्थिक नीति की आलोचना कई क्षेत्रों में हुई है। कुछ गैर-सरकारी संस्थाओं ने भी इस नीति को देश के हित में अनुचित बताया है। **अरुन्धती राय** वैसे **बूकर** पारितोषिक की विजेता है, लेकिन नर्मदा बचाओ आंदोलन से भी जुड़ी हुई हैं। हाल में उनकी पुस्तक **पावर पोलिटिक्स** (Power Politics, DC Books, 2001) में उन्होंने उदारीकरण और निजीकरण की बहुत कड़ी आलोचना की है। वे **निजीकरण** को भ्रष्टाचार का **अभिजात्यीकरण** कहती हैं। उन्होंने इस प्रक्रिया का शब्द-चित्र कुछ इस तरह खींचा है–

"निजी क्षेत्र क्रोधित मुद्रा में आरोप लगाता है और सरकार लजाती हुई उन आरोपों को स्वीकार कर लेती है, वह स्वयं को सुधार पाने में न केवल असमर्थता जताती है, बल्कि अपनी ही अयोग्यता को अतिश्योक्तिपूर्ण अभिव्यक्ति देती है। निजीकरण को अकुशल और भ्रष्ट राज्य के एकमात्र विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया जाता है पर वस्तुतः यह कोई विकल्प है ही नहीं, **निजीकरण, निजी कम्पनियों (विशेषकर विदेशी कम्पनियों) और वित्तीय संस्थाओं तथा तृतीय विश्व के अभिजात्य शासक वर्ग को पारस्परिक लाभ पहुँचाने वाला व्यापारिक समझौता है।**

अरुन्धती राय का कहना है कि निजीकरण का मतलब है देश की प्राकृतिक सम्पदा की लूट। अपने कथन के प्रमाण में वे एनरान प्रकरण का उल्लेख करती हैं। वे यह भी स्थापित करती हैं कि निजीकरण और कुछ न होकर शक्ति का संघर्ष है। इस संघर्ष में राजनीतिक दल और सरकार दोनों की भागीदारी है। निजीकरण की आलोचना अर्थशास्त्रियों ने भी की है। उनका कहना है कि नई अर्थव्यवस्था की इस नीति ने समाजवादी समाज बनाने के दर्शन को समाप्त कर दिया है। यह इसी नीति के परिणामस्वरूप है कि एक के बाद एक हमारे सार्वजनिक क्षेत्र ध्वंस हो गये हैं।

नोट

10.9 वैश्वीकरण (Globalisation)

वैश्वीकरण की प्रक्रिया हमारे यहाँ और अन्यत्र भी आर्थिक सुधारों के साथ जुड़ी हुई है। **अमित भादुड़ी** और **दीपक नैय्यर** कहते हैं कि भारत सरकार ने जिस उदारीकरण की नीति को अपनाया है वह अपने आप में एक रूढ़िवादी व्यवस्था है। इस नीति के कारण वैश्वीकरण हाल में नये आयामों को पहुँच रहा है। **इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार वैश्वीकरण के तीन महत्त्वपूर्ण आर्थिक पहलू हैं। पहला तो पहलू यह है कि इससे यानी वैश्वीकरण से अन्तर्राष्ट्रीय बाजार खुल गया है।** अब कोई भी व्यक्ति देश के किसी भी कोने से दूसरे देश के किसी भी कोने के साथ व्यापार कर सकता है। **वैश्वीकरण का दूसरा पहलू यह है कि अब अन्तर्राष्ट्रीय निवेश** (International Investment) **सरलता से किया जा सकता है। किसी भी देश का व्यक्ति हमारे यहाँ उद्योग चलाने के लिए, कारखाना खोलने के लिए पूंजी लगा सकता है। एक तीसरा पहलू और है और वह यह कि अर्थव्यवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सहायता को काम में लिया जा सकता है।** इस भाँति अगर हम आर्थिक संदर्भ में देखें तो वैश्वीकरण ने भारत के अर्थ बाजार में तीन नयी प्रक्रियाएँ प्रारम्भ कर दी हैं–

(1) खुला अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार (Open International Trade)

(2) अन्तर्राष्ट्रीय निवेश (International Investment)

(3) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त (International Finance)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक ने जिस कार्य पद्धति को आर्थिक सुधारों के तत्वावधान में चलाया है इसके कई परिणाम हमें देखने को मिले हैं। **अब आये दिन नई तकनीकी इस देश में आ रही है, सूचना का एक पूरा नेटवर्क देश में फैल गया है और आर्थिक सेवाओं ने सम्पूर्ण देश को अपने में समेट लिया है।** यहाँ यह अवश्य कहना चाहिए कि वैश्वीकरण ने सांस्कृतिक क्षेत्र में भी कई नये आयाम प्रस्तुत किये हैं। लेकिन अभी हम वैश्वीकरण के आर्थिक परिणामों को भी देखेंगे। अब बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ हमारे देश में स्थापित हो गयी हैं। इसके परिणामस्वरूप धड़ाधड़ नये उत्पादन बाहर आ रहे हैं। देश में उपभोक्तावाद निरन्तर बढ़ रहा है। जो भी बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ देश में काम कर रही हैं स्पष्ट रूप से उनका उद्देश्य मुनाफा कमाना है। वे यह इरादा नहीं रखती कि विकासशील देशों को विकसित किया जाये। इस अर्थ में देश में जो भी विदेशी निवेश हो रहा है **उसका उद्देश्य स्थानीय बाजार को अपने हाथ में ले लेना है।** सरकार ने देशी और विदेशी निवेश के लिये कर का एक ही **टेरिफ** (Tariff) लागू किया है। यह समानता वर्ल्ड बैंक और **अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष** के आग्रह से लायी गयी है। सरकार ने उदारीकरण के नाम पर इसे लागू कर दिया है। वास्तव में इसका लाभ विदेशी निवेशक लेते हैं और यह सब धन बाहर चला जाता है। बात यह है कि उदारीकरण और निजीकरण की नीति के अन्तर्गत हमने स्थानीय निवेश को प्रोत्साहित नहीं किया है और परिणामस्वरूप इसका लाभ विदेशी निवेशकों को मिलता है। हमारी निजीकरण की नीति में एक और दोष है। **हम पूँजी के निवेश को देशी और विदेशी दोनों के लाभ के लिए समझते हैं। हमें जोर यह देना चाहिए कि निजी निवेश का उद्देश्य विकास होना चाहिए, मुनाफा नहीं। इस भाँति वैश्वीकरण का बहुत सशक्त आधार आर्थिक है और इसलिए वैश्वीकरण उत्पादन का विदेशी निवेश है और इसी तरह वैश्वीकरण वित्तीय समायोजन का एक साधन है।**

लेकिन वैश्वीकरण अन्तर्राष्ट्रीय बाजार ही नहीं है, अन्तर्राष्टीय व्यापार ही नहीं है, अन्तर्राष्ट्रीय निवेश ही नहीं है, **यह एक ताकतवर सांस्कृतिक प्रक्रिया भी है।** इस पहलू के आलोचक कहते हैं कि **वैश्वीकरण और कुछ न होकर अमेरिका और यूरोप का सांस्कृतिक साम्राज्यवाद** (Cultural Imperialism) **है। अब हम इसके सांस्कृतिक और सामाजिक पक्ष को देखेंगे।**

वैश्वीकरण : सांस्कृतिक और सामाजिक पहलू (Globalisation : Cultural and Social Aspects)

इन्टरनेशनल सोशियोलॉजी (International Sociology) अन्तर्राष्ट्रीय समाजशास्त्रीय समुदाय का एक मुख्य पत्र है। इसने अपने खण्ड 15 जून, 2001 के अंक में वैश्वीकरण की एक बहुत बड़ी व्याख्या की है। यह अंक विशेषांक है और इसका **थीम** वैश्वीकरण ही है। इसके सम्पादकीय में **गोरन थेरबोर्न** (Goran Therborn) ने एक सशक्त

नोट

टिप्पणी वैश्वीकरण पर लिखी है। वे कहते हैं कि इक्कीसवीं सदी की बहुत नजदीकी धरोहर जो समाज विज्ञानों को है वह वैश्वीकरण की है। इसका प्रारम्भ सन् 1930 के मध्य से है। अगर हम सन् 1980 के अंग्रेजी, फ्रेन्च, स्पेनिश और जर्मन शब्द कोषों को देखें तो हमें इनमें वैश्वीकरण नाम का कोई शब्द नहीं मिलेगा। यह अवश्य है कि अरब भाषा में चार शब्द ऐसे हैं जिनका अर्थ यदि खींच-खींच कर लगाया जाये तो वैश्वीकरण से निकलता है। जापान के व्यवसाय में इस शब्द का प्रयोग सन् 1980 के आसपास हुआ है। चीन में तो इसका प्रयोग सन् 1990 के दशक में हुआ है। ये सब उल्लेख बताते हैं कि वैश्वीकरण एकदम नयी प्रक्रिया है जिसके विकास का प्रारम्भ सन् 1990 से है। अन्तर्राष्ट्रीय समाजशास्त्र के सम्पादक एक और सूचना देते हैं। वे कहते हैं कि स्वीडन की सरकार ने 1990 में एक समिति बनायी थी जिसका उद्देश्य दुनियाँ भर में आधुनिकता की जो संस्थाएँ हैं उनकी पड़ताल करना था। इस समिति में कुछ पत्र आमंत्रित किये गये थे उन्हीं को इस विशेषांक में रखा गया है। **यह अंक बड़ी खूबी के साथ बताता है कि समाजशास्त्री वैश्वीकरण का क्या अर्थ लगाते हैं और इसका किस भाँति प्रयोग करते हैं।**

यदि आर्थिक पहलुओं को छोड़ दें तो वैश्वीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जो सांस्कृतिक फैलाव की चर्चा करता है। **यह एक तरह का सांस्कृतिक पेराडिम या ऐजेण्डा है।** वैश्वीकरण के अन्तर्गत जहाँ दुनियाभर की विभिन्नताओं को पहचाना जाता है वहीं दुनियाँ की सजातीयता को भी समझा जाता है। वैश्वीकरण दो तथ्यों पर बराबर जोर देता है। यह सारे संसार की बात करता है और आकाशीय (Spatial) तत्त्वों की चर्चा करता है। जब सन् 1990 में वैश्वीकरण आया तब इसके समर्थकों ने परम्परागत समाजशास्त्र की यह कहकर आलोचना की कि समाजशास्त्र केवल **राष्ट्रीय-राज्यों** (Nation-States) तक ही सीमित है। समाजशास्त्र यह नहीं देखता कि **यह दुनियाँ वास्तव में कई समाजों की एक व्यवस्था है।** वैश्वीकरण समाज के सभी क्षेत्रों का अध्ययन करता है और **ऐसा करने में वह यह देखता है कि दुनियाँभर में विभिन्नताएँ** (Variations) **कितनी है और उनको जोड़ने वाली कितनी इकाइयाँ हैं।** जब वैश्वीकरण सांस्कृतिक पहलुओं का विश्लेषण करता है तब आग्रह करता है कि संसार के कुछ ऐसे तत्व हैं जिनमें आदान-प्रदान होना चाहिए। इस दृष्टि से वैश्वीकरण एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है। यह सामाजिक परिवर्तन को बताती है और सम्पूर्ण विश्व को अपने में बाँध लेना चाहती है।

भारत जैसे देश में जहाँ वैश्वीकरण की प्रक्रियाएँ हमें देखने को मिलती हैं, राष्ट्रीय और स्थानीय संस्कृति पर इसका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। इस प्रभाव के कारण ऐसा लगता है कि कहीं विदेशी संस्कृति का प्रभाव हमारी स्थानीय संस्कृति की पहचान को न समाप्त कर दे। **योगेन्द्रसिंह** ने इन दोनों संस्कृतियों के आदान-प्रदान का विश्लेषण किया है। उन्हें लगता है कि **वैश्वीय संस्कृति** के कुछ तत्त्वों को अपनाकर भी भारतीय स्थानीय संस्कृति अपनी मौलिक पहचान को अवश्य बनाये रखेगी।

टास्क विश्वीकरण का विस्तारपूर्वक वर्णन करें।

10.10 सारांश (Summary)

- आर्थिक संवृद्धि को राष्ट्रीय आय या प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि के रूप में मापा जाता है वहाँ आर्थिक विकास में गुणात्मक पहलुओं पर भी विचार किया जाता है।
- आर्थिक विकास ने मानव जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन ला दिया है जैसे–आय में वृद्धि, जीवन स्तर में परिवर्तन, उद्योगों का विकास, व्यापार, बैंकिग आदि का विकास।
- औद्योगिक क्षेत्र में मानव संबंध को एक महत्त्वपूर्ण शाखा की तरह यूरोप और अमेरिका में माना जाता है। हमारे देश में श्रमिक संघों ने इस दिशा में बहुत बड़ा काम किया है।

नोट

10.11 शब्दकोश (Keywords)

1. **आर्थिक संवृद्धि (Economic Growth)**–देश के उत्पादन में (प्रति व्यक्ति उत्पादन में) समय के साथ-साथ क्या वृद्धि हुई है?
2. **आर्थिक विकास (Economic Development)**–प्रति व्यक्ति उत्पादन में वृद्धि के साथ-साथ आर्थिक व सामाजिक ढाँचे में क्या परिवर्तन हुए हैं? आर्थिक संवृद्धि, आर्थिक विकास के अंतर्गत ही आता है।

10.12 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. आर्थिक विकास का क्या अर्थ है?
2. आर्थिक विकास ने मानव जीवन में क्या-क्या परिवर्तन लाया है?
3. मानव संबंध की अवधारणा स्पष्ट करें।
4. बाजार अर्थव्यवस्था और उसके सामाजिक परिणामों का उल्लेख करें।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. अत्याधिक वृद्धि
2. महत्त्व वृद्धि
3. कार्य उत्पादन
4. नरसिंहा राव
5. औद्योगिक आधुनिकीकरण
6. प्रतियोगिता।

10.13 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. विकास का समाजशास्त्र – *एम. अहमद, न्यू एज इन्टरनेशनल।*
2. विकास का समाजशास्त्र – *राव राममेहर सिंह, अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस।*

नोट

इकाई–11: सामाजिक विकास (Social Development)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

11.1 विकास (Development)

11.2 विकास का क्षेत्र (Fields of Development)

11.3 सामाजिक प्रक्रिया, उद्विकास और प्रगति (Social Process, Evolution and Progress)

11.4 सामाजिक उद्विकास एवं सामाजिक विकास (Social Evolution and Social Development)

11.5 सामाजिक विकास तथा सामाजिक प्रगति (Social Development and Social Progress)

11.6 सारांश (Summary)

11.7 शब्दकोश (Keywords)

11.8 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

11.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- विकास से विभेदीकरण में वृद्धि होती है।
- सामाजिक विकास से समाज का विकासोन्मुख परिवर्तन होता है।
- विकास का संबंध मानव जीवन में उत्तरोत्तर परिवर्तन अर्थात् एक अवस्था से दूसरी अवस्था में बढ़ता है।

प्रस्तावना (Introduction)

मेकाइवर एवं पेज ने समाज को सामाजिक संबंधों की एक परिवर्तनशील व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया है। इन संबंधों में परिवर्तन की गति कभी-कभी इतनी तीव्र होती है कि अध्ययन करते-करते ही संबंध परिवर्तित हो जाते हैं। समाजशास्त्र में इन्हीं प्रतिक्षण होने वाले संबंधों का अध्ययन किया जाता है। विकास जब इच्छित दिशा में चलता है अर्थात् विकास की प्रक्रिया जब आगे को जाती है, तब हम 'प्रगति' शब्द का प्रयोग करते हैं। प्रगति में आदर्शात्मक मूल्यों का भाग निहित रहता है। दूसरे शब्दों में, प्रगति में हम अच्छे-बुरे का, उसके मूल्यांकन का निर्णय करते हैं। प्रगति में विकास की दिशा का कोई न कोई लक्ष्य होना आवश्यक है। इस लक्ष्य का निर्माण प्राकृतिक शक्तियों द्वारा न होकर समाज के मूल्यों से होता है।

नोट

11.1 विकास (Development)

ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी में विकास को "एक क्रमिक खुलासा (A gradual unfolding), किसी भी वस्तु की अधिकतम जानकारी, जीवाणु का विकास" आदि के अर्थ में बताया गया है। उदाहरणार्थ, एक बच्चे द्वारा युवा अवस्था को प्राप्त करने पर उसके शारीरिक एवं मानसिक परिवर्तन को विकास कहेंगे। इसी प्रकार शरीर में बीमारी की बढ़ोतरी को भी विकास कहेंगे, किन्तु विकास का यह अर्थ सामाजिक विकास से भिन्न है।

पूर्व में हमने उद्विकास को एक ऐसे परिवर्तन के रूप में परिभाषित किया है जिसमें एक सीधी-सादी सरल वस्तु सावयव विभेदीकृत होकर जटिल रूप धारण कर लेती है। यह उद्विकास जब सामाजिक मूल्यों के अनुरूप तथा अच्छाई की ओर होता है तो उसे प्रगति कहते हैं। किन्तु विकास परिवर्तन की एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें विभेदीकरण की वृद्धि होती है तथा यह सदैव ऊपर की ओर होता है। विकास का सम्बन्ध सामाजिक मूल्यों से नहीं है। अत: यह अच्छाई और बुराई दोनों ही ओर हो सकता है। यह तो एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिवर्तन की गति को प्रकट करता है। सामाजिक जीवन के उदाहरण द्वारा हम इसे और अच्छी तरह समझ सकते हैं। मानव का सामाजिक जीवन परिवर्तनशील है और वह एक अवस्था से दूसरी अवस्था में बदलता रहा है। यह बदलाव व परिवर्तन अच्छा हुआ या बुरा, हम इसका मूल्यांकन विकास में नहीं करते। विकास में अच्छाई व बुराई दोनों ही हो सकती हैं। उदाहरण के लिए, मानव ने शिकारी, पशुचारण व कृषि अवस्था से आज की औद्योगिक अवस्था तक विकास की एक लम्बी यात्रा तय की है।

नोट्स प्रत्येक अवस्था के अपने गुण व दोष, लाभ व हानि, अच्छाई तथा बुराई हैं जिनका मूल्यांकन विकास में नहीं किया जाता वरन् विकास का सम्बन्ध तो मानव जीवन में उत्तरोत्तर परिवर्तन एवं एक अवस्था से दूसरी अवस्था की ओर आगे बढ़ने से ही है।

हॉबहाउस ने सामाजिक विकास के चार मापदण्डों की व्याख्या की है। वे कहते हैं कि किसी भी समुदाय को तब विकसित कहा जाना चाहिए जब उसकी मात्रा, कार्यक्षमता, स्वतंत्रता और सेवा की पारस्परिकता में वृद्धि होती है। समुदाय की **मात्रा** में वृद्धि का अर्थ है जनसंख्या में बढ़ोतरी, शक्ति का उत्पादन और क्रियाओं का विस्तार, **कार्यक्षमता** में वृद्धि का तात्पर्य है किसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु कार्यों का विभाजन कर उनमें सहयोग की भावना को प्रोत्साहन देना, स्वतंत्रता का अर्थ है समुदाय के प्रत्येक सदस्य को कार्य करने व विचार व्यक्त करने का अधिकार दिया जाना, **सेवा की पारस्परिकता** से तात्पर्य है लोगों में पारस्परिक सहयोग एवं सेवा की भावना में वृद्धि होना। विकास के इन मापदण्डों के आधार पर ही हॉबहाउस ने 'पूर्ण विकास' एवं 'आंशिक विकास' में भेद स्पष्ट किया है। पूर्ण विकास में विकास के सभी मापदण्डों की पूर्ति नैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति की सीमा तक हो जाती है और उनमें पारस्परिक सामंजस्य बना रहता है। आंशिक विकास उसे कहेंगे जिसमें इन चारों मापदण्डों में कोई एक या दो तो सन्तुष्टि की सीमा तक पहुंच जायें और अन्य नहीं पहुँचें। इस प्रकार हॉबहाउस विकास के लिए उपर्युक्त चारों मापदण्डों की समन्वित रूप से सन्तुष्टि आवश्यक मानते हैं।

बोटोमोर कहते हैं कि अनेक नवीन समाजशास्त्रीय रचनाओं में विकास शब्द का एक प्रयोग ग्रामीण एवं कृषि-प्रधान तथा औद्योगीकृत समाजों में भेद प्रकट करने के लिए किया गया है। विकास शब्द के द्वारा इन दोनों प्रकार के समाजों में पाये जाने वाले आय के अन्तर तथा ग्रामीण एवं कृषि-प्रधान समाज के औद्योगीकृत हो जाने की प्रक्रिया को प्रकट किया जाता है। इस प्रकार विकास शब्द का प्रयोग नवीन विचारधारा में दो विशेषताओं को बताने के लिए किया गया है–(*i*) वर्तमान समय में देखे जाने वाले विशिष्ट प्रकार के परिवर्तनों की चर्चा के लिए तथा (*ii*) उन आर्थिक परिवर्तनों के लिए जिन्हें नापा एवं पहचाना जा सके। इस अर्थ में यदि मानव ज्ञान में वृद्धि कर नवीन आविष्कारों द्वारा प्रकृति पर नियन्त्रण बढ़ाने में सफल होता है तो निश्चय ही वह विकास कहलायेगा। विकास का तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक अर्थ में प्रयोग अनेक लेखकों ने किया है। एक महत्त्वपूर्ण नवीन गोष्ठी 'दी चैलेंज ऑफ डवलपमेण्ट'

नोट

में विकास शब्द का प्रयोग कम आय वाले देशों में हो रहे औद्योगीकरण और उसकी तुलना पश्चिमी देशों में हो रहे औद्योगीकरण से करने के सन्दर्भ में किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक समय में विकास शब्द का प्रयोग अधिकांशत: आर्थिक अर्थों में किया गया है। प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि, श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण में वृद्धि, बाजारों का विस्तार, उत्पादन एवं उद्योगों में वृद्धि, पूंजी निर्माण में वृद्धि, प्राकृतिक स्त्रोतों का अधिकाधिक दोहन, मानवीय ज्ञान द्वारा प्रकृति पर अधिकाधिक नियन्त्रण आर्थिक विकास को इंगित करते हैं, किन्तु विकास शब्द के प्रयोग को आर्थिक एवं औद्योगिक क्षेत्र में होने वाले कुछ विशिष्ट परिवर्तनों तक ही सीमित कर देना उचित नहीं है। यह धर्म, प्रथाओं, परिवार, राजनीति, संस्कृति आदि अनेक क्षेत्रों में प्रयुक्त किया जा सकता है। सामाजिक विकास में सामाजिक संबंधों का विस्तार होता है, प्राचीन सामाजिक संरचनाओं, मूल्यों, मनोवृत्तियों एवं विचारों में परिवर्तन एवं वृद्धि होती है। इस प्रकार सामाजिक विकास में व्यक्ति की स्वतन्त्रता, पारस्परिक सहयोग एवं नैतिकता की भावना तथा समुदाय की आय एवं सम्पत्ति में वृद्धि होती है। इस प्रकार आर्थिक विकास सामाजिक विकास का ही एक अंग है जिसे विभिन्न आधारों पर मापना सरल है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि **सामाजिक विकास समाज का विकासोन्मुख परिवर्तन है जिसमें निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नियन्त्रित एवं जागरूक प्रयत्न किये जाते हैं।**

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से **सामाजिक विकास शब्द का प्रयोग एक ऐसी स्थिति को चित्रित करने के लिए किया जाता है जिसमें मानव अपने बढ़ते हुए ज्ञान और कुशलता के द्वारा प्राकृतिक पर्यावरण पर अधिकाधिक नियन्त्रण करता जाता है। सच तो यह है कि सामाजिक विकास मानव की औद्योगिक और आर्थिक कुशलता में होने वाले परिवर्तन की ओर इंगित करता है।** वास्तव में सामाजिक विकास, उद्विकास से इसलिए भिन्न है क्योंकि यह शब्द मुख्यतया वर्तमान राज्यों में होने वाले आर्थिक परिवर्तनों से सम्बन्धित है जबकि उद्विकास एक प्राणिशास्त्रीय अवधारण (Biological Concept) है क्योंकि उद्विकास का प्रयोग अधिकांश विभिन्न जीवों के जीवन सम्बन्धी विकास के लिए किया जाता है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. ..... कहते हैं कि अनेक नवीन समाजशास्त्रीय रचनाओं में विकास शब्द का एक प्रयोग ग्रामीण एवं कृषि-प्रधान तथा औद्योगीकृत समाजों में भेद प्रकट करने के लिए किया गया है।
2. ..... का तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक अर्थ में प्रयोग अनेक लेखकों ने किया है।
3. आधुनिक समय में ..... का प्रयोग अधिकांशत: आर्थिक अर्थों में किया गया है।

11.2 विकास के क्षेत्र (Fields of Development)

यों तो विकास के अनेक क्षेत्र हो सकते हैं; फिर भी मोटे तौर पर विकास के निम्नलिखित क्षेत्रों का उल्लेख किया जा सकता है–

1. **दो प्रकार के परिवर्तनशील समाजों के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए विकास शब्द का प्रयोग किया जाता है–**उदाहरण के लिए, आधुनिक समाजों में औद्योगिक और ग्रामीण क्षेत्रों में जो परिवर्तन की प्रक्रिया दिखलायी देती है, उसका अन्तर विकास की धारणा के आधार पर किया जा सकता है।
2. **सामाजिक जीवन के मूल्यों, प्रतिमानों, तौर-तरीकों आदि में होने वाले परिवर्तनों के लिए भी विकास शब्द का प्रयोग किया जाता है–**आज सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में व्यापक परिवर्तन हो रहे हैं; सब-कुछ बड़ी तेजी के साथ बदलता जा रहा है। इस परिवर्तन का स्पष्टीकरण विकास की धारणा के आधार पर किया जा सकता है।

नोट

3. **पूर्ण औद्योगिक समाज और अल्प औद्योगिक समाज के मध्य अन्तर स्पष्ट करने के लिए भी विकास शब्द का प्रयोग किया जाता है–** उदाहरण के लिए, विभिन्न औद्योगिक समाजों के पारस्परिक सम्बन्धों व ढांचे में होने वाले परिवर्तनों को विकास के आधार पर समझा जा सकता है।
4. **विकास शब्द का प्रयोग जनजातीय समाज (Tribal Society) और आधुनिक गतिशीत समाज के मध्य अन्तर स्पष्ट करने के लिए किया जाता है–** जनजातीय समाज आज भी परिवर्तन के प्रति उदासीन है जबकि आधुनिक समाज पर्याप्त परिवर्तनशील है। इस प्रकार इन दोनों प्रकार के समाजों के मध्य अन्तर की स्थिति का मूल्यांकन विकास के आधार पर किया जा सकता है।

वास्तव में विकास की धारणा पर्याप्त विस्तृत व जटिल है। इसका सम्बन्ध केवल आर्थिक परिवर्तनों तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि **विकास का सम्बन्ध क्रमिक परिवर्तन से है; इसका सम्बन्ध अच्छाई-बुराई, पतन-उत्थान आदि से नहीं है।**

सामाजिक परिवर्तन की अभिव्यक्ति अनेक रूपों में होती है। उद्विकास, प्रगति और विकास सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न स्वरूपों को स्पष्ट करते हैं। वास्तव में उद्विकास, प्रगति और विकास की धारणाएँ इतनी घुली-मिली हैं कि इनमें अन्तर स्पष्ट करना पर्याप्त कठिन है।

टास्क विकास का क्षेत्र क्या है? संक्षेप में वर्णन करें।

11.3 सामाजिक प्रक्रिया, उद्विकास और प्रगति (Social Process, Evolution and Progress)

सामाजिक प्रक्रिया, सामाजिक उद्विकास और सामाजिक प्रगति के सम्बन्ध व भेद को जानने में निम्न चार्ट से काफी सहायता मिलेगी–

1. परिवर्तन (Change) = वस्तु (Object) + समय (Time) + भिन्नता (Difference)
2. प्रक्रिया (Process) = वस्तु (Object) + समय (Time) + भिन्नता (Difference) + निरन्तरता (Continuity)

   अथवा प्रक्रिया (Process) = परिवर्तन (Change) + निरन्तरता (Continuity)
3. उद्विकास (Evolution) = वस्तु (Object) + समय (Time) + भिन्नता (Difference) + निरन्तरता (Continuity) + दिशा (Direction)

   अथवा

   उद्विकास (Evolution) = प्रक्रिया (Process) + दिशा (Direction)
4. प्रगति (Progress) = वस्तु (Object) + समय (Time) + भिन्नता (Difference) + निरन्तरता (Continuity) + दिशा (Direction) + इच्छित मूल्य (Desired Values)

   अथवा प्रगति (Progress) = उद्विकास (Evolution) + इच्छित मूल्य (Desired Values)

नोट

इस प्रकार स्पष्ट है कि सामाजिक जीवन में निरन्तर परिवर्तन होना ही सामाजिक प्रक्रिया है। जब सामाजिक प्रक्रिया को एक निश्चित दिशा मिल जाती है तो उसे सामाजिक उद्विकास कहा जाता है।

क्या आप जानते हैं जब सामाजिक उद्विकास इच्छित मूल्यों के अनुसार होता है जिससे मानवीय सुखों में वृद्धि होती है तो उसे सामाजिक प्रगति अथवा उन्नति कहते हैं।

11.4 सामाजिक उद्विकास एवं सामाजिक विकास (Social Evolution and Social Development)

कई बार सामाजिक उद्विकास एवं विकास को समान ही समझ लिया जाता है, किन्तु इन दोनों में निम्नांकित अन्तर होता है :

1. विकास सदैव ऊर्ध्वगामी (Upward) होता है जबकि उद्विकास किसी भी दिशा में हो सकता है। यह ऊपर एवं नीचे किसी भी दिशा में हो सकता है।
2. विकास में परिवर्तन पूर्व-नियोजित ढंग से लाये जाते हैं जबकि उद्विकास में मानव का कोई हस्तक्षेप नहीं होता, वह स्वत: ही होता है।
3. उद्विकास का सम्बन्धा मानव के सम्पूर्ण सामाजिक जीवन से है जबकि विकास सामाजिक जीवन के कुछ ही पक्षों में सम्भव है। इस प्रकार उद्विकास विकास की तुलना में एक व्यापक प्रक्रिया है।
4. उद्विकास एक मूल्य-रहित और तटस्थ अवधारणा है, यह अच्छाई व बुराई को प्रकट नहीं करती जबकि विकास में कुछ सीमा तक मूल्य जुड़े होते हैं। अत: यह तटस्थ प्रक्रिया न होकर प्रगति के अधिक नजदीक है।
5. उद्विकास एक स्वत: चालित एवं अचेतन प्रक्रिया है जबकि विकास के लिए प्रयत्न किये जाते हैं और यह एक जागरूक प्रक्रिया है।
6. उद्विकास कुछ निश्चित नियमों से व क्रमों द्वारा घटित होता है जो सभी समयों एवं समाजों में समान रूप से होता है जबकि विकास के नियम व क्रम तय नहीं हैं और हर समाज में इसके क्रम भी भिन्न-भिन्न हैं।

11.5 सामाजिक विकास तथा सामाजिक प्रगति (Social Development and Social Progress)

सामाजिक विकास एवं सामाजिक प्रगति का भी एक ही अर्थ में प्रयोग करने की भूल अनेक विद्वानों ने की है। उदाहरण के लिए, हॉबहाउस लिखते हैं, "विकास से मेरा तात्पर्य किसी भी प्रकार की प्रगति से है।" इस प्रकार की भूल का कारण शायद इन दोनों में पायी जाने वाली कुछ समानताएं हैं; जैसे (*i*) दोनों ही मूल्यों पर आधारित अवधारणाएं हैं, (*ii*) दोनों ही गुणात्मक परिवर्तन को प्रकट करती हैं तथा (*iii*) दोनों में ही सचेत एवं जागरूक प्रयत्न करने होते हैं। इन समानताओं के बावजूद भी इन दोनों में निम्न अन्तर हैं :

1. विकास साधन है जबकि प्रगति साध्य। विकास के प्रयत्नों से ही प्रगति आती है। बिना विकास के प्रगति नहीं आ सकती जबकि प्रगति के बिना भी विकास सम्भव है।
2. विकास का अधिकांश सम्बन्ध भौतिक संस्कृति से है जबकि प्रगति का अभौतिक संस्कृति से।
3. प्रगति की तुलना में विकास की माप सरल है क्योंकि इसका सम्बन्ध भौतिक वस्तुओं से अधिक है।
4. विकास एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है जबकि प्रगति की अवधारणा प्रत्येक समाज में अलग-अलग होती है।
5. प्रगति में परिवर्तन का क्षेत्र सीमित है जबकि विकास में व्यापक है।

नोट

6. प्रगति इच्छित लक्ष्यों की ओर होने वाला परिवर्तन है; किन्तु विकास की कोई निश्चित दिशा नहीं है।
7. विकास एक स्वाभाविक प्रक्रिया है जबकि प्रगति के लिए सचेत रूप से प्रयत्न किये जाते हैं।
8. प्रगति की अवधारणा परिवर्तनशील है, सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन के साथ-साथ प्रगति की अवधारणा भी बदलती रहती है जबकि विकास की अवधारणा बहुत कुछ स्थायी है।

11.6 सारांश (Summary)

- सामाजिक विकास मानव की औद्योगिक और आर्थिक कुशलता में होने वाले परिवर्तन को दर्शाता है।
- यह धर्म, प्रथाओं, परिवार, राजनीति, संस्कृति आदि अनेक क्षेत्रों में प्रयुक्त किया जा सकता है।
- उद्विकास तथा विकास में महत्त्वपूर्ण अंतर है, विकास में परिवर्तन पूर्व-नियोजित ढंग से होता है जबकि उद्विकास स्वत: होता है।
- विकास एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है जबकि प्रगति की अवधारणा प्रत्येक समाज में अलग-अलग होती है।

11.7 शब्दकोश (Keywords)

1. **उद्विकास (Evolution)**–इसमें वृद्धि, विकास और निरंतरता की तीनों घटनायें सन्निहित होती हैं। उद्विकास परिवर्तन की एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें किसी वस्तु की अन्तर्निहित विशेषताएँ अपने आपको धीरे-धीरे प्रकट एवं प्रस्फुटित करती हैं।

11.8 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. विकास का क्या अर्थ है? इसके क्षेत्रों का वर्णन करें।
2. सामाजिक उद्विकास तथा सामाजिक विकास में अंतर स्पष्ट करें।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. बोटोमोर
2. विकास
3. विकास शब्द।

11.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. सोसाइटी – *मैकाइवर एवं पेज।*
2. विकास का समाजशास्त्र – *सिंह शिव बहल, रावत पब्लिकेशन।*
3. विकास का समाजशास्त्र – *वन्दना वोहरा, ओमेगा पब्लिकेशन।*

नोट

इकाई–12: भारतीय समाज में एकता एवं विविधता (Unity and Diversity in Indian Society)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
12.1 विषय-वस्तु (Subject Matter)
12.2 भारतीय समाज में विभिन्नताओं में मौलिक अखण्ड एकता (Fundamental Unity among Diversities in India)
12.3 सारांश (Summary)
12.4 शब्दकोश (Keywords)
12.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
12.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- भारतीय समाज व संस्कृति के सतत् विकास को समझना।
- भारतीय समाज व संस्कृति किस तरह भिन्नता में एकता के सूत्र में बंधी है? इसे समझना।

प्रस्तावना (Introduction)

भारतीय समाज (व संस्कृति) अति प्राचीन व गौरवपूर्ण है और वह अपने ज्ञानमय प्रकाश से पथ-भ्रष्ट मानवता को निरन्तर राह दिखलाता आया है। आज भी इस गौरव से भारत वंचित नहीं है। विश्व के कई देश जब आज युद्ध, प्रतियोगिता और आपसी तनाव के बीच फंसकर त्राहि-त्राहि कर रहे हैं, तब भी भारत शान्ति और विश्वप्रेम के अभय-मन्त्र का पाठ उन्हें पढ़ा रहा है; आत्मसचेत व विवेकपूर्ण मार्गदर्शक का काम कर रहा है। इसके लिए अत्यधिक सहिष्णुता व ग्रहणशीलता के गुणों का होना आवश्यक है। भारतीय समाज व संस्कृति में इन गुणों का अभाव नहीं, प्रचुरता रही है। इसीलिए उसने विश्व की विचित्र संस्कृतियों, विचारों, प्रजातियों, दर्शनों धर्मों, भाषाओं आदि के प्रति अत्यधिक सहनशीलता का परिचय देते हुए उन्हें अपने में स्थान दिया है। फलत: प्रत्येक दृष्टिकोण से भारतीय समाज विभिन्नताओं का एक लीला भूमि बन गया है। इन्हीं विविधताओं के वन में फँसकर कुछ विदेशी विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाल लिया है कि भारत विभिन्न जातियों, प्रजातियों, धर्मों, भाषाओं, आचार-विचारों व प्रथा-परम्पराओं का देश है और इसकी संस्कृति में एकता का नितान्त अभाव है। पर यह विचार गलत ही नहीं है, अपितु यथार्थता का अपमान है। ये विद्वान केवल ऊपरी तौर पर भारतीय समाज, संस्कृति व जन-जीवन को देखते है। विविधतायें बाह्य

नोट

है, आन्तरिक रूप में भारत की आधारभूत अखण्ड मौलिक एकता को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। इस अध्याय में उन बाहरी विभिन्नताओं में सारभूत अखण्ड एकता की खोज हम करेंगे।

12.1 विषय-वस्तु (Subject Matter)

'भारतीय समाज या संस्कृति एक-रंगी साड़ी नहीं, बहु-रंगी चुनरी है'। इस कथन का तात्पर्य यह है कि भारतीय संस्कृति में विभिन्न प्रकार के सांस्कृतिक तत्वों का एक अनुपम समन्वय देखने को मिलता है। इन विभिन्नताओं से भारतीय समाज व संस्कृति का कोई बेढंगा रूप सामने नहीं आया है, अपितु उसकी सौन्दर्य-वृद्धि ही हुई है। भारतीय संस्कृति में, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, दूसरों के सांस्कृतिक तत्वों को आत्मसात् करने और अपने भीतर उनको उपयुक्त स्थान प्रदान करने की अद्‌भुत शक्ति है। यही कारण है कि यवन, शक, कुषाण, हूण, मुसलमान और अंग्रेज आदि कितने ही विदेशी सांस्कृतिक समूहों का भारत में प्रवेश हुआ। इनकी संस्कृति एक-दूसरे से बहुत अधिक भिन्न थी, फिर भी भारत ने इन विदेशी संस्कृतियों को नि:संकोच ग्रहण किया और उसे अपने साथ मिला लिया। इस प्रकार समय की माँग के अनुसार विभिन्न तत्वों को आत्मसात् करके भारत ने अपने को क्षुब्ध नहीं किया, अपितु अपनी सम्पन्नता को ही बढ़ाया। भारत ने उन सभी सांस्कृतिक तत्वों को ग्रहण किया जिन्हें ग्रहण किया जा सकता था। इसी ग्रहणशीलता के कारण ही भारतीय समाज (व संस्कृति) आज भी चिर-नूतन, चिरसक्रियता चिर-निरन्तर बना हुआ है और उसमें इतनी विशालता, व्यापकता तथा विविधता देखने को मिलती हैं। इस विविधताओं को हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं–

1. भौगोलिक दशाओं की भिन्नतायें (Diversities in Geographical Conditions)–जैसाकि हम पहले अध्याय में लिख चुके हैं कि भारत का आकार और क्षेत्रफल बहुत बड़ा है। इसका क्षेत्रफल रूस को छोड़कर समस्त यूरोप के क्षेत्रफल के बराबर तथा ग्रेट ब्रिटेन के क्षेत्रफल का बीस गुना है। इतने बड़े देश में भौगोलिक भिन्नताओं का होना स्वाभाविक ही है। भारत में यदि एक ओर बर्फ से ढकी हुई व आकाश को छूती हुई पर्वतों की चोटियाँ और हिमाचल की लम्बी व ऊँची पर्वत-श्रेणियाँ है, तो दूसरी ओर समुद्र की लहरों से खेलते हुए, विस्तृत, उपजाऊ मैदान हैं। यदि एक ओर राजस्थान का शुष्क मरुस्थल है–जहाँ मीलों मानव का नाम तक नहीं है, तो दूसरी ओर सिन्धु-गंगा का वह मैदान भी है जहाँ मानव-जीवन के असंख्य दीप नित्य जल-बुझ रहे है। भारतभूमि में जहाँ एक ओर हिन्दुओं की पापमोचिनी गंगा की लहरें ईश्वरीय आशीर्वाद की भाँति देखने को मिलती है, वहाँ दक्षिण की कुछ ऐसी नदियाँ भी है जिन्हें कि केवल वर्षा में ही जल-प्लावित होने का सौभाग्य प्राप्त होता है।

नोट्स इस देश में न केवल पहाड़ों और नदियों में ही भिन्नतायें हैं, अपितु मिट्टी तक में विविधतायें हैं। यहाँ दोमट और कछारी, काली और लाल विभिन्न प्रकार की मिट्टियाँ पाई जाती हैं।

2. जलवायु की भिन्नतायें (Diversities in Climatic Conditions)–भारत की जलवायु में भी भिन्नताओं की अपूर्वता देखने को मिलती है। जहाँ उष्ण, शीतोष्ण और शीत तीनों प्रकार की जलवायु पाई जाती है यदि एक ओर हिमाचल प्रदेश की, हड्डियों तक को कंपा देने वाली सर्दी है तो दूसरी ओर झुलसा देने वाली राजस्थान के रेगिस्तान की गर्मी भी है। कोंकण और कारोमण्डल तट पर नमी और गर्मी मालाबार की आर्द जलवायु और मालवा की समशीतोष्ण जलवायु भी है।

नोट्स जहाँ एक ओर असम, बंगाल, हिमाचल के दक्षिणपूर्वी ढाल तथा मालाबार तट पर वर्ष में 200 से.मी. से अधिक वर्षा होती है। वहाँ दूसरी ओर कच्छ, राजस्थान व पंजाब के दक्षिणी भाग में 50 से.मी. से भी कम वर्षा होती है।

नोट

3. प्रजातीय भिन्नतायें (Racial differences)–भारत प्रजातियों का अजायबघर (Museum of Races) है। इस प्रदेश में बहुत नाटे कद वाले नीग्रिटो प्रजाति के लोग रहते है और लम्बे कद वाले नार्डिक-प्रजाति के लोग भी। यहाँ पीले या भूरे रंग वाले मंगोल रहते हैं तो चॉकलेटी रंग वाले प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड प्रजाति के लोग भी। जहाँ एक ओर लम्बे सिर वाले भूमध्यसागरीय प्रजाति के लोग निवास करते हैं, वहाँ दूसरी ओर चौड़े सिर वाले आल्पाइन प्रजाति के सदस्य भी यहाँ रहते हैं। इस प्रकार इस देश में नीग्रिटो, प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड, मंगोल भूमध्यसागरीय, अल्पाइन, डिनारी, आर्मीनॉयड, नार्डिक आदि प्रजातियों का महामिलन हुआ है।

डॉ. गुहा द्वारा उल्लिखित प्रजातियों के सम्बन्ध में कुछ संक्षिप्त विवरण उपयोगी सिद्ध होगा–(क) **नीग्रिटो** (Negrito)–यह नीग्रो प्रजाति की एक शाखा है जिसका कद बहुत नाटा होता है। इस उप-प्रजाति के लोगों की अन्य शारीरिक विशेषतायें चौड़ा सिर, गहरा काला रंग, काले ऊनी बाल मोटे होंठ और चौड़ी नाक है। **डॉ. गुहा** के अनुसार यह भारत की सबसे पुरानी प्रजाति है और इसके कुछ चिन्ह कोचीन तथा ट्रावन्कोर की पहाड़ियों में रहने वाली काली कादर और पलयन नामक जनजातियों में, आसाम के आगामी नागाओं में और पूर्वी बिहार की राजमहल की पहाड़ियों की जनजातियों में मिलते हैं। (ख) **प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड** (Proto Australoid)–इस प्रजाति के लोगों के सिर लम्बे, कद छोटा, बाल घुंघराले, खाल का रंग चॉकलेटी, नाक चौड़ी और होंठ मोटे होते हैं। इनके बालों का रंग काला और आँखों का रंग काला और भूरा होता है। मध्य भारत की अधिकाँश जनजातियाँ इस प्रजाति की है। दक्षिण भारत में भी ये लोग पाये जाते हैं। भील और चेनचू जनजातियाँ इसी प्रजाति की मानी जाती है। (ग) **मंगोलॉयड** (Mongoloid)–इस प्रजाति के लोगों की प्रमुख शारीरिक विशेषतायें पीला या भूरा रंग, चपटा चेहरा, गालों की हड्डियाँ उभरी हुई, नाक छोटी और चपटी, सिर चौड़ा और होंठ मोटे होते हैं। भारत में इस प्रजाति की दो मुख्य शाखायें है–प्रथम शाखा प्राचीन मंगोलॉयड है। इनमें लम्बे सिर और चौड़े सिर, यह दो भेद होते हैं। लम्बे सिर वाले आसाम और सीमान्त प्रान्त में बसी जनजातियों में, और चौड़े सिर वाले चटगाँव तथा बर्मा में पाये जाते हैं। दूसरी शाखा तिब्बती मंगोलॉयड है। ये लोग सिक्किम और भूटान में तिब्बत से आकर बस गये हैं। (घ) **भूमध्यसागरीय** (Mediterranean)–इस प्रजाति के लोगों की सामान्य विशेषतायें निम्न हैं–मध्यम कद, लम्बे सिर, हल्का भूरा रंग, चौड़ा मुंह, पतला होंठ और घुंघराले बाल। भारत में इसकी तीन शाखायें हैं। इन तीन शाखाओं में सबसे पुरानी उपप्रजाति प्राचीन-भूमध्यसागरीय है जोकि कन्नड़, तमिल तथा मलयालम भाषाभाषी प्रदेशों में पाई जाती है। दूसरी शाखा भूमध्यसागरीय है। जो पंजाब और गंगा की ऊपरी घाटी में मिलती है और तीसरी शाखा पूर्वीप्रारूप है जो पंजाब, सिन्ध, राजपूताना और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में पाई जाती है। (ङ) **पश्चिमी चौड़े सिर वाले** (Western Brachy Cephalic)–भारतवर्ष की जनसंख्या में इस प्रजाति के भी तीन प्रकार हैं। पहला प्रकार अल्पाइन (Alpinoid) है। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण शारीरिक लक्षण चौड़ा सिर हैं। इनके अतिरिक्त मध्यम कद, नाक छोटी पर ऊँची और खाल का रंग पीलापन के साथ भूरा होता है। यह गुजरात में विशेष रूप से पाई जाती है। और मध्यभारत, पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में भी कहीं-कहीं मिलती है। इस प्रजाति की दूसरी शाखा डिनारी (Dinaric) है। यह बंगाल, उड़ीसा, काठियावाड़, कन्नड़ और तमिल भाषाभाषी प्रदेश में मिलती है। कुर्ग में इस शाखा का सबसे शुद्ध रूप मिलता है। इस प्रजाति की तीसरी शाखा आर्मीनॉयड है। मुम्बई के पारसी लोग इस शाखा के ही प्रतिनिधि है। (च) **नॉर्डिक** (Nordic) इस प्रजाति के लोगों के प्रमुख शारीरिक लक्षण लम्बे सिर, ऊँची और पतली नाक, लम्बे कद, पतले होंठ, बाल सीधे और साधारण घुंघराले और रंग गोरा या गेहुंआ होता है। इस प्रजाति के लोग सिन्धु नदी की ऊपरी घाटी तथा स्वात, पंजकोटा कुमार, चितराल नदियों की घाटियों में और हिन्दुकुश पर्वत के दक्षिण में मिलते हैं। ये कश्मीर, पंजाब और राजस्थान में भी फैले हुए हैं।

उपरोक्त विवेचना और भारत के प्रजातीय इतिहास से यह बात स्पष्ट ही है कि भारत की जनसंख्या के निर्माण में एक नहीं अनेक प्रजातियों का योग रहा है। वे विभिन्न प्रजातियाँ विभिन्न समय में भारत आईं और एक-दूसरे से मिश्रित होती रहीं। महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि भारत की सामाजिक व्यवस्था कुछ ऐसी थी कि इनमें से प्रत्येक प्रजाति को इनमें कोई-न-कोई स्थान मिल ही गया और वे यहाँ के सम्पूर्ण सामाजिक ढाँचें की एक अभिन्न अंग बन गई। इससे उनको आपस में सम्मिश्रित होने के अधिक अवसर प्राप्त हो सके। ऐसी परिस्थिति में किसी भी प्रजाति के

नोट

लिए यह सम्भव न था कि वह अपने शुद्ध रूप को बनाए रखे। यही कारण है कि आज संसार के अन्य देशों की भाँति भारत में भी कोई विशुद्ध प्रजाति नहीं है। इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि "स्मरणातीत युगों से भारत परस्पर विरोधी प्रजातियों और सभ्यताओं का संगमस्थल रहा है और इनमें आत्मसात्करण तथा समन्वय की प्रक्रियायें चलती रही हैं।"

4. धर्म की भिन्नतायें (Diversities of Religion)–प्रजातियों की भाँति हमारे देश में धर्मों में भी भिन्नतायें हैं। भारत धर्मों की लीलाभूमि है। यहाँ एकाधिक धर्म और उसके अनुयायी कितने ही वर्षों से साथ-साथ रहते हैं और अब भी रह रहे हैं। यही कारण है कि हिन्दू धर्म के अगणित रूपों और सम्प्रदायों के अतिरिक्त इस देश में बौद्ध, जैन, सिक्ख, इस्लाम ईसाई आदि धर्मों का प्रचलन है। केवल हिन्दू धर्म के ही विविध सम्प्रदाय व मत सारे देश में फैले हुए है जैसे वैदिक धर्म, पौराणिक धर्म, सनातन धर्म, शक्त धर्म, शैव धर्म, वैष्णव धर्म, राजा बल्लभ सम्प्रदाय, नानकपन्थी, आर्यसमाजी आदि। इनमें से कुछ धर्म साकार ईश्वर की पूजा करते हैं तो कुछ धर्म निराकार ईश्वर की आराधना करते हैं; कोई धर्म बलि और यज्ञ पर बल देता तो कोई अहिंसा का पुजारी है; किसी धर्म में शक्ति-मार्ग की प्रधानता है तो किसी में ज्ञानमार्ग की। यह बात निम्नलिखित विवेचना से और भी स्पष्ट हो जाएगी–

भारतीय धर्मों में **हिन्दू धर्म** का स्थान सर्वप्रमुख है क्योंकि भारत की कुल जनसंख्या का प्रायः 82.41% लोग इसी धर्म के अनुयायी है जोकि संख्या में प्रायः 67.26 करोड़ है। वैदिक धर्म हिन्दू धर्म का आदि रूप है। इसमें अनेक देवी-देवताओं की पूजा व आराधना की जाती है। धार्मिक उत्सव, दान-व्रत, हवन या यज्ञ, पाठ, मूर्ति-पूजा, मन्दिर, तीर्थ-यात्रा आदि इस धर्म के प्रधान अंग बन गए हैं। दूसरा भारतीय **बौद्ध धर्म** है जिसके प्रवर्त्तक गौतम बुद्ध थे। छठी शताब्दी ई.पू. हिन्दू धर्म में कर्मकाण्ड की जटिलता, पशुओं की बलि, अन्धविश्वास, बाहरी दिखावा आदि दोष उत्पन्न हो गए थे। बौद्ध धर्म का विकास उसी की प्रतिक्रिया थी। इस धर्म में सत्य दृष्टि, सत्य भाव, सत्य भाषण, सत्य कर्म, सत्य निर्वाह, सत्य प्रयत्न, सत्य विचार और सत्य ध्यान–इन आठ संयमों पर विशेष बल दिया जाता है। सत्य व अहिंसा इस धर्म का आधार है। **जैन धर्म** में त्याग व अहिंसा पर अत्यधिक बल दिया जाता है। **इस्लाम धर्म** के संस्थापक मुहम्मद साहब (570-632 ई.) थे। यह एकेश्वरवादी धर्म है–अल्लाह एक है और उसके अलावा अन्य कोई देवता नहीं है। वह सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और करूणामय है। नियमित रूप से नमाज अदा करना, संयम, परोपकार, क्षमा, ईमानदारी, सभी मुसलमान भाई-भाई है आदि इस धर्म के प्रमुख नैतिक नियम हैं। **सिक्ख धर्म** के संस्थापक गुरु नानक थे। यह धर्म एकेश्वरवादी तथा मूर्ति-पूजा विरोधी है। ईश्वर सर्वव्यापी, अनत, अखण्ड, अभेद, अछेद और अनादि है। मनुष्य को सदैव उसके ही चिन्तन-ध्यान में लीन रहना चाहिए। नानक ने क्रमशः शरण, ज्ञान, कर्म और सच-इन चार सोपानों को पार कर ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग बतलाया है। **ईसाई धर्म** को महात्मा ईसा ने प्रतिपादित किया था। उन्होंने ईश्वर की एकता, तथा उसकी सर्ववत्सलता एवं निष्पक्षता को लोगों के सामने रक्खा और प्रेम, करुणा, मानव-सेवा, अहिंसा, त्याग और परोपकार का सन्देश दिया। ये भारत के या भारतवासियों के कुछ प्रमुख धर्म और उनके आदर्श व उपदेश हैं। इसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्मों की विभिन्नता भी भारत की अपनी एक रोचक विशेषता है।

5. भाषा की भिन्नतायें (Differences in Language)–भारतवर्ष में 1,652 मातृभाषाओं (mother languages) का प्रचलन है जिन्हें 826 भाषाओं अन्तर्गत लाया जा सकता है। भाषाओं में 103 अभारतीय (non-Indian) भाषायें भी सम्मिलित हैं। प्रमुख 15 भाषाओं के नाम संविधान की आठवी अनुसूची में दिए गए हैं। ये हैं–असमिया, बंगला, गुजराती, हिन्दी, कन्नड़, कश्मीरी, मलयालम, मराठी, ओड़िया, संस्कृत, सिंधी, तमिल, तेलुगु और उर्दू। हिन्दी भाषा को बोलने वालों की संख्या सर्वाधिक है। 36.7 करोड़ व्यक्ति इस भाषा को बोलते हैं और इसे बोलने वाले विशेषकर उत्तर प्रदेश में रहते हैं। इसके बाद क्रमशः बंगला व तेलुगु भाषाओं का स्थान है। उन भाषाओं को बोलने वालों की संख्या क्रमशः 6.8 करोड़ तथा 6.7 करोड़ है। इसके बाद भाषा को बोलने वालों की संख्या के आधार पर हम इस देश की विभिन्न भाषाओं को इस क्रम से प्रस्तुत कर सकते हैं–मराठी, तमिल, उर्दू, गुजराती, मलयालम, कन्नड़, बिहारी, उड़िया, राजस्थानी, पंजाबी, असामी, संथाली, भीली, काश्मीरी, गोंड़ी तथा सिंधी। संस्कृत भाषा को बोलने वालों की संख्या केवल 4,664 है। इन भाषाओं को चार अलग-अलग भाषा-परिवारों (linguistic families)–आर्यन,

नोट

द्राविड़यन, आस्ट्रिक और चीनी-तिब्बती भाषा-परिवार से सम्बद्ध किया जा सकता है। केवल भारतीय जनजातियों या आदिवासी (tribes) को तीन भाषा-परिवारों में विभाजित किया जाता है–

(अ) **आग्नेय भाषा–**परिवार जिसमें मध्य तथा पूर्वी भारत की कोल या मुण्डा समूह की भाषायें या बोलियाँ आती हैं। इस प्रकार की भाषायें बिहार, उड़ीसा, बंगाल और आसाम में प्रचलित संथाली, मुन्दारी खरिया, गारो और खासी जनजातियों द्वारा बोली जाती है।

(ब) **द्रविड़ भाषा–परिवार से** सम्बन्धित भाषाओं व बोलियों को विशेषकर दक्षिणी भारत की जनजातियाँ बोलती हैं।

(स) **चीनी–तिब्बती भाषा-परिवार** से सम्बन्धित भाषाओं व बोलियों का व्यवहार हिमालय के दक्षिणी ढालों पर रहने वाली पंजाब से भूटान, उत्तर-पूर्वी बंगाल और आसाम तक फैली हुई जनजातियाँ करती हैं। इसी प्रकार विभिन्न भाषायें भारत के हर गाँव में हर पल गूंजती रहती हैं। इसीलिए यह कहा जाता है कि भारत के प्रति बीस मील की दूरी पर बोली बदल जाती है।

6. अन्य सांस्कृतिक अनेकत्व (Other cultural plurality)–भारत के विभिन्न प्रदेशों में भाषा, रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा, प्रथा, परम्परा, लोकगीत, लोकगाथा, विवाह-प्रणाली, जीवन-संस्कार, कला, संगीत तथा नृत्य में भी हमें अनेक रोचक व आकर्षक भेद देखने को मिलते हैं। इस देश में विवाह को धार्मिक संस्कार माना जाता है और एक सामाजिक शिष्ट समझौता मात्र भी। यहाँ यदि मुसलमान भाई सिर ढककर खाली पैर नमाज पढ़ते हैं, तो ईसाई भाई सिर खोलकर जूते पहने ही प्रार्थना में सम्मिलित जूते पहने ही प्रार्थना में सम्मिलित हो जाते हैं। इस देश में वेद उपनिषद्, गीता, रामायण, कुरान, बाइबिल और ग्रन्थ साहब सबको माथे से लगाया जाता है; यहाँ दरबारी, कान्हड़ा, मियाँ मल्हार, ध्रुपद, भजन, ख्याल, टप्पा, ठुमरी आदि विविध प्रकार की स्वर-लहरी लहराती है; यहाँ भरत-नाट्यम, कथाकली, कथक, मणिपुरी, आदि विभिन्न प्रकार के नृत्य नाचे जाते हैं और इसी भारतभूमि में तुर्की, ईरानी, भारतीय व पाश्चात्य चित्रकला, मूर्तिकला व वास्तुकला के विविध रूप देखने को मिलते हैं। यही भारतीय संस्कृति की प्रकृति का एक महत्वपूर्ण पक्ष है; यही भारतीय संस्कृति व समाज में पाई जाने वाली विभिन्नतायें हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. ..... की भाँति हमारे देश में धर्मों में भी भिन्नताएँ हैं।
2. हिंदू धर्म के ..... रूपों और सम्प्रदायों के अतिरिक्त इस देश में बौद्ध, जैन, सिक्ख, इस्लाम, ईसाई आदि धर्मों का प्रचलन है।
3. कोई धर्म बलि और यज्ञ पर बल देता है, तो कोई अहिंसा का पुजारी है; किसी धर्म में शक्ति-मार्ग की ..... है तो किसी में ज्ञान मार्ग की।

12.2 भारतीय समाज में विभिन्नताओं में मौलिक अखण्ड एकता (Fundamental Unity among Diversities in India)

भारतीय समाज व संस्कृति में पाई जाने वाली उपरोक्त विभिन्नताओं को देखकर यह निष्कर्ष निकालना गलत न होगा कि भारत की विभिन्नताओं का एक विशाल देश है और इसकी सांस्कृतिक व समाज में एकता का अभाव है। इसमें सन्देह नहीं कि भारत में हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, पारसी आदि विविध प्रकार के लोग निवास करते हैं अपनी-अपनी भाषा, रहन-सहन, रीति-रिवाज, आचार-विचार व्यवहार, धर्म तथा आदर्श एक-दूसरे से अलग हैं। परन्तु यदि हम भारतीय समाज व जन-जीवन का गहरा अध्ययन करें तो हमें स्वत: ही पता चल सकता है कि इन विविधताओं और विषमताओं के पीछे आधारभूत अखण्ड मौलिक एकता भी भारतीय समाज व संस्कृति की अपनी एक विशिष्ट विशेषता है। बाहरी तौर पर तो विषमता और अनेकता ही झलकती है, पर इसकी तह में आधारभूत एकता भी एक शाश्वत सत्य की भाँति झिलमिलाती है। निम्नलिखित विवेचना से यह बात स्पष्ट हो जायेगी–

नोट

1. भौगोलिक एकता (Geographical Unity)–यद्यपि भारतवर्ष को भौगोलिक दृष्टिकोण से कई क्षेत्रों में विभक्त किया जा सकता है, परन्तु सम्पूर्ण देश विशेष सीमाओं द्वारा सुरक्षित और भारतवर्ष के नाम से विख्यात है। इस विशाल देश के अन्दर न तो ऐसी पर्वत-मालायें हैं और न ही ऐसी सरितायें अथवा गहन वन है, जिनको पार नहीं किया जा सकता। अत: भारत एक सम्पूर्ण भौगोलिक इकाई है। इसके अतिरिक्त उत्तर में हिमालय की विशाल पर्वत-माला तथा दक्षिण में समुद्र ने सारे भारत में एक विशेष प्रकार की ऋतु पद्धति बना दी है। "गर्मी की ऋतु में जो भाप बादल बनकर उठती है वह हिमालय की चोटियों पर बर्फ के रूप में जम जाते हैं और गर्मियों में पिघलकर नदियों की धारायें बनकर, वापस समुद्र में चले जाते हैं। सनातन काल से समुद्र और हिमालय में एक-दूसरे पर पानी फेंकने का यह अद्भूत खेल चल रहा है। इसके पश्चात् बरसात आती है, नदियों में पानी आता है, एक निश्चित क्रम के अनुसार ऋतुयें आती है और यह ऋतु-चक्र समूचे देश में एक-सा है। अत: स्पष्ट है कि भारत में पूर्ण भौगोलिक एकता विद्यमान है।"

2. राजनीतिक एकता (Political Unity)–राजनीतिक दृष्टिकोण से भी भारत सदैव एक रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि भारत में सदैव अनेक राज्य विद्यमान रहे, परन्तु भारत के सभी महत्त्वाकांक्षी सम्राटों का ध्येय सम्पूर्ण भारत पर अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापित करने का रहा है और इसी ध्येय से राजसूय, वाजपेय, अश्वमेघ आदि यज्ञ किये जाते थे और एकराट, राजाधिराज, चक्रवर्ती आदि उपाधियों से सम्राट अपने को विभूषित करते और इस अनुभूति को व्यक्त करते थे कि भारत का विस्तृत भूखण्ड राजनीतिक तौर पर भी वास्तव में एक है। प्राचीन ग्रन्थों में इस प्रकार के अनेक राजाओं और सम्राटों की गाथायें मिलती हैं जिन्होंने उत्तर में दिल्ली से, दक्षिण में कन्याकुमारी अन्तरीप तक और पूर्व में आसाम से सिन्धु तक, अपने एकछत्र साम्राज्य बना लिये थे। मध्य युग के कई मुसलमान सुल्तानों और बादशाहों (जैसे अलाद्दीन, अकबर, औरंगजेब आदि) द्वारा सम्पूर्ण भारत पर राज्य करने के प्रयत्न किये गये और वे सफल भी हुए। आधुनिक युग में अंग्रेजी शासनकाल में भी यही हुआ और आज भी राजनीतिक आधार पर सम्पूर्ण भारत एक ही है। राजनीतिक एकता और राष्ट्रीय भावना के आधार पर ही राष्ट्रीय आन्दोलनों व स्वतन्त्रता संग्राम में, देश के विभिन्न प्रान्तों के निवासियों ने दिल खोलकर सक्रिय भाग लिया और अपने प्राणों तक की बाजी लगा दी स्वतन्त्र भारत में राष्ट्रीय एकता की परख चीनी तथा पाकिस्तानी आक्रमणों के दौरान में खूब हो गई है और विश्व के लिए एक उज्जवल दृष्टान्त बन गया है। समकालीन राजनीतिक इतिहास में एक युगान्तकारी परिवर्तन का प्रतीक बन चुके ग्यारहवीं लोकसभा के चुनाव (मई-जून, 1996) परिणाम यद्यपि किसी दल विशेष को स्पष्ट जनादेश नहीं दे पाये, फिर भी राजनीतिक एकता की कड़ी टूटी नहीं है। 19 राष्ट्रीय तथा क्षत्रीय स्तर की पार्टियों के गठबन्धन युनाईटड फ्रन्ट ने सरकार बनाई।

नोट्स **प्रभाष जोशी,** पत्रकार का मानना है कि पार्टी वर्चस्व प्रणाली के बाद अब बहुपार्टी मेलजोल के जमाने में आ गए हैं। प्राचीन और अनुभवी संस्कृतियों में विरोधाभासों को पचाने और विविधताओं को एक चौखट में समरसता के साथ बैठाने की गजब की खूबी होती है।

यही भारतीय राजनीतिक जीवन में विविधताओं में एकता।

3. सांस्कृतिक एकता (Cultural Unity)–**श्री लूनिया** के अनुसार भारत में सांस्कृतिक एकता प्राचीन काल से ही रही है। विभिन्न धर्मावलम्बियों व जातियों के होने पर भी उनकी संस्कृति भारतीय संस्कृति का ही एक अंग बनकर रही है। समूचे देश के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की मौलिक आधार एक-सा है। प्रोफेसर **हुमायूं कबीर** ने ठीक ही कहा है "भारतीय संस्कृति की कहानी, एकता और समाधानों का समन्वय है तथा प्राचीन परम्पराओं और नवीन मानों के पूर्ण संयोग की उन्नति की कहानी है। यह प्राचीनकाल में रही है और जब तक यह विश्व रहेगा तक सदैव रहेगी। दूसरी संस्कृतियाँ नष्ट हो गईं परन्तु भारतीय संस्कृति व इसकी एकता अमर है।"

4. धार्मिक एकता (Religious Unity)–भारत की एकता और अखण्डता भारतीयों के धार्मिक विश्वासों और कृत्यों में स्पष्ट देखने को मिलती है। कहने को तो यहाँ अनेक धर्म, धार्मिक सम्प्रदाय व मत है, पर अगर इसे गहराई

नोट

से देखें तो हमें यह पता चलेगा कि वे सभी समान दार्शनिक व नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित है। एकेश्वरवाद् आत्मा का अमरत्व, कर्म, पुनर्जन्म, मायावाद, मोक्ष निर्वाण, भक्ति आदि प्रायः सभी धर्मों की समान निधि है। इसी प्रकार भारतीयों की सात पवित्र नदियाँ (गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, सिन्ध, नर्मदा और कावेरी), पर्वत और पुरिकायें यद्यपि देश के विभिन्न भागों में स्थिति है तथापि देश के प्रत्येक भाग के निवासी उन्हें समान पवित्र मानते और उसके लिए समान श्रद्धा और प्रेम की भावना रखते हैं। इतना ही नहीं, विष्णु तथा शिव की उपासना सम्पूर्ण भारत में प्रचलित है। राम तथा कृष्ण की गाथा का गुण-गान सम्पूर्ण भारत में किया जाता है हिमालय के शिखरों से लेकर कृष्णा तथा कावेरी के समतल डेल्टाओं तक सर्वत्र शिव और विष्णु के मन्दिरों के शिखर प्राचीनकाल से आकाश से बातें करते और धार्मिक एकता की घोषणा करते आ रहे हैं। इसी प्रकार चारों दिशाओं के चार धाम-उत्तर में बद्रीनाथ, दक्षिण में रामेश्वरम, पूर्व में जगन्नाथपुरी और पश्चिम में द्वारिका भारत की धार्मिक एकता और अखण्डता के पुष्ट प्रमाण हैं। मोक्ष प्रदान करने वाली पवित्र पुरियाँ-अयोध्या, मथुरा, गया, काशी, काँची और अवन्ति-सारे देश में बिखरी हुई हैं। गाय को सभी हिन्दू पवित्र मानते हैं। उनके आदर्श पुरुष मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम और श्रीकृष्ण एक-से हैं। वे समान रूप से उपनिषद्, वेद, गीता, रामायण, महाभारत, धर्मशास्त्र, पुराण आदि के प्रति श्रद्धा रखते हैं। इस प्रकार भारतीयों के समक्ष भारत की एकता की कल्पना सदैव मूर्तिमान रही है।

5. सामाजिक एकता (Social Unity)–भारत के विभिन्न भागों के सामाजिक जीवन में भी साम्य है। संयुक्त परिवार की प्रथा सर्वत्र प्रचलित है। जातिप्रथा का प्रभाव किसी-न-किसी रूप में भारत के सभी लोगों पर पड़ा है। रक्षाबन्धन, दशहरा, दीपावली, होली आदि त्यौहारों का फैलाव समूचे भारत में है। इसी प्रकार सारे देश में जन्म-मरण के संस्कारों व विधियों, विवाह-प्रणालियों, शिष्टाचार, आमोद-प्रमोद, उत्सव, मेलों, सामाजिक रूढ़ियों और परम्पराओं में पर्याप्त समानता देखने को मिलती है।

6. भाषा की एकता (Unity of Language)–भारतवर्ष में भाषाओं की बहुलता है, पर रोचक तत्व तो यह है कि सभी एक ही साँचे में ढली हुई हैं। अधिकाँश भाषाओं की वर्णमाला एक ही है, सभी भाषाओं पर संस्कृत भाषा का प्रभाव देखने को मिलता है जिसके फलस्वरूप भारत की प्रायः सभी भाषायें बहुत अर्थों में समान बन गई है। **श्री लूनिया** ने लिखा है कि ईसा से पूर्व तृतीय शताब्दी में इस विशाल देश की एक राष्ट्रभाषा प्राकृत भाषा थी जो महामान्य सम्राट अशोक का सन्देश उसकी प्रजा के निम्नस्थ श्रेणी के व्यक्ति के द्वार तक ले जाने में भी समर्थ हुई थी। कतिपय शताब्दी पश्चात् संस्कृत नामक एक अन्य भाषा ने इस उप-महाद्वीप के दूरस्थ कोनों में भी अपना घर कर लिया था। समस्त धर्मों का प्रचार संस्कृत व पाली भाषा के द्वारा ही हुआ।

क्या आप जानते हैं संस्कृत के ग्रन्थ रुचिपूर्वक आज भी समस्त देश में पढ़े जाते हैं। रामायण और महाभारत नामक महाकाव्य तमिल तथा अन्य दक्षिण प्रदेशों के राजदरबारों में उतनी ही श्रद्धा और भक्ति से पढ़े जाते थे जितने कि वे पश्चिमी पंजाब में तक्षशिलों की विद्वत् मण्डली एवं गंगा की ऊपरी घाटी में स्थित नैमिषारण्य में।

समस्त देश के विद्वत् समाज को एक सूत्र में पिरोने का काम, पहले प्राकृत व संस्कृत भाषा ने, बाद में अंग्रेजी और आज हिन्दी के द्वारा पूर्ण हो रहा है। भाषा की एकता की इस निरन्तरता को कदापि खण्डित नहीं किया जा सकता।

7. कला की एकता (Unity of Arts)–भारतीय जीवन में कला की एकता भी कम उल्लेखनीय विषय नहीं है। स्थापत्यकला, मूर्तिकला, चित्रकला, नृत्य, संगीत, सिनेमा आदि के क्षेत्र में हमें एक अखिल भारतीय समानता देखने को मिलती है। इन सभी क्षेत्रों में देश की विभिन्न कलाओं का एक अपूर्व मिलन हुआ है। देश के विभिन्न भागों में बने मन्दिरों, मस्जिदों, चर्चों तथा इमारतों में इस मिलन का आभास होता है। दरबारी, मियाँ मल्हार, ध्रुपद, भजन, ख्याल, टप्पा ठुमरी गजल यहाँ तक कि पाश्चात्य धुनों का भी विस्तार सारे भारतवर्ष में है। दक्षिण में बनने वाली फिल्मों को हिन्दी डबिंग के साथ पूरे हिन्दी भाषी क्षेत्र में सिनेमाघरों पर एकसाथ रिलीज़ किया जाता है। साथ ही हिन्दी में बनी लोकप्रिय फिल्मों को अनेक भाषाओं में डब करके देश के कोने-कोने में दिखाया जाता है। इसी प्रकार

नोट

भरतनाट्यम, कथाकली, कत्थक, मणिपुरी आदि सब प्रकार के नृत्य भारत के सभी भागों में प्रचलित है। अत: हम कह सकते हैं कि कला के क्षेत्र में भी भारत में अखण्ड एकता है।

8. भारत के निवासियों की एकता (Unity of Indians)–यह सच है कि भारतवर्ष की प्रजातियों का एक अजायबघर है, पर बाहर से आई आर्य, द्रविड़, शक, सिंथियन, हूण, तुर्क, पठान, मंगोल आदि प्रजातियाँ हिन्दू-समाज में अब इतनी घुल-मिल गई हैं कि उनका पृथक् अस्तित्व आज मिट गया है। इसके अतिरिक्त बहुसंख्यक ईसाई व मुसलमान बन गये थे। धर्म-परिवर्तन कर लेने पर भी हृदय-परिवर्तन नहीं हुआ है। यही कारण है कि हिन्दुओं, मुसलमानों और ईसाईयों के अनेक रीति-रिवाज, उत्सव, मेले, भाषा, पहनावा आदि में समानता है। विरोधी धार्मिक सम्प्रदायों के पवित्र साधुओं, पुण्यात्माओं और पैगम्बरों के परस्पर घनिष्ठ सम्पर्क और मित्रता के अनेक उदाहरण विद्यमान है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत के निवासियों की एकता और भी बढ़ गई है क्योंकि वे सभी आज धर्म-निरपेक्ष भारत-संघ के नागरिक हैं और उन्हें सभी क्षेत्रों में समान अधिकार प्राप्त हैं। इससे पारस्परिक धार्मिक, जातीय व साम्प्रदायिक भेद-भाव शीघ्रता से दूर होता जा रहा है, और भारत के सभी नागरिक आज एक राष्ट्र के रूप में किसी भी विदेशी आक्रमण या विपत्ति का सामना करने के लिए तैयार है। कामना है कि भारत की यह अखण्ड एकता स्थिर रहे और अमर बने।

निष्कर्ष (Conclusion)–उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि बाहरी तौर पर भारतीय समाज, संस्कृति व जन-जीवन में विभिन्नतायें दिखाई देने पर भी भारत एक है, मौलिक व अखण्ड रूप में एक हैं-एक है इसकी संस्कृति, धर्म, भाषा विचार और राष्ट्रीयता। इस एकता को नष्ट नहीं किया जा सकता। हजारों वर्षो की अग्नि-परीक्षा और विदेशी आक्रमणों ने इस सत्य को प्रमाणित कर दिया है। इसीलिए प्रत्येक भारतवासी को आज अपने देश पर नाज है, भारत माँ के नाम तक का उच्चारण करने में उसे असीम गौरव का अनुभव होता है। **कवि गुरु रविन्द्रनाथ टैगोर** द्वारा रचित एक प्रख्यात कविता के भावार्थ के अनुसार, "भारत महामानवता के लिये एक पुण्य तीर्थ के समान है। किसी को भी ज्ञात नहीं कि किसके आह्वान पर मनुष्यों की इतनी धारायें (प्रजाजियाँ) दुबरी वेग से बहती हुई कहाँ से आई और महासमुद्र रूपी इसी भारत में आ मिलीं तथा घुल-मिल गई। यहाँ आर्य है, अनार्य है, यहाँ द्राविड़ और चीनी भी हैं। शक, हूण, पठान और मुगल न जाने कितनी प्रजाजियों के लोग इस देश में आये और सब-के-सब एक ही शरीर में समाकर एक हो गये। समय-समय पर जो लोग रक्त की धारा बहाते हुये, उन्माद और उत्साह में विजय के गीत गाते हुए रेगिस्तानों और पर्वतों को लाँघकर इस देश में आये थे, उनमें किसी का भी अब अलग अस्तित्व नही हैं। वे सब-के-सब एक होकर भारत की गोद में विद्यमान हैं। उससे (उस भारत माँ से) कोई भी दूर नहीं है, उसी के रक्त में सबके रक्त की धाराओं का स्वर आज ध्वनित हो रहा है।" यही महामिलन है, यही एकाकार हो जाना है और यही विभिन्नताओं के बीच भी अखण्ड एकता का मूर्तिमान रूप है–यही हम सबका प्यारा भारत है।

टास्क भारतीय समाज में विभिन्नताओं में मौलिक अखण्ड एकता क्या है? संक्षिप्त वर्णन करें।

12.3 सारांश (Summary)

- भारतीय समाज व संस्कृति विविधताओं से भरी है, जैसे–भौगोलिक दशाओं की भिन्नताएँ, जलवायु की भिन्नताएँ, प्रजातीय भिन्नताएँ, धर्म की भिन्नताएँ आदि।
- यदि हम भारतीय समाज व जन-जीवन का गहन अध्ययन करें तो हमें पता चलता है कि इन विविधताओं और विषमताओं के पीछे आधारभूत अखण्ड मौलिक एकता की भारतीय समाज व संस्कृति की अपनी एक विशिष्ट विशेषता है।

नोट

12.4 शब्दकोश (Keywords)

1. **प्रजाति (Race)**—प्रजाति प्राणिशास्त्रीय आधार पर बना व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जिसमें कुछ सामान्य शारीरिक लक्षण तथा अनुवांशिक गुण होते हैं। ये लक्षण एक समूह में दीर्घकाल तक विवाह-संबंध करने तथा प्रजनन द्वारा नियमित रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संचरण की प्रक्रिया द्वारा बने रहते हैं।
2. **निष्कर्ष (Conclusion)**—भारतीय समाज, संस्कृति व जनजीवन में विभिन्नताएँ दिखाई देने पर भी भारत एक है, मौलिख व अखण्ड रूप में एक हैं—एक हैं इसकी भाषा विचार, संस्कृति, धर्म और राष्ट्रीयता।

12.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. भारतीय संस्कृति, विभिन्न सांस्कृतिक तत्वों का समन्वय है। व्याख्या करें।
2. भारतीय समाज व संस्कृति में विभिन्नता के बावजूद एकता कायम है। कैसे?

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. प्रजातियों
2. अगणित
3. प्रधानता।

12.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. भारतीय समाज – *राम आहुजा।*
2. विकास का समाजशास्त्र – *वन्दना वोहरा, ओमेगा पब्लिकेशन।*
3. विकास का समाजशास्त्र – *एम. अहमद, न्यू एज इन्टरनेशनल।*

नोट

इकाई–13: विकास के आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य : पारिस्थितिकी एवं उदार (Critical Perspectives on Development : Ecological and Liberal)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
13.1 सामाजिक परिस्थितिशास्त्र की परिभाषा एवं अर्थ (Definition and Meaning of Social Ecology)
13.2 मानव और उसकी परिस्थिति (Man and his Ecology)
13.3 नगर के अध्ययन में परिस्थितिशास्त्र (Human Ecology in the Study of Cities)
13.4 सारांश (Summary)
13.5 शब्दकोश (Keywords)
13.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
13.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- पारिस्थितिकी मानव को कैसे प्रभावित करता है?
- मानव और पारिस्थितिकी एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।

प्रस्तावना (Introduction)

"सामाजिक परिस्थितिशास्त्र मानव के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन का क्षेत्रीय परिस्थितियों के संदर्भ में वैज्ञानिक अध्ययन करता है।"

मानव परिस्थिति से प्रभावित होता है और स्वयं परिस्थिति को भी प्रभावित करता है। इस प्रकार मानव और परिस्थिति एक दूसरे से प्रभावित होते हुए घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होते जाते हैं। मानव जीवन और सामाजिक परिस्थिति के इसी पारस्परिक प्रभाव के आदान-प्रदान का अध्ययन सामाजिक परिस्थितिशास्त्र (Ecology) है।

नोट

13.1 सामाजिक परिस्थितिशास्त्र की परिभाषा एवं अर्थ (Definition and Meaning of Social Ecology)

(1) **ऑगबर्न और निमकॉफ–**"मानव परिस्थितिशास्त्र की ही एक शाखा है, परन्तु जैसा कि इसके नाम से पता चलता है, इसका सम्बन्ध मानव सावयव तथा उसके पर्यावरण के मध्य पाए जाने वाले सम्बन्ध से है। इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है किन्तु मानव परिस्थितिशास्त्र विशेष तौर से मनुष्य की क्षेत्रीय व्यवस्थाओं की समस्याओं एवं उनके द्वारा सामाजिक जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों से ही सम्बन्धित रहे हैं।

नोट्स स्पष्ट शब्दों में सामाजिक परिस्थितिशास्त्र या परिस्थितिशास्त्र स्थान और सामाजिक जीवन के सम्बन्ध का अध्ययन करता है।

सामाजिक परिस्थितिशास्त्र मानव के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन या क्षेत्रीय परिस्थितियों के संदर्भ में वैज्ञानिक अध्ययन करता है।

(*a*) सामाजिक परिस्थितिशास्त्र की अवधारणा की विवेचना कीजिए।

(*b*) सामाजिक परिस्थितिशास्त्र क्या है? नगर के अध्ययन में इसकी विवेचना कीजिए।

(2) **क्यूबर** (J.F. Cuber)–"सामाजिक परिस्थितिशास्त्र एक समुदाय में मनुष्यों तथा मानवीय संस्थाओं के प्रतीकात्मक सम्बन्धों एवं उनसे उत्पन्न क्षेत्रीय प्रतिमानों का अध्ययन है (The Ecology is the study of symbolic relationships and the resulting spatial patterning of human beings and human institutions in the community.)"

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सामाजिक परिस्थितिशास्त्र के अन्तर्गत मानवीय अन्त:सम्बन्धों का अध्ययन किन्हीं विशेष स्थान-सम्बन्धी परिस्थितियों के संदर्भ में किया जाता है। इस प्रकार यह कहना उपयुक्त होगा कि सामाजिक परिस्थितिशास्त्र मानव के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन का क्षेत्रीय परिस्थितियों के संदर्भ में वैज्ञानिक अध्ययन करता है।

13.2 मानव और उसकी परिस्थिति (Man and his Ecology)

मानव को प्रभावित करने वाली परिस्थितियाँ बाहरी भी हो सकती हैं और आन्तरिक भी। बाहरी परिस्थितियों के अन्तर्गत जनसंख्या, भौगोलिक दशाओं, प्रादेशिक स्थिति आदि को सम्मिलित किया जा सकता है और आन्तरिक परिस्थिति के अन्तर्गत विचार, भावना, मूल्य, आदर्श, परम्परा, रीति-रिवाज आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। लेकिन इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य बात है कि मानव और परिस्थिति का सम्बन्ध एकतरफा नहीं है। सच तो यह है कि मानव कभी तो अपनी परिस्थितियों से प्रभावित होता है और कभी स्वयं ही उन परिस्थितियों को परिवर्तित व प्रभावित भी करता है। सम्पूर्ण परिस्थिति के अन्तर्गत परिस्थितिशास्त्र भौगोलिक परिस्थितियों, वंशानुक्रम एवं सामाजिक विरासत (Social Heritage) पर बल देते हैं।

परिस्थिति का मानव जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। स्टीनर महोदय परिस्थिति के महत्व को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, "समुदायों के उदय व विकास में परिस्थिति का महत्व पर्याप्त स्पष्ट है। किसी भी स्थान के भूमि-तल की बनावट, यातायात व संदेशवाहन के साधन, उद्योग-धन्धों के प्रकार व समूची आर्थिक-सांस्कृतिक व्यवस्था मानव के सामाजिक जीवन को प्रभावित करती है और उसके भविष्य में होने वाले विकास की सीमा को निर्धारित करती है। कुछ भी हो, विभिन्न विचारकों द्वारा व्यक्त विचारों के आधार पर स्पष्ट तौर पर परिस्थिति के प्रभावों में पाँच प्रकार के प्रभावों का विशेष उल्लेख किया जा सकता है–

नोट

1. भूमितल की बनावट के प्रभाव,
2. जलवायु के प्रभाव,
3. प्राकृतिक पदार्थों की उपलब्धि के परिणामस्वरूप होने वाले प्रभाव,
4. प्रादेशिक या स्थान सम्बन्धी प्रभाव,
5. जनसंख्या सम्बन्धी प्रभाव।

वास्तव में इनमें से पहले तीन प्रभाव तो भौगोलिक दशाओं के ही खण्ड हैं जबकि बाद वाले दोनों प्रभाव समुदाय की विशेषताओं से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार यह कहना उपयुक्त होगा कि सामाजिक परिस्थितिशास्त्र (Social Ecology) मानव एवं उसकी परिस्थिति के मध्य पाये जाने वाले सम्बन्ध व प्रभावों का अध्ययन भौगोलिक परिस्थिति, प्रादेशिक परिस्थिति और जनसंख्या सम्बन्धी परिस्थिति के आधारों पर करता है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. मानव को प्रभावित करने वाली ..... बाहर भी हो सकती हैं और आंतरिक भी।
2. ..... परिस्थितियों के अंतर्गत जनसंख्या, भौगोलिक दशाओं, प्रादेशिक स्थिति आदि सम्मिलित किया जा सकता है।
3. ..... परिस्थिति के अंतर्गत विचार, भावना, मूल्य, आदर्श, परम्परा, रीति-रिवाज आदि को सम्मिलित किया जा सकता है।

13.3 नगर के अध्ययन में परिस्थितिशास्त्र (Human Ecology in the Study of Cities)

सामाजिक परिस्थितिशास्त्र के अनुसार नगर के सामाजिक जीवन और परिस्थिति में पर्याप्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस प्रकार जमीन की ऊँचाई-नीचाई के साथ जीव और वनस्पति का विकास बदलता रहता है वैसे ही ऊँचाई-नीचाई और केन्द्र से दूरी या निकटता के साथ नगर का जीवन भी बदलता रहता है। सर्वश्री **पार्क** और **बर्गेस** (Park & Burgess) का कहना है कि यदि नगर के केन्द्र को बिन्दु मान कर कई परिस्थितियों के दायरे खींचे जाएँ तो नगर का विभाजन निम्न क्रम से मिलेगा–

1. नगर के मध्य में बाजार या व्यवसाय का स्थान होगा।
2. उसके चारों ओर बड़े या छोटे उद्योग धंधों का क्षेत्र होगा।
3. बाद में निम्न व श्रमिक वर्ग के लोगों के रहने की जगह होगी।
4. इसके बाद मध्यम वर्ग और
5. उच्च वर्ग के लोगों का निवास स्थान होगा। **सर्वश्री पार्क व बर्गेस** (Park & Burgess) का यह विभाजन समस्त नगरों पर लागू नहीं हो सकता। यह ठीक ही है क्योंकि सब नगरों में व्यक्तियों के जीवन पर प्रभाव डालने वाले परिस्थितिशास्त्र सम्बन्धी तत्व एक प्रकार के नहीं होते हैं। औद्योगिक नगर सामान्यतया अधिक घने बसे होते हैं और इन नगरों में ताड़ीघर, शराबखाने, वेश्यालय, क्लब, नाचघर, होटल, आदि बड़ी संख्या में दिखाई पड़ते हैं। इसके विपरीत, जिन नगरों में छोटे-मोटे उद्योग होते हैं। वहाँ ये सब दिखाई

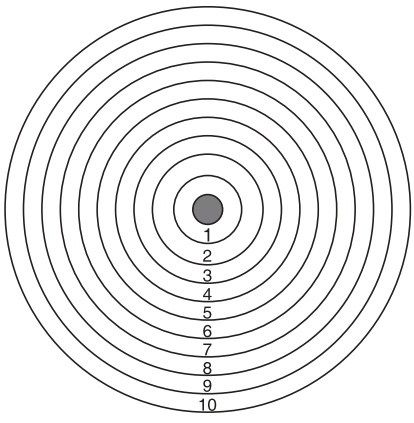

नोट

नहीं पड़ते क्योंकि श्रमिक लोग सामान्यतया शाम को अपने-अपने घरों को पास के गाँवों में चले जाते हैं। इन नगरों में सामाजिक संगठन सुदृढ़ होता है, जनसंख्या कम होती है हड़तालें कम होती हैं और अपराध की दर भी पर्याप्त कम होती है।

नगर के जीवन को प्रभावित करने वाले परिस्थितिशास्त्र सम्बन्धी तत्व–नगर के जीवन को प्रभावित करने वाले प्रमुख परिस्थितिशास्त्र सम्बन्धी तत्वों को संक्षेप में निम्न क्रम से समझाया जा सकता है–

(1) **भौगोलिक परिस्थिति–**भौगोलिक परिस्थिति का नगर की जनसंख्या व व्यवसाय पर स्पष्ट तौर पर प्रभाव पड़ता है; खान-पान पर ग्रामों की तुलना में नगरों का कम प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ बम्बई और लन्दन में सभी प्रकार का भोजन उपलब्ध हो जाता है। रहन-सहन पर भी भौगोलिक परिस्थिति का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ, जापान के नगरों में लकड़ी के मकान दिखाई देते हैं, जबकि राजस्थान के नगरों में पत्थरों की इमारतें देखने को मिलती हैं। अत: यह कहना ठीक ही होगा कि किसी नगर की भौगोलिक परिस्थिति का उसके निवासियों के रहन-सहन, खान-पान, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक आदि जीवन पर काफी प्रभाव पड़ता है।

(2) **यातायात के साधन–**यातायात के साधनों की कमी होने पर नगर की जनसंख्या कम होती है, व्यापार विकसित नहीं होता, लोगों की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं होती और लोग सांस्कृतिक दृष्टि से संकीर्ण विचारों वाले होते हैं। इसके विपरीत यातायात के साधनों की बहुतायत होने पर नगर की जनसंख्या बढ़ती है; आर्थिक व राजनैतिक जीवन गतिशील बनता है और सांस्कृतिक दृष्टि से लोगों में उदारता पनपती है।

(3) **व्यापार और उद्योग–**व्यापार और उद्योग धन्धों का भी नागरिकों के जीवन पर प्रभाव पड़ता है। नगरों में बड़े-बड़े कारखाने व मिलें होने पर स्लमों (slums), होटलों, बड़े-बड़े बाजारों, ट्रामों, बसों आदि की बहुतायत होती है, परिणामस्वरूप जीवन एक विशेष रूप ले लेता है। जिन नगरों में केवल व्यापारिक मण्डियाँ हैं वहाँ का जीवन दूसरे प्रकार का होता है।

(4) **आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक संगठन–**नगर में पाए जाने वाले आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक संगठन भी लोगों के रहन-सहन, खान-पान, वस्त्र आदि के विभिन्न पक्षों को पर्याप्त प्रभावित करते रहते हैं।

ग्रामों के जीवन को प्रभावित करने वाले परिस्थितिशास्त्र सम्बन्धी तत्व–ग्रामों के जीवन को प्रभावित करने वाले परिस्थितिशास्त्रीय तत्वों में निम्नलिखित प्रमुख तत्वों का उल्लेख किया जा सकता है–

(1) **व्यवसाय–**व्यवसायों का भी ग्रामीण जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ, किसानों के गाँव का सामाजिक व आर्थिक जीवन जुलाहों के गाँवों से भिन्न होता है।

(2) **नगरों से दूरी–**गाँव के जीवन पर प्रभाव डालने वाला एक महत्त्वपूर्ण तत्व नगरों से गाँवों की दूरी है। नगरों के नजदीक वाले गाँवों का सामाजिक, आर्थिक व नैतिक जीवन नगरों से दूर वाले गाँवों के लोगों के जीवन से पर्याप्त भिन्न होता है। नगरों के नजदीक वाले गाँवों के लोग दूध, सब्जी, फल, घी, अनाज आदि को नगर में सुविधापूर्वक बेचकर अधिक पैसे वसूल करते हैं; और उनके अनुभवों में नागरिक वातावरण का प्रभाव देखा जा सकता है और वे लोग अधिक समझदार, चालाक, धूर्त, उच्छृङ्खल, समृद्ध व प्रगतिशील हो जाते हैं। इसके विपरीत नगरों से दूर वाले गाँवों में लोगों का जीवन सादा, सरल व नैतिकता पर आधारित होता है।

(3) **सामाजिक संगठन–**जातियों के आधार पर संगठित गाँवों के लोगों में व्यवसाय, सामाजिक स्थिति, आर्थिक अवस्था, रहन-सहन, खान-पान तक जाति के आधार पर निश्चित व परिभाषित होता है। उदाहरणार्थ, अपने देश भारत में अस्पृश्य जाति के लोग गाँवों के बाहर रहते हैं और उनके गाँव में आने पर अनेक प्रतिबन्ध होते हैं। लेकिन यह स्थिति धीरे-धीरे बदल रही है।

नोट

(4) **भौगोलिक परिस्थिति**–भौगोलिक परिस्थिति ग्रामीण जीवन के विभिन्न पक्षों–सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि को पर्याप्त प्रभावित करती है। मैदानों में गाँव अधिक समृद्ध, व्यवस्थित व संगठित दिखाई पड़ते हैं जबकि पहाड़ों के गाँवों में लोगों का जीवन पर्याप्त कठोर, निर्धन व रूढ़िवादी होता है।

(5) **जनसंख्या**–जनसंख्या बढ़ जाने पर गाँव कस्बों का रूप ले लेते हैं और कस्बे नगरों में बदल जाते हैं क्योंकि जनसंख्या के बढ़ने के साथ-साथ गाँवों में भी बाजार हाट, स्कूल व कालेज, थाना-पुलिस, कार्यालय आदि सभी कुछ खुलने लगते हैं। इतना ही नहीं, जनसंख्या के विभिन्न तत्वों के प्रभाव से भी गाँव वालों का जीवन पर्याप्त प्रभावित होता है।

क्या आप जानते हैं जिन गाँवों में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि लोग रहते हैं वहाँ का सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन उन गाँवों से भिन्न होता है जहाँ केवल एक ही धर्म के मानने वाले लोग रहते हैं।

भारतवर्ष में हिन्दुओं और मुसलमानों के गाँवों का सामाजिक जीवन पर्याप्त भिन्न होता है। इसी प्रकार जनजातियों के गाँवों का जीवन बिल्कुल दूसरी तरह का होता है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सामाजिक परिस्थितिशास्त्र मानव की उन परिस्थितियों का अध्ययन करता है जो मानव जीवन के आन्तरिक व बाहरी सम्बन्धों को प्रभावित करती हैं। आधुनिक संसार में मोटे तौर पर दो प्रकार की परिस्थितियाँ पायी जाती हैं। ये दोनों परिस्थितियाँ क्रमशः नागरिक परिस्थिति और ग्रामीण परिस्थिति के नाम से सम्बोधित की जाती हैं। सच तो यह है कि ये दोनों परिस्थितियाँ एक-दूसरे की पूरक हैं और इसलिए इन परिस्थितियों में मानव का सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक आदि जीवन भिन्न प्रकार का होता है। यह ठीक ही है, क्योंकि ग्रामों और नगरों में परिस्थितिशास्त्र सम्बन्धी तत्व एक से नहीं होते। इतना ही नहीं, सभी ग्रामों या सभी नगरों में भी परिस्थितिशास्त्रीय कारक या तत्व एक समान नहीं होते। इस प्रकार ग्राम और नगर के जीवन को प्रभावित करने वाले परिस्थितिशास्त्र सम्बन्धी उपरोक्त वर्णित तत्वों से केवल सामान्य तौर पर ही कुछ जाना जा सकता है।

पर्यावरण एवं प्रदूषण

भारत तथा तृतीय विश्व के अनेक देशों के औद्योगिक तथा नगरीय विकास के प्रवर्तमान प्रवाहों ने स्वास्थ्य एवं मानव सुख शांति के लिए प्रदूषण जैसी भयावह समस्या को जन्म दिया है। प्रदूषण की समस्या अन्य समस्याओं से इतनी भिन्न है कि सामान्य व्यक्ति इसकी भयावहता का अनुमान मुश्किल से ही कर पाता है तथा सभी लोग धीरे-धीरे इसके व्याधिकीय प्रभाव के शिकार हो जाते हैं। मारगेड मीड का कहना है कि आधुनिक औद्योगिक एवं नगरीय सभ्यता से उत्पन्न अनेक समस्याओं में प्रदूषण एक गंभीर समस्या है।

नगरीकरण के बढ़ते प्रवाह के साथ प्रदूषण की समस्या निम्न कारणों से उत्तरोत्तर विकट होती जा रही है।

(क) कानूनी नियमों के बावजूद अंधाधुंध औद्योगिक व रासायनिक केंद्रों की वृद्धि।

(ख) नगरों के पूर्व औद्योगिक काल के ढांचे की तंग गलियों व संकीर्ण सड़कें जो समय के बहाव के साथ सुगम परिवहन के लिए अनुपयुक्त हो गई हैं।

(ग) गगनचुंबी इमारतें जो नगरों के ऊर्ध्वाधर वृद्धि के प्रतीक हैं–अंतोत्गत्वा जनसंख्या के उच्च घनत्व एवं प्रदूषण को जन्म देती हैं।

(घ) जमीन की अतिशय कमी एवं व्यापारिक सट्टेबाजी के कारण भूमि के प्रभावकारी एवं व्यवस्थिति उपयोग के तरीकों का अभाव।

नगरों में प्रदूषण का सबसे बड़ा स्रोत भीड-भाड़ से भरी सड़कों पर चलने वाले लगातार बढ़ते परिवहन के साधन हैं। भीड़-भाड़ से भरी सड़कों पर चलने वाले वाहन धुआं, कार्बन डाइऑक्साइड, नाइट्रोजन, हाइड्रो कार्बन, एल्डेहाइड्स एवं आयोडाक्साइड इत्यादि छोड़ते रहते हैं।

नोट

आबादी तथा प्रौद्योगिकीय प्रदूषण के स्त्रोतों के साथ ही **पर्यावरण के प्रदूषण के कारकों में मानवीय कारकों को अनदेखा नहीं किया जा सकता है।** पर्यावरण की स्वच्छता के बारे में नगरवासियों तथा उद्योगपतियों की लापरवाही, स्थानीय अधिकारियों की पर्यावरण की सुरक्षा के लिए प्रमाणिक मानदण्डों के प्रति लापरवाही, उपलब्ध जमीन पर स्वार्थनिहित समूहों का आधिपत्य और जन-सुविधाओं जैसे कि शौचालय, गटर, कूड़ा-करकट इकट्ठा करने की पेटियां, नल तथा स्नानागार की पंगु स्थिति नगर के वातावरण में इतना प्रदूषण उगलते हैं कि नगरों के अनेक भाग गंदगी तथा कूड़े के ढेर का जीवन्त उदाहरण बन जाते हैं। प्राय: यह देखा गया है कि अस्पतालों और उद्यानों की स्वच्छता इतनी गिर गई है कि वे स्वच्छता के मापदण्डों से कोसों दूर नजर आते हैं। नगरीकरण की लगातार बढ़ती जाती दर एवं उपलब्ध जमीन पर आबादी के बढ़ते हुए दबाव के फलस्वरूप वातावरण का प्रदूषण नगरवासियों के स्वास्थ्य तथा सुख-शांति के लिए एक चुनौती बन गया है। तीव्र गति से बढ़ रही इन दयनीय स्थितियों का निदान केवल ऐसे क्रमबद्ध कार्यक्रम द्वारा हो सकता है, जो पर्यावरण के संरक्षण के लिए सुनियोजित तथा प्रभावकारी नीति के अतिरिक्त नगरवासियों में आवश्यक जागृति का जनक भी हो।

गंदी व तंग बस्तियों की समस्याएं–नगरीकरण की तेज गति के फलस्वरूप नगरों में गंदी व तंग बस्तियों की समस्या एक तरह से अवश्यम्भावी तथा अभिशाप हो गयी है।

गंदी व तंग बस्तियों में रहने वाली जनसंख्या

नगरीय आबादी का वह भाग जो आज गंदी और तंग बस्तियों में रहता है, उसकी सही संख्या उपलब्ध नहीं है। फिर भी, यह सर्वमान्य तथ्य है कि नगरीय आबादी का लगभग पांचवां भाग गंदी और तंग बस्तियों में रहता है। सातवीं योजना के अभिलेख में जो आंकड़े उपलब्ध कराए गये हैं, उनके अनुसार भारतीय नगरों में रहनेवाली जनसंख्या का 10 प्रतिशत (अथवा कुल 16 करोड़ में से 3 करोड़) गंदी और तंग बस्तियों में रहते हैं। योजना आयोग भारत सरकार द्वारा नियुक्त की गयी आवास एवं नगरीय विकास समिति ने अनुमान लगाया कि भारत में लगभग 23 प्रतिशत या 3 करोड़ 60 लाख से ज्यादा लोग नगरीय गंदी और तंग बस्तियों में रहते हैं। आवास एवं नगरीय विकास "टास्क फोर्स" ने बताया कि ऐसे नगरों में जिनकी जनसंख्या एक लाख से कम है, 17.5 प्रतिशत, एक लाख से दस लाख के बीच की जनसंख्या वाले नगरों में 21.5 प्रतिशत, तथा ऐसे नगरों में जिनकी जनसंख्या दस लाख से अधिक है 35.5 प्रतिशत (सम्पूर्ण जनसंख्या में से) गंदी व तंग बस्तियों में रहने वाले लोग हैं। कलकत्ता और मुम्बई के संदर्भ में ऐसा अनुमान लगाया गया है कि 1990 में क्रमानुसार 43.86 लाख और 41.26 लाख जनसंख्या गंदी बस्तियों में रहती थी। चार महानगर-कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली और मद्रास में संपूर्ण जनसंख्या के 50 प्रतिशत लोग झोपड़-पट्टियों में रहते हैं।

गंदी व तंग बस्तियों का उद्गम–द नेशनल इन्स्टीच्यूत ऑफ अर्बन अफेअर्स, नई दिल्ली के अनुसार झोपड़-पट्टियां प्रमुखतया निम्न तीन कारणों से बनती हैं।

(क) नगर की जनसांख्यिकी गतिशीलता जो रोजगार देने की विशेष क्षमतायुक्त है, फलस्वरूप ग्रामीण इलाकों से लोगों को आकर्षित करती है।

(ख) आवासों की बढ़ती हुई मांग को पूरा करने में नगर की असक्षमता, और

(ग) प्रवर्तमान नगर-भूमि नीति जो भूमि बाजार में गरीबों की पहुंच को असम्भव बनाती है।

यह भी देखा गया है कि नगर के गरीब के पास अन्य कोई विकल्प न होने के कारण वे उपलब्ध जमीन पर अपना अवैध मकान या आश्रय बना लेते हैं। अक्सर यह भी पाया गया है कि नगर के पुराने इलाकों में झुग्गी-झोपड़ियां एक अभिशाप का रूप धारण कर लेती हैं। कभी-कभी नगर की भौतिक सीमाओं के विकास के साथ-साथ झोपड़-पट्टियां पुराने गांव अथवा कोई नियमविहीन एंग से विकसित बस्ती के रूप में विरासत में मिलती हैं।

भारत सरकार ने नगरीय विकास की विभिन्न योजनाओं को लागू करने के उद्देश्य से, झोपड़-पट्टी की परिभाषा इस प्रकार की है। "झोपड़-पट्टी क्षेत्र का अभिप्राय किसी भी ऐसे क्षेत्र से है जहां ऐसे आवासों की बाहुल्यता हो जो जर्जरित, भीड़-भाड़ युक्त, गलत व्यवस्था एवं गलत नक्शे से बने हों, तथा जहां गलियों की तंग व गलत व्यवस्था हो, हवा एवं रोशनदान का अभाव हो, गन्दे पानी के निकास के लिए गटर का अभाव हो, खाली जगह तथा

नोट

सामुदायिक सुविधाओं की अपर्याप्तता हो, अथवा इन सभी का एक मिला-जुला स्वरूप हो जो लोगों की सुरक्षा, स्वास्थ्य अथवा नैतिकता के लिए हानिकारक हो। इन झोपड़-पट्टी क्षेत्रों को अभिशप्त इलाका, खराब इलाका, दयनीय इलाका, गंदा इलाका, निम्न वर्ग समूह का पड़ोस, अथवा निम्न आय समूह इलाका आदि नामों से भी जाना जाता है। भारत में इन इलाकों को "चाल", "झोपड़-पट्टी", "बस्ती", "अकातास", एवं "चेरी" इत्यादि नामों से भी जाना जाता है। माइकल हारि-गट्न के अनुसार तेज गति के औद्योगिक-नगरीय विकास के समक्ष अमरीका जैसे प्रौद्योगिकी में सम्पन्न तथा पूंजीवादी देश में भी ऐसी झोपड़-पट्टियां हैं जिसे प्रायः "दूसरा अमरीका" कहा जाता है।

गंदी व तंग बस्तियों के लक्षण–गंदी व तंग बस्तियों से संबंधित भौतिक तथा सामान्य पहलू सभी स्थानों पर लगभग समान होते हैं। इनके मुख्य लक्षणों को संक्षेप में निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है।

(1) बिना किसी ढंग के तथा बेकार सामग्री से बने जर्जरित एवं दयनीय घर। ये मुख्यतः अवैध भूमि पर बने होते हैं।

(2) जनसंख्या एवं घरों के उच्च घनत्व के कारण भीड़-भाड़ तथा संकरापन उत्पन्न होता है, इन दशाओं में प्रायः घरेलू-जीवन के सभी कामों के लिए एक ही कमरे का उपयोग किया जाता है। बम्बई तथा अन्य बड़े नगरों में देखा जा सकता है कि झोपड़-पट्टियों के इलाके में लगभग 100 वर्ग फीट से 150 वर्ग फीट क्षेत्र के एक कमरे में 10 से अधिक व्यक्ति रहते हैं।

(3) कई जन-सुविधाएं जैसे कि गटर तथा गन्दे पानी की नालियां, सीवर-लाइन, नल, बिजली, स्वास्थ्य केन्द्र, जन-शौचालय आदि का अभाव झोपड़-पट्टियों का एक व्यापक लक्षण है।

(4) यद्यपि झोपड़-पट्टी के निवासी उपयोगी कार्य करते हुए नगर की मुख्य धारा से जुड़े होते हैं, फिर भी विचलित व्यवहारों की अत्यधिक घटनाएं जैसे–अपराध, बाल-अपराध, वेश्यावृत्ति, नशीले पदार्थों का सेवन, भिक्षावृत्ति अवैधता, अवैध रूप से मादक द्रव्यों का बनाना यानी कि अवैध शराब की भट्टियां चलना, जुआ तथा अन्य कई सामाजिक कुरीतियां इन इलाकों से जुड़ी होती हैं। इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि झोपड़-पट्टियों में रहने वाले सभी लोग इस प्रकार के समाज विरोधी व्यवहारों में फंसे हुए हैं। सत्य यह है कि झोपड़-पट्टी के इलाके इस प्रकार के अपराधिक कार्यों के लिए सामाजिक तथा भौतिक रूप से विशेष अवसर प्रदान करते हैं।

(5) झोपड़-पट्टी की अपनी स्वयं की एक संस्कृति होती है जिसे मार्शल क्लीनार्ड ने "जीवन की एक शैली" की उपमा दी है। इसे निम्न वर्ग की संस्कृति का निचोड़ अथवा संश्लेषण भी कहा गया है जिसे लेविस गरीबी की संस्कृति के रूप में वर्णित करते हैं।

(6) उदासीनता तथा सामाजिक अलगाव भी झोपड़-पट्टियों का एक अन्य लक्ष्य है। इसका अर्थ यह है कि झोपड़-पट्टियां मुख्यतः वृहद् समुदाय के लोगों की अवगणना तथा उदासीनता की शिकार होती हैं। इन इलाकों को निम्न तथा हीन गिना जाता है। वृहद् समुदाय की इस उपेक्षा के कारण झोपड़-पट्टियां सामाजिक अलगाव में आ जाती हैं। एवं नगर से अलग पड़ जाती है। इन परिस्थितियों में झोपड़-पट्टी-निवासी अपने प्रयास से अपनी स्थिति को सुधारने में लगभग असमर्थ-सा पाते हैं।

यद्यपि झोपड़-पट्टियों जन-सुविधाओं के साथ-साथ जर्जरित एवं भीड़-भाड़ युक्त नगर के इलाके होते हैं, फिर नगर में इनका अस्तित्व गरीब एवं रोजगार की तलाश में आने वाले असहाय प्रव्रजकों के लिए आशीर्वाद का रूप है। इसमें ही असहाय लोग जैसे औद्योगिक श्रमिक, दिहाड़ी-मजदूरी फेरी वाले, छोटे दुकानदार, सब्जी बेचने वाले, तथा वे अन्य तमाम लोग जो नगर की महत्त्वपूर्ण सेवाओं में लगे होते हैं। अपना आश्रय पाते हैं। यहीं पर विभिन्न जातियों, धर्मों, प्रदेशों तथा भाषाओं के लोग अत्यंत खराब परिस्थितियों के बावजूद एक साथ रहते हैं। अतः कई बार ये झोपड़-पट्टियां नये प्रवजकों को नगरीय वातावरण के अनुरूप बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। दूसरे शब्दों में झोपड़-पट्टियों के निवासी नये प्रवजकों को नगर की परिस्थितियों में समायोजन करके जीवन की मुख्य धारा से जोड़ने में अपना सहारा एवं सहयोग देते हैं।

नोट

भारत में मुख्यत: झोपड़-पट्टियों को निम्न तीन भागों में वर्गीकृत किया गया है

(1) पुराने घर और चालें जो समय के बहाव के साथ जर्जरित एवं दुर्दशा में आ गए हैं।

(2) वे झोपड़-पट्टियां जो खराब तथा अनुपयुक्त घरों वाली हैं, परन्तु मिलों के आसपास कानूनी रूप से निर्मित की गई हैं, तथा

(3) ऐसी झोपड़-पट्टियां जो नगर के विभिन्न स्थानों पर गैर-कानूनी ढंग से कब्जे की गई भूमि पर अवैध रूप से पनप जाती हैं।

अपर्याप्त आवास

नगरों की आबादी में तेज गति से हो रही वृद्धि ने अनेक समस्याओं को जन्म दिया है जिसमें सबसे खेदजनक समस्या आवास की है। वास्तविकता यह है कि नगरवासियों का एक विशाल भाग अतिदयनीय आवासों तंग-बस्तियों में रहता है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि बड़े-बड़े नगरों के लगभग 70 प्रतिशत लोग निम्न स्तर के मकानों में रहते हैं जिसे वे "अपना घर" कहते हैं। यहां पुराने मकानों का विशेष उल्लेख किया जा सकता है जो मरम्मत के अभाव, अतिशय भीड़-भाड़ एवं दुर्दशा के कारण बदतर होते जा रहे हैं। प्राय: ऐसे पुराने घर नगरों के मध्यम में ज्यादातर पाए जाते हैं। इसी प्रकार सैकड़ों ऐसे व्यक्ति हैं जो शहरों में "फुटपाथों" पर बिना किसी प्रकार के आश्रय के रहते हैं।

शहरी आवास की समस्या से निपटने अथवा उसे सुलझाने के लिए शहरी विकास के विभिन्न कार्यक्रमों के माध्यम से व्यवस्थित रूप से प्रयास किए जा रहे हैं। इन प्रयासों में आर्थिक रूप से पिछड़े वर्गों के लिए उन्हें आर्थिक सहायता देकर उनके आवास निर्माण करने की और गन्दी बस्तियों का उन्मूलन करना तथा उनका सुधार करने के लिए चलाई जा रही योजनाओं का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। ये योजनाएं बहुत ही प्रासंगिक रही हैं तथा शहर में रहने वाले गरीब लोगों के हित में बनाई गई हैं।

असुरक्षित और अपर्याप्त जल-आपूर्ति

घरेलू उपयोग के लिए जल की उपलब्धता आधारभूत जन-सुविधाओं में से एक है। दुर्भाग्यवश, भारत सहित तृतीय विश्व के देशों के नगरों में कुछ ही नगरवासी ऐसे हैं जो इस सुविधा को लगातार एवं संतोषजनक रूप से प्राप्त कर रहे हैं। भारत में लगभग 30 प्रतिशत नगरवासी पीने के शुद्ध पानी की सुविधाओं से वंचित हैं। नगरों तथा शहरों में पानी प्राप्त करने के प्रमुख स्त्रोत नगर पालिकाओं के नल तथा हैण्ड पम्प हैं। किन्तु ज्यादातर नगरों में, विशेषत: तेजी से बढ़ रहे नगरों में, झुग्गी-झोपड़ियों में रहने वालों को घरेलू उपयोग हेतु पानी प्राप्त करने में भारी कठिनाई उठानी पड़ती है। कई सुव्यवस्थित अध्ययनों द्वारा इस संबंध में झुग्गी-झोपड़ियों में रहने वाले लोगों की दुर्दशा प्रकाश में आई है। सार्वजनिक नलों पर पानी के लिए कतार लगानी पड़ती है। नल में पानी आना बंद हो जाने के भय से उससे पहले, घरेलू उपयोग के लिए पानी प्राप्त करने के प्रयास में न केवल नल पर घण्टों तक इंतजार करना होता है, अपितु कई बार इन्हें आपसी मारा-मारी तथा अप्रिय झगड़ों में भी कूदना पड़ता है। कई जगह ऐसा भी पाया गया कि सौ से भी ज्यादा परिवार पूर्णत: एक ही नल पर आश्रित हैं। तेज गति तथा संचालन की क्षमता से परे ऐसे नगरीकरण के प्रवाह के बीच छोटे-छोटे नगरों और शहरों में भी लगातर जल-आपूर्ति एक विकट समस्या का रूप धारण कर रही है।

अप्रभावी और अपर्याप्त परिवहन

एक कार्यदक्ष परिवहन की सुविधा का अभाव एक अन्य ऐसी समस्या है जो स्थानीय प्रशासन के लिए लगभग सभी बड़े शहरों में सिर दर्द बनी हुई है। वास्तव में कार्यदक्ष और सुसंचालित परिवहन व्यवस्था का जाल नगरवासियों के निवास और काम के स्थल के बीच तथा प्रमुख व्यापारिक केंद्रों पर आना-जाना सुगम बनाता है। इस तरह की परिवहन व्यवस्था उन लोगों के लिए भी वरदान स्वरूप होती है जो रोजी-रोटी के लिए नगरों पर आश्रित होते हैं पर नगर में स्थायी निवास करने के बजाय गांव से प्रतिदिन नगर में आते-जाते हैं एक तरफ संकीर्ण और तंग सड़कें व गलियां एवं उनकी दयनीय दशा तथा दूसरी तरफ पब्लिक बसें, रिक्शा, दो पहिये के वाहन, कार, बैल गाड़ी, ट्रक तथा साइकिलें आदि जैसे परिवहन के साधन एक साथ दौड़ते हुए भीड़-भाड़ व ट्रैफिक जाम का एक विचित्र दृश्य

नोट

खड़ा करते हैं जो लगभग नगर के प्रत्येक भाग में, खासतौर से व्यापारिक क्रियाओं के इलाकों तथा अन्य महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में, दिखाई देता है। इस प्रकार तीव्र नगरीकरण के कारण परिवहन की समस्याएं इतनी मुश्किल हो गई हैं कि इससे संबंधित कोई भी प्रयास स्थायी निदान हेतु असक्षम दिखाई देता है। नगरों के पुराने एवं पूर्व-औद्योगिक काल के भागों में संकरी सड़कें व उससे भी ज्यादा तंग गलियों में सुगम परिवहन व्यवस्था की शायद ही कोई गुंजाइश होती है। इसके अलावा नगरों में जो कुछ परिवहन का जाल पाया जाता है वह भी ट्रैफिक जाम तथा परिवहन साधनों की दुर्दशा के कारण वातावरण के प्रदूषण का एक प्रमुख स्त्रोत बन जाता है।

भारत में विकास एवं रोजगार कार्यक्रम

रोजगार संवर्द्धन हेतु भारत सरकार ने अनेक कार्यक्रम लागू किए हैं दिसम्बर 1994 के अन्त तक भारत के सेवायोजना केन्द्रों मे लगभग 3 करोड़ 67 लाख बेरोजगार पंजीकृत थे। आठवीं पंचवर्षीय योजना के दस्तावेज के अनुसार गत दो दशकों में देश में रोजगार के अवसरों में 2.2 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से वृद्धि हुई है, जबकि श्रमशक्ति में वृद्धि की दर 2.5 प्रतिशत रही है इसके परिणामस्वरूप बेराजगारों की संख्या में और वृद्धि हुई है। आठवीं योजना के अनुसार देश में बेरोजगारों की वर्तमान संख्या तथा आने वाले वर्षों में सृजित अतिरिक्त श्रमशक्ति को ध्यान में रखते हुए आगामी 10 वर्षों में प्रतिवर्ष रोजगार के एक करोड़ नए अवसर सृजित करने होंगे। अर्थात् प्रतिवर्ष रोजगार में 3 प्रतिशत वृद्धि का लक्ष्य प्राप्त करना होगा। योजना आयोग ने सन् 2002 तक सभी के लिए रोजगार का लक्ष्य निर्धारित किया हुआ है। रोजगार चाहने वालों की संख्या 2.3 करोड़ थी। आठवीं योजना (1992-97) के दौरान श्रमशक्ति में 3.5 करोड़ तथा नवीं योजना (1997-2002) के दौरान 3.6 करोड़ की वृद्धि का अनुमान लगाया गया था। इस प्रकार 1992-2002 की अवधि में कुल 9.4 करोड़ लोगों के रोजगार की तलाश में होने का अनुमान है। इसके लिए इस समयावधि के दौरान कम-से-कम 94 लाख रोजगार के अवसर प्रतिवर्ष सृजित करने होंगे। आठवीं योजना में 1 करोड़ अवसर प्रतिवर्ष सृजित करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन द्वारा हाल ही में जारी विश्व रोजगार रिपोर्ट में विश्व में तेजी से बढ़ रही बेरोजगारी की स्थिति पर चिन्ता व्यक्त की गई है। 24 सितम्बर, 1998 को जेनेवा व वाशिंगटन में एक साथ जारी 1998-99 को इस रिपोर्ट में कहा गया है कि एशिया व अन्य देशों में चल रहे आर्थिक संकट के फलस्वरूप 1998 के अन्त तक विश्व में बेरोजगारों तथा अर्ध बेरोजगारों की कुल संख्या 1 अरब तक पहुँच जाएगी, जो विश्व की कुल श्रम शक्ति का एक-तिहाई है, एशियाई वित्तीय संकट के परिणामस्वरूप इस वर्ष ही 1 करोड़ लोग बेरोजगार हुए हैं रिपोर्ट के अनुसार भारत व पाकिस्तान में बेरोजगारी निवारण के लिए शिक्षा पर पर्याप्त व्यय नहीं किया जा रहा है यद्यपि इन देशों में पर्याप्त औद्योगीकरण हुआ है।

शहरी समस्याओं पर राज्य की नीति

अब भारत में यह स्वीकारा जाने लगा है कि नगरीकरण, आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन एक नगण्य पहलू नहीं है। अत: अब इस बात पर जोर दिया जाने लगा कि जिस तरह औद्योगिक विकास, जनसंख्या वृद्धि और कृषि विकास के मामलों में राष्ट्रीय नीति के अभाव के अनेकों कारण हैं, किन्तु इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण मुद्दे ऐसे नीति की वांछनीयता, गांवों को आत्मनिर्भर बनाने की उत्कंठा, तथा राज्य विषयसूची में नगरीकरण के विषय को समाविष्ट कर रहे हैं। फिर भी, राष्ट्र के योजनाबद्ध विकास के प्रयत्नों में पंचवर्षीय योजनाएं, नगरीकरण की दर में अद्वैतिक वृद्धि के कारण नगरीय समस्याओं का जो प्रचण्ड स्वरूप हो रहा है, उन्हें काबू में लाने की जो नीतियां अपनाई जा रही हैं, उनका परिचय देती हैं। यहां इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि इन प्रयासों में ज्यादातर गरीब तथा निम्न आय वर्ग के लोगों की स्थिति को सुधारने पर बल दिया जाता रहा है। यहां आवास, पानी निकास एवं जल आपूर्ति की समस्याओं के साथ-साथ नगर विकास की अन्य समस्याओं को हल करने के लिए किए गए प्रयासों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है।

नगरीकरण की सभी जगन्य समस्याओं में से नगरों में आवासों की कमी एक बड़ी समस्या है। महानगरों में तो यह समस्या चरम स्तर पर पहुँच गई है। इस समस्या को दूर करने हेतु निम्न दो दिशाओं में योजनाबद्ध प्रयत्न किए गए है :

नोट

(क) नगर में जमीन तथा आवास से संबंधित सामाजिक कानूनीकरण,

(ख) झोपड़-पट्टियों को दूर करने तथा नये आवासों के निर्माण हेतु कार्यक्रम।

नगरों में आवास की समस्या को हल करने हेतु निम्नलिखित प्रयास किए गए हैं–

नगर में जमीन तथा आवास से संबंधित सामाजिक कानूनीकरण

संविधान प्रत्येक भारतीय नागरिक को मुक्त रूप से एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की स्वतंत्रता देता है किन्तु आवास उपलब्ध कराने की जिम्मेदारी न तो नगरवासियों के लिए है और न ही ग्रामवासियों के लिए।

गंदी व तंग बस्तियों को हटाकर नए आवास निर्माण के कार्यक्रम

तेज गति से हो रहे नगरीकरण के कारण नगरीय आबादी का एक बड़ा भाग गंदी व तंग बस्तियों में रहता है तथा आवास, जल-आपूर्ति, जल-निकासी तथा अन्य जन-सुविधाओं की कमी से पीड़ित हैं। इन नगरीय समस्याओं ने इतना प्रचण्ड रूप धारण कर लिया है कि इसके सामाजिक कानूनीकरण तथा राष्ट्रीय योजना में विशेष ध्यान दिए जाने की आवश्यकता आ खड़ी हुई है। इन प्रयासों के प्रवाह में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम गंदी तंग बस्तियों को हटाकर गरीब व निम्न आय वर्ग के नगरवासियों हेतु आवासों का निर्माण करना है। इस कार्यक्रम के अंतर्गत कम लागत के आवासों के शौच, स्नानागार, नल, गटर तथा जल निकासी आदि की सुविधाओं से सुसज्जित करके उन गरीबों को उपलब्ध कराये जाते हैं, जो अपनी निम्न मासिक आय के कारण केवल नाममात्र को भुगतान कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त झोपड़ियों के हटाने के इस कार्यक्रम के अंतर्गत आर्थिक तथा सामाजिक रूप से कमजोर वर्ग के लोगों की किसी एक पूरे बस्ती का चयन करके वहां सभी लोगों के उपयोग के लिए आवश्यक जन-सुविधाएं प्रदान की जाने लगी हैं। झोपड़-पट्टियों के हटाने के इन कार्यक्रमों को सरकार द्वारा अनुदान भी दिया जाता है।

कई नगरों में राज्य सरकारों तथा स्थानीय संस्थाओं की वित्तीय एवं अन्य सहायता से नये आवासों के निर्माण हेतु निम्नलिखित कार्यक्रमों को क्रियान्वित किया गया है।

(क) 1952 में औद्योगिक श्रमिकों के आवास निर्माण हेतु एक योजना अस्तित्व में आई।

(ख) 1954 में निम्न आय वर्ग के लोगों के लिए आवास निर्माण हेतु एक अन्य योजना अस्तित्व में आई।

(ग) द्वितीय पंचवर्षीय योजना के लागू होने के तुरंत बाद (1956) में झोपड़-पट्टियों को हटाने व उनके सुधार के लिए एक नियमित रूप से चलने वाली योजना अस्तित्व में आई।

(घ) द्वितीय पंचवर्षीय योजना से भारतीय जीवन बीमा नियम ने मध्यम आय वर्ग के लोगों को आवास निर्माण हेतु कर्ज देना शुरू किया।

(ङ) पांचवीं पंचवर्षीय योजना से उच्च आय वर्ग के लोगों के आवास निर्माण के कार्य को हाथ में लिया गया जिसके पीछे यह उद्देश्य था कि इस तरह के निर्माण से प्राप्त लाभ को नगर के गरीब व निम्न वर्ग के आवास बनाने में लगाया जा सकेगा। इस बारे में हाउसिंग एण्ड अर्बन डेवलपमेंट कारपोरेशन को विशेष हिदायत दी गई।

फिर भी, व्यवस्थित अध्ययनों के आधार पर पता चलता है कि इन योजनाओं के लाभ ज्यादातर मध्यम एवं उच्च वर्ग के लोगों द्वारा ही हड़प लिए जाते हैं। नगर के गरीब की दुर्दशा तो यथावत रही है।

झोपड़-पट्टियों के हटाने के कार्यक्रम को सक्षमता में लागू करने के मार्ग में एक सबसे बड़ा अवरोध पर्याप्त धनराशि का अभाव है। वित्तीय कमी के इस मुद्दे पर सातवीं योजना में विशेष ध्यान दिया गया। इसके फलस्वरूप केन्द्र सरकार से प्राप्त 100 करोड़ रुपये की वित्तीय सहायता के साथ एक "नेशनल हाउसिंग बैंक" की स्थापना की गई। नेशनल हाउसिंग बैंक के निम्नलिखित उद्देश्य प्रस्तावित किए गए हैं।

(1) एक ऐसे राष्ट्रीय संगठन की स्थापना करना जिसका काम केवल आवास निर्माण हेतु वित्तीय सहायता करना हो,

(2) आवासों के निर्माण हेतु कर्ज देने के लिए स्रोतों को बढ़ाना तथा ऐसे सभी स्रोतों का भरपूर उपयोग करना,

नोट

(3) आवास निर्माण हेतु कर्ज देने के लिए प्रादेशिक तथा स्थानीय स्तरों पर वित्तीय संस्थाओं की स्थापना करना, तथा

(4) आवास निर्माण हेतु कर्ज देने वाली संस्थाओं एवं अन्य प्रयोजनों के लिए कर्ज देने वाली संस्थाओं के बीच अर्थपूर्ण संबंध स्थापित करना। ये अथक प्रयास इस आशा के साथ किए गए हैं कि झोपड़-पट्टियों में रहने वाले व नगर के गरीबों की स्थिति में आशाजनक सुधार किया जा सके ताकि वे भी गन्दगी, बीमारी व प्रदूषण जैसे सामाजिक अभिशाप से मुक्त होकर भरपूर नगरीय जीवन शैली जी सकें।

टास्क नगर के अध्ययन में परिस्थितिशास्त्र का विस्तारपूर्वक वर्णन करें।

13.4 सारांश (Summary)

- सावयव तथा उनके प्राकृतिक पास के बीच पाए जाने वाले पारस्परिक संबंधों के अध्ययन को पारिस्थितिकी या परिस्थितिशास्त्र कहते हैं।
- सामाजिक परिस्थिति के अंतर्गत मानवीय अंत:संबंधों का अध्ययन किन्हीं विशेष स्थान संबंधी परिस्थितियों के संदर्भ में किया जाता है।

13.5 शब्दकोश (Keywords)

1. **सामाजिक पारिस्थितिकी (Social Ecology)**–विज्ञान की वह शाखा जो मानवीय आवास के क्षेत्रों की स्थानीय प्रकार्यात्मक संरचना, सामाजिक एवं सांस्कृतिक लक्षणों एवं संकुलों के स्थानिक वितरण तथा सामाजिक एवं पारिस्थितिकी प्रक्रियाओं की अन्तर्क्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली घटनाओं की उत्पत्ति एवं परिवर्तन का अध्ययन करती है।

13.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. मानव जीवन और पारिस्थितिकी एक दूसरे को कैसे प्रभावित करते हैं?
2. गाँवों के जीवन को प्रभावित करने वाले पारिस्थितिकी तत्व कौन-कौन से हैं?

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. परिस्थितियाँ
2. बाहरी
3. आन्तरिक।

13.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. भारतीय समाज, संरचना और परिवर्तन – *दोषी एवं जैन।*
2. भारतीय समाज – *राम आहुजा।*
3. समाजशास्त्र विश्वकोश – *हरिकृष्ण रावत।*

नोट

इकाई–14: विकास का आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य : मार्क्सवाद (Critical Perspective on Development : Marxian)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
14.1 मार्क्स का सिद्धान्त (Marxian Theory)
14.2 सामाजिक परिवर्तन के प्रारूप (Typology of Social Change)
14.3 मार्क्स के सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन (Critical Evaluation of Marx's Theory of Social Change)
14.4 सारांश (Summary)
14.5 शब्दकोश (Keywords)
14.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
14.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- सामाजिक परिवर्तन के संबंध में कार्ल मार्क्स के विचार।
- मार्क्स के सामाजिक परिवर्तन के आर्थिक सिद्धांत क्या हैं? इसकी जानकारी प्राप्त होगी।
- मार्क्स का वर्ग संघर्ष का सिद्धांत किस तरह सामाजिक परिवर्तन का सिद्धांत है। इसकी जानकारी प्राप्त होगी।

प्रस्तावना (Introduction)

जर्मन समाजशास्त्री कार्ल मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन का आर्थिक सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। आपका कहना है कि सभी सामाजिक परिवर्तनों का प्रमुख कारक और चालक आर्थिक कारण है और सभी परिवर्तन इसके परिणाम हैं। इसलिये मार्क्स के इस सिद्धान्त को आर्थिक निर्णायकवाद भी कहते हैं। आपने वर्ग-संघर्ष के द्वारा परिवर्तन की व्याख्या की है, इसलिये आपका सामाजिक परिवर्तन का सिद्धान्त '*वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त*' भी कहलाता है। इनके सिद्धान्त के अनेक नाम हैं जो अग्रलिखित पृष्ठों में यथास्थान वर्णित किये गये हैं।

नोट

14.1 मार्क्स का सिद्धांत (Marxian Theory)

मार्क्स के सिद्धान्त का सार (Essence of Marxian Theory)–सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध में कार्ल मार्क्स के मौलिक विचारों को आपके द्वारा लिखित "*ए कान्ट्रीब्यूशन टू दॉ क्रिटिक ऑफ पॉलिटिकल इकोनामी, 1859*" तथा "*कम्यूनिस्ट पार्टी के घोषणा-पत्र, 1848*" के अंशों में देखा जा सकता है। इन अंशों के अध्ययनों के द्वारा, मार्क्स के सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध में परिवर्तन के कारक, कार्य-कारण सम्बन्ध, चरण, प्रभाव एवं सिद्धान्त आदि स्पष्ट हो जाते हैं।

मार्क्स के अध्ययनों की एक सतत शृंखला के जो निरन्तर आधार रहे हैं वे सार रूप में निम्न हैं–सामाजिक उत्पादन जिन्हें मानव करता है उनमें वह निश्चित प्रकार के सम्बन्धों में प्रवेश करता है, वे अपरिहार्य होते हैं तथा उसकी इच्छा से स्वतन्त्र होते हैं; ये उत्पादन के सम्बन्ध निश्चित उत्पादन की वस्तुओं की शक्ति के विकास की अवस्था से सम्बन्धित होते हैं। ये उत्पादन के सम्बन्धों के योग समाज की आर्थिक संरचना को निर्मित करते हैं यह वास्तविक आधारशिला है, जिस पर कानूनी और राजनैतिक अधिसंरचना निर्मित होती है और इसके अनुरूप निश्चित सामाजिक चेतना का विकास होता है। भौतिक जीवन में उत्पादन की विधि सामाजिक, राजनैतिक और आध्यात्मिक जीवन की प्रक्रियाओं का निर्माण करती है। यह मानव की चेतना नहीं है जो उनके अस्तित्व का निर्णय करती है, बल्कि इसके विपरीत सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना का निर्णय करता है।

उनके विकास की एक निश्चित अवस्था में, समाज में उत्पादन की भौतिक शक्तियाँ विद्यमान उत्पादन के सम्बन्धों के साथ संघर्ष करती हैं..... सम्पत्ति के साथ संघर्ष करती हैं, जिनमें वे पहले कार्य कर रही थीं। उत्पादन की शक्तियों के स्वरूपों के विकास से ये सम्बन्ध उनकी बेड़ियों में बदल जाते हैं। तब सामाजिक क्रान्ति का काल आता है। आर्थिक आधार के परिवर्तन के साथ-साथ सम्पूर्ण बड़ी अधिसंरचना कम या अधिक रूप में तेजी से रूपान्तरित हो जाती है। इस प्रकार के रूपान्तरण में इस बात का सर्वथा अन्तर रखना होगा कि उत्पादन की आर्थिक परिस्थितियों के भौतिक रूपान्तरण का निर्णय प्राकृतिक विज्ञान की यथार्थता करती है तथा कानूनी, राजनैतिक, धार्मिक, सौन्दर्यशास्त्रीय या दार्शनिक–संक्षिप्त में आदर्शात्मक स्वरूप जिससे संघर्षों के प्रति मानव सचेत होता है तथा इनसे वह युद्ध करता है। जिस प्रकार से हमारा मत एक व्यक्ति के सम्बन्ध में इस पर आधारित नहीं होता है कि वह स्वयं के बारे में क्या सोचता है, उसी प्रकार से हम किसी काल के रूपान्तरण के सम्बन्ध में उसकी चेतना के आधार पर निर्णय नहीं कर सकते हैं; इसके विपरीत, इस चेतना की व्याख्या भौतिक जीवन के विरोधों, उत्पादन की सामाजिक शक्तियों तथा उत्पादन के सम्बन्धों के आधार पर करनी चाहिये। कोई भी सामाजिक व्यवस्था तब तक लुप्त नहीं होती है जब तक कि सभी उत्पादन की शक्तियाँ जिनके विकास की सम्भावना होती है, विकसित नहीं हो जाती हैं; और नवीन उच्चतर उत्पादन के सम्बन्ध कभी भी तब तक उत्पन्न नहीं होते हैं, जब तक कि उनके अस्तित्व के लिये आवश्यक भौतिक परिस्थितियाँ पुराने समाज के गर्भ में परिपक्व नहीं हो जाती हैं। इसीलिये मानव जाति सर्वदा केवल उन्हीं समस्याओं को लेती हैं जिन्हें हल कर सकती हैं; विषय को अधिक निकटता से देखने से हम हमेशा पाते हैं कि समस्या तभी उत्पन्न होती है जब उसे हल करने की भौतिक परिस्थितयाँ पहले से ही विद्यमान होती हैं अथवा विद्यमान होने की प्रक्रिया में होती हैं। हम प्रमुख रूपरेखा (बिन्दुओं) के रूप में समाज के आर्थिक विकास के रूपान्तरणों के अनेक कालों में, जैसे–एशियाई, प्राचीन सामन्ती और आधुनिक बुर्जुवा उत्पादन की पद्धतियों में ऐसा पाते हैं। बुर्जुवा उत्पादन के सम्बन्ध उत्पादन की सामाजिक प्रक्रिया के अन्तिम विरोध (संघर्ष) हैं–यह संघर्ष व्यक्तिगत संघर्षवाद के अर्थ में नहीं है बल्कि यह उन परिस्थितियों में से उत्पन्न होता है जो समाज में व्यक्तियों के जीवन को चारों ओर से घेरे रहता है। इसी के साथ-साथ इस संघर्ष का समाधान उन उत्पादन की शक्तियों के द्वारा होता है जो बुर्जुवा समाज की भौतिक परिस्थितियों के गर्भ से विकसित होती हैं। यह सामाजिक रूपान्तरण मानव समाज के पूर्व ऐतिहासिक अवस्था के अन्तिम अध्याय को बनाता है।"

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

नोट

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. उत्पादन के संबंधों के योग समाज की आर्थिक संरचना को निर्मित करते हैं यह ..... है।
2. आर्थिक आधार के परिवर्तन के साथ-साथ संपूर्ण बड़ी ..... कम या अधिक रूप में तेजी से रूपान्तरित हो जाती है।
3. ..... स्वरूप जिससे संघर्षों के प्रति मानव सचेत होता है तथा इनसे वह युद्ध करता है।

मार्क्स द्वारा प्रतिपादित अवधारणाओं, मान्यताओं, निर्णायकवाद एवं दृष्टिकोणों में देख सकते हैं, जो इस प्रकार हैं–

1. **अस्तित्व चेतना का निर्णायक है** (Existence Determines Consciousness)–मार्क्स की मान्यता है, "अस्तित्व चेतना का निर्णायक है।" इससे आपका तात्पर्य है कि जीवन की भौतिक परिस्थितियाँ सामाजिक या मानकात्मक चेतना को नियन्त्रित, निर्देशित, संचालित और परिवर्तित करती हैं। भौतिक परिस्थितियाँ सामाजिक अन्तर्विवेक को परिभाषित करती हैं तथा समाज में परिवर्तन लाती हैं।"
2. **भौतिक अभौतिक का निर्णायक है** (Material Determines the Non-material)–मार्क्स के सिद्धान्त की दूसरी महत्त्वपूर्ण मान्यता है।

नोट्स मार्क्स का मत है, "उत्पादन के प्रकार सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक जीवन की प्रक्रिया के सामान्य लक्षणों का निर्धारण करते हैं।"

"भौतिक अभौतिक का निर्णायक है।" भौतिक विचारों का निर्धारण करते हैं। भौतिक परिवर्तन के द्वारा सामाजिक परिवर्तन होता है। सामाजिक चेतना तथा आदर्शों में परिवर्तन का कारण भौतिक कारक है।

3. **भौतिक परिस्थितियों में समाज का उद्‌गम** (Society is Rooted in Material Conditions)–मार्क्स ने इसी प्रकार आगे स्पष्ट किया, "*समाज का उद्‌गम भी जीवन की भौतिक परिस्थितियाँ हैं।*" मानव अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये जो प्रयास करता है उसके परिणामस्वरूप आर्थिक उप-संरचना का विकास होता है। यही आर्थिक उप-संरचना समाज की राजनैतिक तथा कानूनी उप-संरचनाओं को निर्धारित तथा परिभाषित करती है। मार्क्स के अनुसार समाज, इस प्रकार से, उद्‌विकास के सन्तुलन को प्रदर्शित करता है जिसमें सामाजिक चेतना तथा सम्बन्धों को उत्पादन के प्राथमिक तरीके (आर्थिक व्यवस्था) निश्चित करते हैं। यह कार्ल मार्क्स के सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त की तीसरी महत्त्वपूर्ण मान्यता है।
4. **द्वन्द्वात्मक उद्‌विकास** (Dialectic Evolution)–मार्क्स की चौथी और अन्तिम महत्त्वपूर्ण मान्यता है आर्थिक उप-संरचना और मानकात्मक अधिसंरचना में परस्पर द्वन्द्वात्मक अन्तर्क्रिया होती है जिसके फलस्वरूप समाज अनेक उद्‌विकासीय चरणों से गुजरता हुआ परिवर्तित होता रहता है। आपका मानना था कि जनसंख्या और आवश्यकताओं में वृद्धि के परिणामस्वरूप श्रम-विभाजन में भी वृद्धि होती है तथा भूमिकाओं में भी वृद्धि होती है। इस विकास के कारण निजी सम्पत्ति में वृद्धि होती है। औद्योगिकीकरण के प्रभाव के फलस्वरूप निजी सम्पत्ति से पूँजीपति व्यवस्था का विकास होता है। मार्क्स का यह भी मानना था कि आर्थिक प्रभुत्व तथा पूँजीवाद से सर्वहारा-वर्ग (श्रमजीवी वर्ग) का प्रकृति तथा उत्पादन के साधनों से अलगाव होगा। उत्पादन के साधनों, उत्पादन के तरीकों तथा सम्बन्धों पर शोषक-वर्ग या पूँजीपति-वर्ग का पूर्ण नियन्त्रण होगा तथा सर्वहारा-वर्ग का शोषण होगा।

   समाज में श्रम-विभाजन और निजी सम्पत्ति के अधिकारों में वृद्धि के कारण पूँजीवाद का विस्तार होता है। आगे चलकर, मार्क्स के अनुसार पूँजीवाद में द्वन्द्व होगा जो समाजवाद के लिये एक आन्दोलन के रूप में

नोट

शुरू होगा, जो अन्त में एक ऐसे समाज का निर्माण करेगा जिसमें मानव प्रकृति और सामाजिक वातावरण के साथ पुनः जुड़ जायेगा तथा एक 'स्वाभाविक मानव' का उदय होगा।

5. **अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त** (Theory of Surplus Value)–कार्ल मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन, वर्ग-संघर्ष, शोषक एवं शोषित, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या, अलगाव आदि की जो विवेचना की है उनका मूल आधार अतिरिक्त मूल्य है। अगर हम मार्क्स के विभिन्न सिद्धान्तों को समझना चाहते हैं तो हमें आपके द्वारा प्रतिपादित अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को समझना होगा।

नोट्स अतिरिक्त मूल्य किसी वस्तु के निर्माण में जितना खर्च आता है और खर्चे की तुलना में जितने अधिक मूल्य में वह वस्तु बेची जाती है, उसके बीच के अन्तर को कहते हैं।

इसको निम्न उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है–एक कुर्सी के निर्माण में निम्न मदों के अन्तर्गत खर्चा किया जाता है। मान लीजिये चार रुपये की लकड़ी लगी, दो रुपये की कीलें, बढ़ई को कुर्सी बनाने के 10 रुपये दिये गये। इसके अतिरिक्त कुर्सी के निर्माण के लिये पूँजीपति ने स्थान एवं वित्तीय व्यवस्था में दो रुपये खर्च किये। इस प्रकार से कुर्सी की कुल लागत 18 रुपये आई। पूँजीपति ने इस कुर्सी को बाजार में 28 रुपये में बेचा। एक कुर्सी पर 10 रुपये का लाभ हुआ। मार्क्स के अनुसार यह 10 रुपये अतिरिक्त मूल्य है, जिसको पूँजीपति प्राप्त करता है। कुर्सी के निर्माण में बढ़ई (मजदूर) ने अधिक श्रम किया है जिसके परिणामस्वरूप 10 रुपये का लाभ हुआ है लेकिन पूँजीपति श्रमिक को इस 10 रुपये में से कुछ नहीं देता है और स्वयं हड़प लेता है। मार्क्स का कहना है कि श्रमिक (बढ़ई) के पास उत्पादन के साधनों को जुटाने की शक्ति एवं दक्षता नहीं है, इस कारण श्रमिक (बढ़ई) अपना श्रम पूँजीपतियों को बेच देता है। उसके श्रम के द्वारा उत्पन्न अतिरिक्त मूल्य जो कुर्सी से प्राप्त होता है, वह सारा का सारा पूँजीपति हड़प लेता है। इस प्रकार से पूँजीपति उत्पादन के साधन जुटाने की क्षमता रखने के फलस्वरूप अतिरिक्त मूल्य के द्वारा विभिन्न उत्पादन के क्षेत्रों में श्रमिकों का शोषण करते हैं। *शोषक (पूँजीपति) और शोषित (श्रमिक) में संघर्ष का मूल कारण यह अतिरिक्त मूल्य ही है, जो समाज में परिवर्तन लाता है।*

6. **वर्ग एवं वर्ग-संघर्ष की अवधारणा** (Concept of Class and Class-Struggle)–कार्ल मार्क्स का समाजशास्त्र में एक महत्त्वपूर्ण योगदान वर्ग एवं वर्ग-संघर्ष की अवधारणा को प्रदान करना है। मार्क्स का मत है कि समाज में हमेशा दो वर्ग होते हैं। इन वर्गों का आधार आर्थिक होता है। आर्थिक असमानता ही समाज में दो वर्गों को जन्म देती है। ये दो वर्ग हैं–शोषक वर्ग और शोषित वर्ग। मार्क्स का कहना है कि व्यक्ति एक वर्ग का प्राणी है। मार्क्स के अनुसार, प्रत्येक युग में हमेशा शोषक एवं शोषित वर्ग रहते हैं। शोषक वर्ग वह वर्ग है जिसका उत्पादन के साधनों, उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन के सम्बन्धों पर स्वामित्व रहता है। विभिन्न कालों में शोषक के रूप मालिक, स्वामी, जमींदार, बुर्जुआ, पूँजीपति आदि किसी न किसी रूप में होते हैं। इसी क्रम में शोषित वर्ग के विभिन्न रूप–दास, गुलाम, किसान, श्रमिक, मजदूर आदि होते हैं। कार्ल मार्क्स ने 'कम्युनिस्ट पार्टी के घोषणा-पत्र' में लिखा है, "आज तक अस्तित्व में जो समाज है, उनका इतिहास वर्ग–संघर्ष का इतिहास है। स्वतन्त्र मनुष्य और दास, कुलीन और जन-सामान्य, सामन्ती प्रभु और भूदास, शिल्प संघ का उस्ताद–कारीगर और मजदूर-कारीगर–संक्षेप में उत्पीड़क और उत्पीड़ित बराबर एक-दूसरे का विरोध करते आये हैं।" मार्क्स ने आगे लिखा है कि ये दोनों शोषक व शोषित वर्ग अपनी-अपनी समस्याओं, हितों, लक्ष्यों, परिस्थितियों आदि के लिये एक-दूसरे से संघर्ष करते रहते हैं। मार्क्स का मत है कि मानव इतिहास के आदिम-युग, साम्यवादी युग, दासत्व युग एवं सामन्ती युग में इनमें संघर्ष धीरे होता है और पूँजीपति युग में वर्ग-संघर्ष तीव्र हो जाता है। मार्क्स ने भविष्यवाणी की है कि वर्ग-संघर्ष के इतिहास में एक समय ऐसा आयेगा जब सर्वहारा-वर्ग (श्रमिक वर्ग) पूँजीपति वर्ग व्यवस्था को समाप्त कर देगा। पूँजीपति व्यवस्था के स्थान पर साम्यवादी व्यवस्था स्थापित हो जायेगी, जिसमें शोषक

नोट

वर्ग का अन्त हो जायेगा। इसके साथ-साथ समाज में असमानता का भी अन्त हो जायेगा। मार्क्स का यह भी कथन है कि धीरे-धीरे कल्पनालोकीय समाज की स्थापना हो जायेगी। वर्ग भेद नहीं रहेगा, पूँजीवादी दु:खों से श्रमिकों को छुटकारा मिल जायेगा। मार्क्स ने निम्न नारा दिया है–

"*दुनिया के मजदूरों एक हो, तुम्हें तुम्हारी बेड़ियों के अतिरिक्त कुछ नहीं खोना है और पाने के लिये तुम्हारे पास सारा संसार पड़ा है।*"

क्या आप जानते हैं कार्ल मार्क्स ने वर्ग एवं वर्ग-संघर्ष की अवधारणा प्रतिपादित करके समाजशास्त्रों में एक विशिष्ट सम्प्रदाय–संघर्ष-सम्प्रदाय के महत्त्व को और महत्त्वपूर्ण बना दिया है। वर्तमान में जिसका रूप संघर्ष-उपागम से उग्र उन्मूलनवादी समाजशास्त्र "रेडीकल सोशियोलॉजी" विचारधारा के रूप में विकसित हो गया।

संघर्ष एवं द्वन्द्व होता है। यह संघर्षवाद-प्रतिवाद और समवाद की प्रक्रिया में से गुजरता है। कोई वस्तु होती है, वह वाद है। उस वस्तु में इस वाद के विरोधी तत्त्व विद्यमान होते हैं, वह प्रतिवाद है। इन वाद और प्रतिवाद में संघर्ष होता है, जिसके कारण एक नवीन स्वरूप विकसित होता है। यह नवीन स्वरूप समवाद कहलाता है। कुछ समय के बीतने के बाद समवाद एक वाद का रूप ग्रहण कर लेता है। इस नवीन वाद के विरुद्ध फिर एक नया प्रतिवाद भी विकसित हो जाता है। इन वाद और प्रतिवाद में संघर्ष होता है, जिसके परिणामस्वरूप नवीन समवाद विकसित होता है।

मार्क्स की मान्यता है कि विश्व के भौतिक जगत में पदार्थों में मतभेद एवं संघर्ष निरन्तर चलता रहता है और समाज का विकास होता रहता है। मार्क्स ने भौतिक द्वन्द्ववाद के द्वारा वर्ग-संघर्ष की व्याख्या की है। प्रत्येक युग में शोषक एक वाद के रूप में होता है और शोषित प्रतिवाद के रूप में होता है, जिनमें संघर्ष होता है। परिणामस्वरूप नवीन समवाद विकसित होता है, जो कुछ समय बाद एक वाद का रूप ग्रहण कर लेता है। यह वाद-प्रतिवाद और समवाद की प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक कि समाज कल्पनालोकीय समाजवाद की अवस्था में नहीं पहुँच जाता है। यह सार रूप में कार्ल मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है।

7. **द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद** (Dialectical Materialism)–कार्ल मार्क्स पर हीगल का प्रभाव पड़ा जिसके परिणामस्वरूप मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्ववाद को अपने दृष्टिकोण से संशोधित करके समाज के अवलोकन, विश्लेषण एवं सिद्धान्तों के निर्माण में अपनाया, जो निम्न प्रकार है–मार्क्स ने हीगल के आत्मा-द्वन्द्ववाद से भिन्न भौतिक द्वन्द्ववाद को प्रतिपादित किया। मार्क्स का कहना है कि मानव समाज के इतिहास में हमेशा पदार्थों में संघर्ष रहा है। आपके अनुसार, विश्व का मूल भी पदार्थ ही है। मार्क्स का कहना है, सर्वप्रथम विश्व के पदार्थों (आर्थिकी) में परिवर्तन होता है और उसके बाद सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक, कला, साहित्य, विज्ञान आदि में परिवर्तन होता है।

8. **इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या** (Materialistic Interpretation of History)–कार्ल मार्क्स ने मानव इतिहास की व्याख्या का मूल कारण या आधार भौतिक या आर्थिकी बताया है। आपने "*क्रिटिक ऑफ पॉलिटिकल इकॉनामी*" (1859) में अपने ऐतिहासिक भौतिक निर्णायकवाद के सिद्धान्त का सार दिया है। इसमें आपने लिखा है कि उत्पादन के साधन, उत्पादन की प्रणाली, उत्पादन के सम्बन्धों के द्वारा समाज व संस्कृति में परिवर्तन होता है। आप उत्पादन की प्रणाली को परिवर्तन का मूल कारण मानते हैं। विभिन्न समाजों की सामाजिक संरचना, सभ्यता और संस्कृति का निर्धारण आर्थिक कारकों के द्वारा होता है। कार्ल मार्क्स आर्थिक कारक को सबसे महत्त्वपूर्ण प्रथम और अन्तिम कारण मानते हैं जो सामाजिक घटनाओं को नियन्त्रित, निर्देशित, परिवर्तित और निर्धारित करते हैं। आर्थिक व्यवस्था एवं उत्पादन की प्रणाली निरन्तर बदलती रहती है और इसके साथ-साथ उप-संरचनायें, जैसे–राजनैतिक, धार्मिक आदि चलती रहती हैं। ये

नोट

सब सामाजिक अधिसंरचना को प्रभावित करते हैं और परिवर्तित करते हैं। मार्क्स के अनुसार सर्वप्रथम आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन आता है। उत्पादन के साधनों व उत्पादन की शक्तियों में परिवर्तन आता है। इन परिवर्तनों का प्रभाव सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को परिवर्तित करता है। मार्क्स ने आर्थिक कारक को कारण माना है और अन्य सभी, जैसे–सामाजिक परिवर्तन को परिणाम माना है। आर्थिक कारक चालक है और सामाजिक परिवर्तन उससे गति प्राप्त करता है, क्योंकि कार्ल मार्क्स सामाजिक परिवर्तन का एकमात्र कारण आर्थिक कारक को मानता है इसलिये इनका सामाजिक परिवर्तन का सिद्धान्त आर्थिक निर्णायकवाद का सिद्धान्त कहलाता है। आपने इतिहास की व्याख्या आर्थिक आधार पर की है, इसलिये आपको इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या का कट्टर समर्थक कहते हैं।

टास्क इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या करें।

14.2 सामाजिक परिवर्तन के प्रारूप (Typology of Social Change)

मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन एवं विकास के चरण एक प्रारूप के रूप में दिये हैं जो निम्नलिखित हैं–

1. **जनजातिवाद** (Tribalism)–मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन के विकास के क्रम में सर्वप्रथम अवस्था जनजाति बताई है। इस जनजातिवाद में समाज शिकार, मछली पकड़ना और कृषि प्रधान होता है। मुख्य रूप से समाज पितृसत्तात्मक होता है। श्रम-विभाजन एक विस्तृत परिवार व्यवस्था के रूप में मिलता है। मार्क्स का कहना है कि इस प्रकार इन जनजाति समाजों में निजी सम्पत्ति और श्रम का विभाजन न्यून होता है।
2. **सामन्तवाद** (Feudalism)–जब कुछ जनजातियाँ परस्पर मिल जाती हैं और उनका आकार बड़ा हो जाता है तो इसके साथ समुदायवाद विकसित हो जाता है। इस अवस्था में दासता, निजी सम्पत्ति और श्रम-विभाजन व्यवस्था प्रारम्भ हो जाती है। कृषि में कुछ कमी आती है। सामन्तवाद आ जाता है। भूमि पर आधारित अर्थव्यवस्था विकसित हो जाती है। धनी कृषि का नियन्त्रण करते हैं। मार्क्स के अनुसार, यह संरचना भी अपूर्ण होती है और नगरीकरण का विकास होता है। आवश्यकतायें बढ़ जाती हैं, जिसके फलस्वरूप उत्पादन आर्थिकी की आवश्यकता पड़ती है जो विकसित होकर विश्व में उपनिवेशवाद को बढ़ावा देती है।
3. **पूँजीवाद** (Capitalism)–इस उपर्युक्त विकास के फलस्वरूप पूँजीवाद का विकास होता है जिसमें निम्नलिखित तत्त्वों का उदय होता है। मार्क्स का कहना है कि पूँजीवाद ऐसी व्यवस्था है जिसका स्रोतों पर एकाधिपत्य हो जाता है। यह एकाधिपत्य उत्पादन के साधनों पर पूँजी के रूप में स्वामित्व के कारण होता है। श्रमिक का श्रम महत्त्वपूर्ण वस्तु बन जाता है। समाज दो वर्गों में–मालिक और श्रमिक में बँट जाता है। जिस प्रकार से जनजातिवाद से सामन्तवाद और सामन्तवाद से पूँजीवाद में परिवर्तन हुआ, उसी प्रकार से पूँजीवाद की अवस्था भी स्थिर नहीं रहती है। मार्क्स का मत है कि अधिक उत्पादन और अलगाव के बढ़ने की समस्याओं के फलस्वरूप पूँजीवाद में परिवर्तन आता है। अलगाव के बढ़ने से श्रमिक सर्वहारा वर्ग संगठित हो जाते हैं और पूँजीपतियों के विरुद्ध क्रान्ति करते हैं।
4. **कल्पनालोकीय समाजवाद** (Utopian Socialism)–पूँजीवाद अपनी समाप्ति की प्रक्रिया स्वयं प्रारम्भ करता है और समाज अन्ततोगत्वा विकास की चरम सीमा समाजवाद की अवस्था में पहुँच जाता है, ऐसा मार्क्स का मत है। आपका कहना है कि कल्पनालोकीय समाजवाद की अवस्था में श्रमिक-वर्ग या सर्वहारा-वर्ग की क्रान्तिकारी तानाशाही स्थापित हो जाती है, जो निजी सम्पत्ति के अधिकारों को समाप्त कर देते हैं। समाज की इस अवस्था में वर्ग समाप्त हो जाते हैं, व्यक्ति पूर्ण रूप से समाजवादी हो जाता है। समाज एवं प्रकृति पुनः संगठित हो जाते हैं। इस प्रकार से समाजवाद एक प्रकार से समाज को जनजातिवाद की प्रारम्भिक अवस्था में लौटा आता है, जहाँ व्यक्ति अपने भौतिक एवं सामाजिक पर्यावरणों से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हो जाता है।

नोट

कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सामाजिक परिवर्तन के विकास के प्रारूप के चरणों को चित्र द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है–

चित्र 14.1 कार्ल मार्क्स : समाज के विकास के प्रारूप

जनजातिवाद	सामन्तवाद	पूँजीवाद	साम्यवाद
1. शिकार, मछली पकड़ना, कृषि	1. देहाती आधार	1. श्रम मुख्य वस्तु	1. वर्गहीन
2. श्रम का विभाजन–परिवार का विस्तार	2. भू-आधार	2. संरचना : मालिक व श्रमिक	2. निजी सम्पत्ति का लोप
3. पितृसत्तात्मक संरचना	3. अभिजात शक्ति	3. उपयोगितावादी विचारधारा।	3. पूर्ण समाजीकृत व्यक्ति
		4. अप्राकृतिक भौतिकवाद	4. पुनर्गठन : व्यक्ति एवं प्रकृति
		5. अलगाव एवं भोगाधिकार	
		6. अत्युत्पादन का विकास	

14.3 मार्क्स के सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन (Critical Evaluation of Marx's Theory of Social Change)

मार्क्स की शब्द-योजना की अस्पष्टता तथा अनेकार्थता के कारण इनके तथा एंजल्स के सिद्धान्तों की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ विभिन्न लेखकों, मार्क्सवादियों तथा अ-मार्क्सवादियों ने की हैं। अब हम यहाँ पर मार्क्सवाद की सामाजिक परिवर्तन की विभिन्न व्याख्याओं में से कुछ महत्त्वपूर्ण व्याख्याओं तथा अभ्युपगमों की विवेचना करेंगे–

(1) इसकी पहली कमी है–कारण-सम्बन्ध और निर्णायकवाद की अवधारणा (Its first shortcoming is its Conception of Causal-relation and Determinism)–मार्क्स की मान्यता है, "सामाजिक, राजनैतिक और आध्यात्मिक जीवन की प्रक्रियाओं के सामान्य लक्षणों का निर्धारण उत्पादन की विधियाँ करती हैं।" आप एकतरफा कारण-सम्बन्ध अवधारणा की पूर्व-कल्पना करते हैं। इस मान्यता को निकट से देखने से स्पष्ट होता है कि मार्क्स के सिद्धान्त का प्रथम विचार ये है कि आर्थिक कारक मुख्य अथवा सबसे महत्त्वपूर्ण कारक है जो अन्य सभी का निर्धारण करता है। मुख्य कारक के दो अर्थ हो सकते हैं–

(1) कार्य-कारण शृंखला में आर्थिक कारक प्रथम कारक है जो अन्य सभी सामाजिक घटनाओं का निर्धारण करता है, अथवा

(2) इस आर्थिक कारक की क्षमता बहुत अधिक है (मान लो इसका प्रभाव 90 प्रतिशत है और अन्य सभी कारकों की तुलना में उनका सम्पूर्ण प्रभाव 10 प्रतिशत है)।

1.1 पहली व्याख्या–आर्थिक कारक प्रथम तथा प्रमुख कारण है तथा अन्य सभी सामाजिक घटनाएँ उसका परिणाम हैं। एकतरफा तथा नहीं पलटने तथा अप्रत्यावर्तनीय कारण-सम्बन्ध रखने वाली अवधारणा है। आर्थिक कारण क्रियाशील है जो विभिन्न क्रियाओं, उत्पादनों तथा परिणामों का एकतरफा निर्धारक है। इस प्रकार का नियम सामाजिक क्षेत्र की विभिन्न घटनाओं पर लागू नहीं हो सकता क्योंकि सामाजिक घटनाएँ एकतरफा न होकर पारस्परिक अन्योन्याश्रित होती हैं।

नोट

मार्क्स, एंजल्स तथा इनके अनुयायियों में से किसी ने भी विभिन्न कारकों के सामाजिक घटनाओं में तुलनात्मक प्रभावों को मापने के तरीकों को बताने का प्रयास नहीं किया। इस सिद्धान्त के साहित्यिक तथा तार्किक अर्थ के अनुसार, आर्थिक कारक का प्रथम अर्थ ही लगाना होगा अर्थात् आर्थिक कारक प्रमुख तथा सबसे आरम्भिक महत्त्वपूर्ण कारक हैं जो अन्य सभी सामाजिक घटनाओं की कारणीय शृंखला का निर्धारण करता है, क्योंकि यह 'चालक' है तो अन्य सभी 'चालित' हैं। ऐसी मान्यता को अनेक प्रमाणों के आधार पर स्वीकार नहीं किया जा सकता है। सावधानीपूर्वक किये गये अनेक अध्ययनों ने इस दोष को स्पष्ट कर दिया है। हम यह भी दावा नहीं कर सकते हैं कि मानव केवल आर्थिकी का दास है और सर्वदा आर्थिक क्रियायें करता है। ऐसा शास्त्रीय अर्थशास्त्रियों का मानना था जो तथ्यों के आधार पर त्रुटिपूर्ण है।

अनेक अन्वेषकों–एस्पीनास, दुर्खीम, पी. हूवेलिन, थर्मवाल्ड, मेलीनोव्स्की, हूबर्ट तथा गाउस ने स्पष्ट किया है कि आदिम अवस्था तक में उत्पादन की प्रविधि तथा सम्पूर्ण आर्थिक जीवन समकालीन धर्म, जादू, विज्ञान तथा अन्य बौद्धिक घटनाओं से बिल्कुल अलग नहीं होता है। मैक्स वेबर ने सिद्ध किया है कि आर्थिक व्यवस्था का निर्धारण धर्म, जादू, तार्किकता और परम्परावाद करते हैं। आधुनिक पूँजीवाद की उत्पत्ति प्रोटेस्टेन्ट धर्म के द्वारा हुई है।

अत: यह निष्कर्ष निकलता है कि आर्थिक कारक अन्य कारकों जितना प्राचीन नहीं है। इसका अर्थ यह भी है कि सामाजिक घटनायें पारस्परिक अन्योन्याश्रित थीं, हैं और रहेंगी। न तो कभी एकतरफा थीं और न ही कभी एकतरफा रहेंगी।

1.2 दूसरी व्याख्या–एंजल्स, लेब्रिओला और प्लेचानो जैसे मार्क्सवादियों का कथन है कि द्वैतीयक कारकों का प्राथमिक कारक पर वापस प्रभाव पड़ सकता है। इस व्याख्या के अनुसार, आर्थिक कारक को अन्य कारक प्रभावित कर सकते हैं। इस मान्यता के अनुसार, आर्थिक कारक की प्रमुखता तथा निर्धारणता का सिद्धान्त अमान्य हो जाता है। आर्थिक कारक की प्रमुखता के अभाव में सिद्धान्त अपनी विशेषता खो देता है। जो मार्क्सवादी यह मानते हैं कि अन्य कारक भी आर्थिक कारक को प्रभावित कर सकते हैं, वे प्रकार्यात्मक पारस्परिक निर्भरता की अवधारणा को स्वीकारते हैं तथा मार्क्स के आर्थिक निर्णायक सिद्धान्त को अस्वीकार करते हैं।

नोट्स ये मार्क्सवादी आर्थिक कारक को अन्य कारकों के साथ सह-सम्बन्धित मानते हैं तथा मार्क्स के आर्थिक निर्णायकवाद की विशिष्टता को समाप्त कर देते हैं।

(2) सिद्धान्त की दूसरी आधारभूत कमी अनेकार्थ तथा अनिश्चित अभिव्यक्ति है। आर्थिक कारक सामाजिक घटनाओं का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं अन्तिम कारक है। मार्क्स के इस कथन की दो व्याख्यायें की गई हैं, जो निम्न हैं–

2.1 मार्क्सवादियों तथा अ-मार्क्सवादियों (प्लिचानों तथा इलवूड) ने इस दावे की यह व्याख्या की है कि आर्थिक कारक सम्पूर्ण ऐतिहासिक तथा सामाजिक प्रक्रियाओं की व्याख्या करने में पूर्ण रूप से सक्षम है। मार्क्स का भी यही विश्वास था। यह प्रथम व्याख्या एक प्रकार से एकात्मक अवधारणा है, जिसमें सम्पूर्ण सामाजिक जीवन और सम्पूर्ण इतिहास की प्रक्रिया एवं परिवर्तन का कारण एकमात्र आर्थिक कारक से समझने का प्रयास किया गया है। अगर सम्पूर्ण सामाजिक जीवन, युद्ध एवं शान्ति, दुर्दशा एवं खुशहाली, दासता तथा मुक्ति, क्रान्ति एवं प्रतिक्रिया एक ही कारक के परिणाम हैं तो इसके आधार पर निम्न समीकरण बनता है–

A और Non – A = (E), अर्थात् पूर्णतया विरोधी घटनाएँ एक ही कारण का परिणाम है।

इस सूत्र में A शान्ति, खुशहाली मुक्ति आदि को तथा Non – A युद्ध, दुर्दशा, दासता आदि को प्रदर्शित कर रहे हैं। (E) आर्थिक कारक को प्रदर्शित कर रहे हैं। मार्क्स के सिद्धान्त के अनुसार, A तथा Non – A एक ही कारक 'आर्थिक' के परिणाम हैं। दूसरे शब्दों में इस प्रकार का एकतत्वपरक (एक कारणीय) अवधारणा से निम्न समीकरण निर्मित होता है–

नोट

	सहयोग और संघर्ष	अर्थात् सभी प्रकार के व्यवहार
	विकास और ह्रास	सामाजिक प्रक्रियाएँ और
अ (आर्थिक कारक) कारण है–	मुक्ति और दासता	ऐतिहासिक घटनाएँ
	शान्ति और युद्ध	आर्थिक कारक
	दुर्दशा और खुशहाली	का परिणाम हैं।
	.....	
	आदि–आदि	

कोई भी गणितवेत्ता, तर्कशास्त्री या वैज्ञानिक ऐसी आधारशिला पर वैज्ञानिक कारण-सम्बन्ध नियम या नियमितता का सूत्र नहीं बनायेगा। अगर समीकरण में 'अ' का अर्थ है एक सार्वभौमिक व्यापक अवधारणा जो 'सम्पूर्ण' अथवा 'भगवान' अथवा 'ब्रह्माण्ड' या 'सम्पूर्ण सामाजिक जीवन' है तब समीकरण पर्यायपद बन जाता है अर्थात् "सम्पूर्ण" या "भगवान" का कारण "सम्पूर्ण" अथवा "भगवान" है। "सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का कारण सम्पूर्ण सामाजिक जीवन है।"

आर्थिक भौतिकवाद की अवधारणा की वैज्ञानिक कमियों को स्पष्ट करने के लिये उपर्युक्त सामग्री काफी है। इसी कमी के कारण शायद मार्क्स तथा एंजल्स ने अपने बाद के लेखों में दूसरी व्याख्या को अपनाया था, जो निम्न है–

2.2 अनेक लेखकों–सेलिगमेन, लाडियोला आदि तथा एंजल्स ने अपने बाद के लेखों में यह व्याख्या की थी कि आर्थिक कारक मुख्य कारक है जिसके साथ-साथ अन्य कम महत्त्वपूर्ण कारक भी होते हैं। इस दूसरी व्याख्या में अन्य कारकों को महत्त्व देने के कारण मार्क्स के सिद्धान्त का महत्त्व ही समाप्त हो जाता है। फिर तो यह बहुकारक का सिद्धान्त बन जाता है जिसमें आर्थिक कारक अन्य अनेक कारकों में से एक है। अन्य कारकों के प्रभाव के साथ आर्थिक कारक के प्रभावों का वर्णन अनेक विद्वानों ने मार्क्स तथा एंजल्स से पूर्व तथा बाद में किया है। अतः मार्क्स का यह दावा–आर्थिक निर्णायकवाद उनका मूल विचार है, आधारहीन है।

(3) उनके सिद्धान्त की तीसरी कमी "आर्थिक कारक", "उत्पादन की शक्तियाँ तथा सम्बन्ध" तथा "आर्थिक आधार", प्रत्ययों की परिभाषायें सन्तोषजनक रूप से आवश्यकतानुसार अनन्यः, एकमात्र (सुनिश्चित) और विशिष्ट नहीं हैं।

इन अवधारणाओं की भी दो व्याख्यायें तथा अर्थ मिलते हैं। के. काउटस्काई (K. Kautsky), डब्ल्यू सोम्बार्ट (W. Sombart), ए. हनसेन (A Hansen) तथा अन्य ने इनको एक प्रकार की तकनीक के रूप में समझा है तथा अन्य व्याख्याकारों, जैसे–एन्जल्स, मसरयेग (Masaryk), सेलिगमेन आदि ने इनको उत्पादन की सामान्य परिस्थितियों के रूप में समझा है, जिसमें भौगोलिक पर्यावरण, प्राकृतिक स्रोत, यातायात, व्यापार, वितरण की प्रणाली आदि सम्मिलित हैं।

3.1 अगर हम पहली व्याख्या को स्वीकार करते हैं तो उससे निम्न प्रस्ताविकी (प्रस्थापना) बनती है–"*तकनीक प्रधान कारक है और तकनीक के द्वारा इतिहास के सभी अद्‌भुत कार्यों, चमत्कारों की व्याख्या करना सम्भव है।*" लेकिन सत्य यह है कि तकनीक सामाजिक वास्तविकता का केवल एक भाग है। अतः उपर्युक्त प्रस्थापना तार्किक मूर्खता है। मूर्खतापूर्ण, निरर्थक तर्कवाक्य है। विवेक शून्य प्रस्थापना है। वास्तव में तकनीक के लिये समाज का ज्ञान तथा अनुभव आवश्यक है।

3.2 अगर हम दूसरी विस्तृत व्याख्या को स्वीकारते हैं तो आर्थिक कारक की अवधारणा तथा सिद्धान्त में और अधिक अनिश्चितता आ जाती है। यह एक प्रकार का थैला बन जाता है जो भौगोलिक परिस्थितियों, तकनीक, विज्ञान, सम्पूर्ण उद्योग, वाणिज्य तथा वितरण की सम्पूर्ण जटिल व्यवस्था और उसमें न्यायिक तथा राजनैतिक संस्थाएँ और क्या कुछ नहीं सम्मिलित हो जाते हैं। इस प्रकार की परिस्थितियों में हम किसी स्पष्ट तथा सुनिश्चित सह-सम्बन्ध को स्थापित नहीं कर सकते हैं।

नोट

क्या आप जानते हैं हम यहाँ पर ऐसे सूत्रों तथा कथनों से बँधे हैं जिनकी अनिश्चित अन्त:वस्तु तथा अर्थों के कारण न तो कुछ सिद्ध ही कर पाते हैं और न ही कुछ असिद्ध कर पाते हैं।

मार्क्स के सिद्धान्त की यह दूसरी व्याख्या भी भ्रामक है।

(4) इस अनिश्चित सूचना के परिणामस्वरूप मार्क्स-एंजल्स के द्वारा व्यक्त कारकों का कारण क्रम या उनकी निर्भरता का क्रम भी अनिश्चित हो जाता है।

4.1 तकनीकी व्याख्या के अनुसार परिवर्तन का क्रम निम्न प्रकार से है–

(1) पहले उत्पादन की तकनीक में परिवर्तन होता है जो (2) समाज की आर्थिक संरचना–"उत्पादन के सम्बन्धों" तथा "सम्पत्ति के सम्बन्धों" में परिवर्तन करती है। यह फिर (3) समाज के राजनैतिक, सामाजिक तथा बौद्धिक जीवन का निर्धारण करती है। इसे निम्न चित्र द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है–

समाज का राजनैतिक, सामाजिक तथा बौद्धिक जीवन में परिवर्तन

↑

समाज की आर्थिक संरचना

('उत्पादन के सम्बन्ध' तथा 'सम्पत्ति के सम्बन्ध' में परिवर्तन)

↑

उत्पादक की तकनीक में परिवर्तन

तकनीकी व्याख्यानुसार परिवर्तन की प्रक्रिया के क्रम

4.2 आर्थिक कारक की दूसरी भिन्न तथा विस्तृत व्याख्या की गई है। इस व्याख्यानुसार परिवर्तन का क्रम निम्न क्रम से परिवर्तन लाता है। (1) पहले उत्पादन की सामान्य परिस्थितियों तथा विनिमय में परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन समाज की वर्ग-संरचना में रूपान्तरण करती है जो वर्ग-शत्रुता तथा वर्ग-विरोध में परिवर्तन लाती है जिसका परिणाम समाज की सामाजिक, राजनैतिक तथा बौद्धिक अधिसंरचना को रूपान्तरित कर देता है। इसे अग्र चित्र द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है।

समाज की अधिसंरचना में रूपान्तरण

(समाज की सामाजिक, राजनैतिक तथा बौद्धिक अधि-संरचना में परिवर्तन)

↑

वर्ग-विरोध में परिवर्तन

↑

वर्ग-संरचना में रूपान्तरण

↑

उत्पादन की सामान्य परिस्थितियों तथा विनिमय में परिवर्तन

आर्थिक कारक के व्याख्यानुसार परिवर्तन की प्रक्रिया के क्रम

इन दोनों व्याख्याओं का सापेक्ष महत्त्व है जिसमें आर्थिक कारक सक्रिय तथा आरम्भक है। 'कारणता' की 'प्रकार्यात्मक अवधारणा' तथा सामाजिक घटनाओं की पारस्परिकता के तथ्य के अनुसार हम किसी भी कारक (तकनीक ही नहीं बल्कि "विज्ञान", "धर्म", "कानून", आदि) को "चर" के रूप में ले सकते हैं तथा उनके "कार्यों" या "प्रभावों" का अध्ययन किसी भी क्षेत्र में, जैसे–तकनीक और आर्थिक घटनाओं में भी कर सकते हैं। मार्क्स तथा एंजल्स का झूठा दावा कि उनके द्वारा प्रतिपादित परिवर्तन ही एकमात्र सम्भव क्रम है, को स्वीकारा नहीं जा सकता। अन्य विद्वानों द्वारा परिवर्तन के जो क्रम सुझाए गए हैं वे भी निरर्थक नहीं हैं। इससे विपरीत दावा जिसमें

नोट

कानून, धर्म अथवा "बौद्धिक कारक" को प्रारम्भक रखा गया है तथा आर्थिक कारक उसका कार्य है। विभिन्न अध्ययनों में ऐसे कारण-सम्बन्धों के अध्ययन किए गए हैं तथा गुण-सम्बन्ध सिद्ध किए गए हैं।

14.4 सारांश (Summary)

- मार्क्स की मान्यता है कि अस्तित्व चेतना का निर्णायक है।
- मार्क्स के अनुसार, उत्पादन के प्रकार सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक जीवन की प्रक्रिया के सामान्य लक्षणों का निर्धारण करते हैं।
- मार्क्स के अनुसार, समाज का उद्‌गम भी जीवन की भौतिक परिस्थितियाँ हैं।
- मार्क्स की मान्यता है कि आर्थिक उप-संरचना और मानकात्मक अधिसंरचना में परस्पर द्वन्द्वात्मक अंतर्क्रिया होती है जिसके फलस्वरूप समाज अनेक उद्‌विकासीय चरणों से गुजरता हुआ परिवर्तित होता रहता है।

14.5 शब्दकोश (Keywords)

1. **आमूल परिवर्तनवादी समाजशास्त्र (Radical Sociology)**—आमूल परिवर्तनवाद बलवान के विरुद्ध कमजोर, शोषक के विरुद्ध शोषित तथा वर्गों के अधिकार के विरुद्ध जनता के अधिकारों को समर्थन करता है। इस परिप्रेक्ष्य की रुचि मुख्यत: गरीबी, प्रजातिवाद, शोषण, शक्तिहीनता, सैनिक, औद्योगिक संस्थान जैसे विषयों में रही है।

14.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. मार्क्स के वर्ग एवं वर्ग-संघर्ष की अवधारणा को बताएँ।
2. मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या किस प्रकार की है?
3. मार्क्स के सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत का आलोचनात्मक मूल्यांकन करें।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. वास्तविक आधारशिला
2. अधिसंरचना
3. आदर्शात्मक।

14.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. परिवर्तन और विकास का समाजशास्त्र – *प्रफुल्ल चन्द्र तायल, हिन्दी बुक सेन्टर।*
2. विकास का समाजशास्त्र – *सिंह शिव बहल, रावत पब्लिकेशन।*
3. विकास का समाजशास्त्र – *एम. अहमद, न्यू एज इन्टरनेशनल।*

नोट

इकाई–15: विकास और अल्पविकास का सिद्धांत: आधुनिकीकरण सिद्धांत (Theories of Development and Under-development : Modernisation Theories)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
15.1 आधुनिकीकरण (Modernisation)
15.2 सारांश (Summary)
15.3 शब्दकोश (Keywords)
15.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
15.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- आधुनिकीकरण की अवधारणा की जानकारी।
- "आधुनिकीकरण ने समाज में आर्थिक विकास को तीव्र गति प्रदान की है"; इसकी जानकारी।

प्रस्तावना (Introduction)

परंपरागत समाजों में होने वाले परिवर्तनों या औद्योगीकरण के कारण पश्चिमी समाजों में आए परिवर्तनों को समझने तथा दोनों में भिन्नता प्रकट करने के लिए विद्वानों ने आधुनिकीकरण को जन्म दिया। जब पाश्चात्य विद्वान उपनिवेशों एवं विकासशील देशों में होने वाले परिवर्तनों की चर्चा करते हैं तो वे आधुनिकीकरण की अवधारणा का सहारा लेते हैं।

15.1 आधुनिकीकरण (Modernisation)

कुछ लोगों ने आधुनिकीकरण को एक प्रक्रिया (Process) के रूप में माना है तो कुछ ने एक प्रतिफल (Product) के रूप में। आइजनस्टैड ने इसे एक प्रक्रिया मानते हुए लिखा है, "ऐतिहासिक दृष्टि से आधुनिकीकरण उस प्रकार की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं की ओर परिवर्तन की प्रक्रिया है जोकि सत्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक पश्चिमी यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका में और बीसवीं शताब्दी तक दक्षिणी अमेरिकी, एशियाई व अफ्रीकी देशों में विकसित हुई।" **श्रीनिवास** के अनुसार, आधुनिकीकरण की प्रक्रिया किसी एक ही दिशा या क्षेत्र में होने

नोट

वाले परिवर्तन को प्रकट नहीं करती वरन् यह एक बहु-दिशा वाली प्रक्रिया (Multi-dimensional process) है। साथ ही यह किसी भी प्रकार के मूल्यों से बंधी हुई नहीं है। (Value free), परन्तु कभी-कभी इसका अर्थ अच्छाई और इच्छित परिवर्तन से लिया जाता है। उदाहरण के लिए, जब कोई यह कहता है कि सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक संस्थाओं का आधुनिकीकरण हो रहा है, तब उसका उददे्श्य आलोचना करना नहीं, वरन् अच्छाई बताना है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. कुछ लोगों ने ..... को एक प्रक्रिया के रूप में माना तो कुछ लोगों ने एक प्रतिफल के रूप में माना।
2. सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक ..... की घोर परिवर्तन की प्रक्रिया है जोकि सत्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक पश्चिमी यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका में और बीसवीं शताब्दी तक दक्षिणी अमेरिकी, एशियाई व अफ्रीकी देशों में विकसित हुई।
3. जब कोई यह कहता है कि सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक संस्थाओं का ..... हो रहा है।

आधुनिकीकरण : परिभाषा एवं अर्थ (Modernisation : Definition and Meaning)

अब तक विभिन्न विद्वानों ने आधुनिकीकरण पर बहुत कुछ लिखा है और इसे अनेक रूपों में परिभाषित किया है। यहां हम कुछ विद्वानों द्वारा प्रस्तुत परिभाषाओं एवं विचारों का उल्लेख करेंगे–

मैरियन जे. लेबी (Marrion J.Levy) ने आधुनिकीकरण को प्रौद्योगिक वृद्धि (Technological growth) के रूप में परिभाषित किया है, "मेरी आधुनिकीकरण की परिभाषा शक्ति के जड़ स्त्रोतों (Inanimate sources of power) और प्रयत्न के प्रभाव को बढ़ाने के लिए उपकरणों के प्रयोग पर आधारित है। मैं इन दो तत्वों में से प्रत्येक को सातत्व (Continuum) का आधार मानता हूँ। उपरोक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि लेवी ने शक्ति के जड़ स्त्रोत जैसे, पेट्रोल, डीजल, कोयला, जल-विद्युत तथा अणु-शक्ति और यन्त्रों के प्रयोग को आधुनिकीकरण के आधार के रूप में माना है। किसी समाज विशेष को कितना आधुनिक कहा जायेगा, यह इस बात पर निर्भर करता है कि वहां जड़ शक्ति तथा यन्त्रों का कितना प्रयोग हुआ है।

डॉ. योगेन्द्र सिंह (Dr. Yogendra Singh) ने बताया है कि साधारणत : आधुनिक होने का अर्थ फैशनेबल से लिया जाता है (To be modern is to be fashionable)। वे आधुनिकीकरण को एक सांस्कृतिक प्रत्यय मानते हैं जिसमें तार्किक अभिवृत्ति, सार्वभौम दृष्टिकोण, परानुभूति, वैज्ञानिक विश्व-दृष्टि, मानवता, प्रौद्योगिक प्रगति, आदि सम्मिलित हैं (Modernisation includes rational attitude, universalistic viewpoint empathy, scientific world view, humanity, technological advancement, etc.)। डॉ. सिंह आधुनिकीकरण पर किसी एक ही नृजातीय समूह (Ethnic group) या सांस्कृतिक समूह (Cultural group) का स्वामित्व नहीं मानते वरन् सम्पूर्ण मानव समाज का अधिकार मानते हैं।

डेनियल लर्नर (Daniel Lerner) ने अपनी पुस्तक **'The Passing of a Traditional Society : Modernising the Middle East'** में आधुनिकीकरण का पश्चिमी मॉडल स्वीकार किया है। वे आधुनिकीकरण में निहित निम्न विशेषताओं का उल्लेख करते हैं–

(1) बढ़ता हुआ नगरीकरण (Increasing Urbanisation)

(2) बढ़ती हुई साक्षरता (Increasing Literacy)

(3) बढ़ती हुई साक्षरता विभिन्न साधनों जैसे, समाचार-पत्रों, पुस्तकों, रेडियो आदि के प्रयोग द्वारा शिक्षित लोगों के अर्थ पूर्ण विचार-विनिमय में सहभागिता को बढ़ाती है (Increasing literacy tends to increased participation of literate people in a meaningful discourse through various media, like newspapers, books, radio and so on.)।

नोट

(4) इन सभी से मनुष्य की क्षमता में वृद्धि होती है, राष्ट्र का आर्थिक लाभ होता है जो प्रति व्यक्ति आय को बढ़ाने में योग देता है (Economic development of the country helps to increase per capita income)।

(5) राजनीतिक जीवन की विशेषताओं को उन्नत करने में सहायता देता है (It helps in improving the qualities of political life)।

लर्नर उपर्युक्त विशेषताओं को शक्ति, तरुणाई, निपुणता तथा तार्किकता (Power, youth, skill and rationality) के रूप में व्यक्त करते हैं। वे आधुनिकीकरण को प्रमुखत: मस्तिष्क की एक स्थिति के रूप में स्वीकार करते हैं, प्रगति की अपेक्षा, वृद्धि की ओर झुकाव तथा परिवर्तन के अनुरूप अपने को ढालने की तत्परता के रूप में मानते हैं (Modernity is primarily a state of mind, expectation of progress, propensity to growth, readiness to adopt ourself to change)। परानुभूति (empathy) भी आधुनिकीकरण का एक मुख्य तत्व है जिसमें अन्य लोगों के सुख-दु:ख में भाग लेने और संकट के समय उनको सहायता देने की प्रवृत्ति बढ़ती है।

टास्क आधुनिकीकरण का अर्थ और परिभाषा का संक्षिप्त वर्णन करें।

आइजनस्टैड (Eisenstadt) ने अपनी पुस्तक **'Modernisation: Protest and Change' (1966)** में विभिन्न क्षेत्रों में आधुनिकीकरण को निम्न प्रकार से व्यक्त किया है।

(1) **आर्थिक क्षेत्र में**–प्रौद्योगिकी का उच्च स्तर।

(2) **राजनीतिक क्षेत्र में**–समूह में शक्ति का प्रसार तथा सभी वयस्कों को शक्ति प्रदान करना (मताधिकार द्वारा) एवं संचार के साधनों द्वारा प्रजातन्त्र में भाग लेना।

(3) **सांस्कृतिक क्षेत्र में**–विभिन्न समाजों के साथ अनुकूलन की क्षमता में वृद्धि तथा दूसरे लोगों की परिस्थितियों के प्रति परानुभूति (Empathy) में वृद्धि।

(4) **संचार के क्षेत्र में**–सभी संगठनों के आकार का बढ़ना, उनमें जटिलता एवं विभेदीकरण की दृष्टि से वृद्धि।

(5) **पारिस्थितीय क्षेत्र में** (Ecological Field)–नगरीकरण की वृद्धि।

डॉ. एम. एन. श्रीनिवास (M.N. Srinivas) ने 'Social Change in Modern India' (1966) तथा 'Modernisation: A Few Queries' (1969) में आधुनिकीकरण के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं: आप आधुनिकीकरण को एक तटस्थ शब्द नहीं मानते। आपके अनुसार आधुनिकीकरण का अर्थ अधिकांशत: 'अच्छाई' से लिया जाता है। किसी भी पश्चिमी देश के प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्पर्क के कारण किसी गैर-पश्चिमी देश में होने वाले परिवर्तनों के लिए प्रचलित शब्द आधुनिकीकरण है। आप आधुनिकीकरण में निम्नलिखित बातों को सम्मिलित करते हैं: बढ़ा हुआ नगरीकरण, साक्षरता का प्रसार, प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि, वयस्क मताधिकार तथा तर्क का विकास।

डॉ. श्रीनिवास ने आधुनिकीकरण के तीन प्रमुख क्षेत्र बताये हैं–

(1) भौतिक संस्कृति का क्षेत्र (इसमें तकनीकी भी सम्मिलित की जाती है);

(2) सामाजिक संस्थाओं का क्षेत्र; और

(3) ज्ञान, मूल्य एवं मनोवृत्तियों का क्षेत्र।

ऊपरी तौर पर तो ये तीनों क्षेत्र भिन्न-भिन्न मालूम पड़ते हैं, परन्तु ये परस्पर सम्बन्धित हैं। एक क्षेत्र में होने वाले परिवर्तन दूसरे क्षेत्र को भी प्रभावित करते हैं।

ए. आर. देसाई (A.R. Desai) आधुनिकीकरण का प्रयोग केवल सामाजिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं बल्कि जीवन के सभी पहलुओं तक विस्तृत मानते हैं।

बौद्धिक क्षेत्र में आधुनिकीकरण का अर्थ तर्क-शक्ति का बढ़ाना है। भौतिक व सामाजिक घटनाओं की तार्किक व्याख्या की जाती है। ईश्वर को आधार मानकर किसी भी घटना को स्वीकार नहीं किया जाता।

नोट

नोट्स धर्मनिरपेक्ष तार्किकता का ही परिणाम है जिसके फलस्वरूप अलौकिक जगत के स्थान पर इस दुनिया का (This wordly) दृष्टिकोण पनपता है।

सामाजिक क्षेत्र में–(अ) सामाजिक गतिशीलता बढ़ती है। पुरानी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा मनोवैज्ञानिक धारणाओं को तोड़कर व्यक्ति नये प्रकार के व्यवहार को अपनाने को प्रस्तुत होता है।

(ब) सामाजिक संरचना में परिवर्तन–व्यक्ति के व्यवसायिक एवं राजनीतिक कार्यों में परिवर्तन आता है, प्रदत्त के स्थान पर अर्जित पदों का महत्त्व बढ़ता है।

राजनीतिक क्षेत्र में–(अ) सार्वभौमिक सत्ता की वैधता (Legitimation) अलौकिक शक्ति से प्राप्त न होकर नागरिकों द्वारा प्राप्त होती है।

(ब) राजनीतिक शक्ति का लोगों में वयस्क मताधिकार के आधार पर हस्तान्तरण।

(स) समाज की केन्द्रीय कानूनी, प्रशासकीय तथा राजनीतिक संस्थाओं का विस्तार एवं प्रसार।

(द) प्रशासकों द्वारा जनता की भलाई की नीति अपनाना।

आर्थिक क्षेत्र में–(अ) उत्पादन, वितरण, यातायात तथा संचार, आदि में पशु और मानव शक्ति के स्थान पर जड़-शक्ति का प्रयोग करना।

(ब) आर्थिक क्रियाओं का परम्परात्मक स्वरूप से पृथक्करण।

(स) मशीन, तकनीकी एवं औजारों का प्रयोग।

(द) उच्च तकनीकी के प्रभाव के कारण उद्योग, व्यवसाय, व्यापार, आदि में वृद्धि।

(य) आर्थिक कार्यों में विशेषीकरण का बढ़ना, साथ ही उत्पादन, उपभोग व बाजार में वृद्धि।

(र) अर्थव्यवस्था में उत्पादन तथा उपभोग में वृद्धि।

(ल) बढ़ता हुआ औद्योगीकरण जिसे हम आर्थिक आधुनिकीकरण की मुख्य विशेषता कह सकते हैं।

पारिस्थितीय क्षेत्र में नगरीकरण की वृद्धि होती है।

सांस्कृतिक क्षेत्र में–(अ) शिक्षा का विस्तार तथा विशेष प्रकार की शिक्षा देने वाली संस्थाओं में वृद्धि।

(ब) नये सांस्कृतिक दृष्टिकोण का विकास जो उन्नति व सुधार, योग्यता, सुख, अनुभव व क्षमता पर जोर दे।

(स) सभी प्रकार के समाजों के साथ समायोजन करने की धारणा का विकास, रुचि का बढ़ना, दूसरे लोगों के प्रति परानुभूति का बढ़ना, दूसरों का सम्मान करना, ज्ञान व तकनीकी में विश्वास पैदा होना तथा व्यक्ति को उसके कार्य का प्रतिफल मिलना और मानवतावाद में विश्वास।

(द) समाज द्वारा ऐसी संस्थाओं और योग्यताओं का विकास करना जिससे कि लगातार बदलती हुई मांगों और समस्याओं से समायोजन किया जा सके।

इस प्रकार श्री देसाई ने आधुनिकीकरण को एक विस्तृत क्षेत्र के सन्दर्भ में देखा है जिसमें समाज व संस्कृति के सभी पहलू आ जाते हैं।

विकास एवं अल्प विकास के सिद्धांतों में आधुनिकीकरण का सिद्धांत पारंपरिक या अविकसित समाजों से आधुनिक समाजों में परिवर्तन की प्रक्रियाओं का विवरण है। आधुनिकीकरण सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक प्रणाली है जो 17वीं शताब्दी में उत्तरी अमेरिका एवं पश्चिमी यूरोप में विकसित होकर दक्षिण अमेरिका अन्य यूरोपीय देशों, एशियाई और अफ्रीकी महाद्वीपों में फैल गई। समाजशास्त्र में अल्प विकास से संबंधित दृष्टिकोण के संदर्भ में आधुनिकीकरण का सिद्धांत उल्लेखनीय है।

नोट

सामान्यत: आधुनिकीकरण सिद्धांत में समाज के भीतर आर्थिक विकास को इंगित किया जाता है जैसे सफल राष्ट्रीय उत्पाद। मशीनीकरण या आर्थिक विकास की प्रक्रिया में औद्योगीकरण प्रमुख कारक है। आर्थिक विकास के लिए औद्योगीकरण महत्त्वपूर्ण है।

क्या आप जानते हैं आर्थिक विकास के अंतर्गत सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक संदर्भ में औद्योगीकरण के परिणामों का अध्ययन किया जाता है।

आधुनिकीकरण की समाजशास्त्रीय अवधारणा केवल वर्तमान को ही संदर्भित नहीं करता बल्कि राष्ट्रीय विकास के पाठ्यक्रम में सामाजिक परिवर्तन संबंधी सामग्री एवं प्रक्रियाओं को भी निर्दिष्ट करता है। इसमें एक उपयुक्त वर्णनात्मक एवं व्याख्यात्मक मॉडल है जो वास्तविक दुनिया को दर्शाता है।

आधुनिकीकरण का सिद्धांत लोकतांत्रिक एवं पूँजीवादी आधुनिक समाजों में धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रणालियों के विकास के रूप में सामने आता है आधुनिकीकरण के सिद्धांत के कई संस्करण हैं जिनमें अंतर्निहित प्रमुख बिंदु निम्नलिखित हैं–

(1) समाज का विकासवादी चरणों की एक शृंखला के माध्यम से विकास।

(2) इन चरणों का सामाजिक भेदभाव तथा संरचनात्मक एवं सांस्कृतिक घटकों पर आधारित।

(3) समकालीन विकासशील समाज अंतत: आर्थिक विकास को प्राप्त करने तथा पश्चिमी यूरोपीय एवं उत्तरी अमेरिकी समाज के सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक सुविधाओं को उपलब्ध कराना।

(4) आधुनिकीकरण पश्चिमी प्रौद्योगिकी के रूप में आयातित है तथा पारंपरिक संरचना एवं संस्कृति की असंगतियों को दूर करने का परिणाम।

आधुनिकीकरण सिद्धांत के अंतर्गत न केवल उन्नत प्रौद्योगिकी का विकास होता है बल्कि संरचनात्मक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन लक्षण भी स्पष्ट दिखाई देते हैं।

आधुनिक समाज में शहरीकरण, साक्षरता, अनुसंधान स्वास्थ्य संबंधी देखभाल, धर्मनिरपेक्षता नौकरशाही, मास मीडिया एवं परिवहन सुविधाओं के उच्च स्तर को दर्शाता है। इसके तहत नातेदारी कमजोर होती है और केंद्रक परिवार की प्रणाली सुदृढ़ होती है। जन्म तथा मृत्यु दर की मात्रा कम होती है तथा जीवन प्रत्याशा अपेक्षाकृत अधिक होती है। इसमें संरचनात्मक परिवर्तन के साथ जुड़े भूमिका संबंधों एवं व्यक्तित्व में बदलाव होते हैं। सामाजिक गतिशीलता बढ़ जाती है और आर्जित परिस्थितियों का महत्त्व बढ़ जाता है।

आधुनिकीकरण नव विकासवादी सिद्धांत है। इसमें संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक संबंधी सामाजिक परिवर्तन की मुख्य प्रक्रियाओं को व्यवहार में लाया जाता है।

प्रसिद्ध समाजशास्त्री पारसन्स ने यह स्पष्ट किया है कि कोई भी आधुनिकीकरण का सिद्धांत, विभिन्न सिद्धांत एवं दृष्टिकोणों का एक वर्गीकरण (assortment) है।

विकास का आधुनिक सिद्धांत यह स्पष्ट करता है कि विकास की अनेक प्रक्रियाओं द्वारा विकास को प्राप्त किया जा सकता है जिसे वर्तमान में अनेक विकसित देशों द्वारा प्रयुक्त किया गया था। इन सिद्धांतों से संबंधित विद्वानों में रोस्तोव ऑरगेन्स्की (Organski) सैमुअल, हंटिंगटन आदि उल्लेखनीय हैं। सैमुअल हंटिगटन ने विकास को एक रेखीय प्रक्रिया के रूप में देखा जिससे प्रत्येक देश अवश्य ही गुजरता है। क्लासिकल उदारवाद में विपरीत आधुनिकीकरण सिद्धान्त अल्पविकसित या पिछड़े समाजों में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को केंद्र में रखता है।

पारसन्स का क्रिया सिद्धांत आधुनिक एवं परंपरागत समाजों की विशेषताओं की भिन्नताओं को दर्शाता है आधुनिक सिद्धांतों की कुंजी के रूप में शिक्षा को देखा गया था तथा इसमें प्रौद्योगिकी की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी क्योंकि यह विश्वास किया जाता था कि प्रौद्योगिकी अल्पविकसित समाजों में आर्थिक वृद्धि को और समृद्ध करेगी।

नोट

नोट्स आधुनिक सिद्धांतों में एक कुंजीकारक यह विश्वास था कि विकासशील देशों को अपनी प्रक्रियाओं से सीखने में विकसित देश सहायता करेंगे। यह माना जाता था कि तभी अल्पविकसित देश तेजी से वृद्धि कर सकेंगे और विकसित देशों के समक्ष खड़े हो सकेंगे।

15.2 सारांश (Summary)

- आधुनिकीकरण नव-विकासवादी सिद्धांत है।
- इसमें संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक संबंधी सामाजिक परिवर्तन की मुख्य प्रक्रियाओं को व्यवहार में लाया जाता है।
- आर्थिक विकास के लिए औद्योगीकरण महत्त्वपूर्ण है।
- आर्थिक विकास के अंतर्गत सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक संदर्भ में औद्योगीकरण के परिणामों का अध्ययन किया जाता है।

15.3 शब्दकोश (Keywords)

1. **अल्प विकास (Underdevelopment)**–योजना आयोग के अनुसार "अल्पविकसित देश वह है जिसमें एक ओर तो मानव शक्ति की क्षमता का बहुत कम उपयोग हो पा रहा है तथा दूसरी ओर प्राकृतिक संसाधनों का भी पूरा प्रयोग नहीं हो पा रहा है।

15.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. आधुनिकीकरण का अर्थ बताएँ।
2. विकसित तथा विकासशील देशों में आधुनिकीकरण की अवधारणा को स्पष्ट करें।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. आधुनिकीकरण
2. व्यवस्थाओं
3. आधुनिकीकरण।

15.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. विकास का समाजशास्त्र – *कैलाश प्यास, पेनक्राफ्ट इन्टरनेशनल।*
2. विकास का समाजशास्त्र – *राव राममेहर सिंह, अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस।*
3. विकास का समाजशास्त्र – *एम. अहमद, न्यू एज इन्टरनेशनल।*

नोट

इकाई–16: विकास और अल्पविकास का सिद्धांत : केंद्र-परिधि, विश्व-व्यवस्था, असमान विनिमय (Theories of Development and Under-development : Centre-Peripheri, World-Systems, Unequal Exchange)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

16.1 विकास का निर्भरतापरक सिद्धांत : केंद्र-परिधि, असमान विनिमय, विश्व-व्यवस्था (Depending Theory of Development : Centre-Peripheri, Unequal Exchange, World Systems)

16.2 विश्व-व्यवस्था सिद्धांत (World-System Theory)

16.3 सारांश (Summary)

16.4 शब्दकोश (Keywords)

16.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

16.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- विकास और अल्पविकास सिद्धांत के अंतर्गत विश्व-व्यवस्था सिद्धांत की जानकारी।
- विकसित और अल्पविकसित देशों के बीच असमान विनिमय के भेद स्पष्ट करना।

प्रस्तावना (Introduction)

विश्व आर्थिक प्रणाली पूँजीवादी विकसित देशों के हित सम्बर्द्धन की पोषक है जिसके फलस्वरूप अल्पविकसित देश अभी भी पिछड़े हुए हैं और अपने विकास के लिए विकसित देशों पर निर्भर करते हैं। **ए. जी. फ्रैंक** (A. G. Frank) के अनुसार विकास एवं अल्पविकास एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। वैश्विक प्रणाली की ऐसी ही रीति है कि एक व्यवस्था का विकास दूसरे के विकास की कीमत पर होता है।

नोट

16.1 विकास का निर्भरतापरक सिद्धांत ; केंद्र-परिधि, असमान विनिमय, विश्व-व्यवस्था (Depending Theory of Development : Centre-Peripheri, Unequal Exchange, World Systems)

विकास के निर्भरतापरक सिद्धान्त का प्रतिपादन 1960 के दशक के अन्तिम वर्षों तथा 1970 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में लैटिन अमेरिकी देशों के सन्दर्भ में किया गया। इस सिद्धान्त का विकास ढांचावादी/मार्क्सवादी/ नव–मार्क्सवादी (Structurlist/Marxist/Neomarxist) ढांचे के अन्तर्गत हुआ। इस सिद्धान्त के अनुसार अल्पविकसित देशों के पिछड़ेपन के लिए पश्चिम के पूंजीवादी देश उत्तरदायी हैं जिनमें से अधिकांश 19वीं तथा 20वीं शताब्दी में शक्तिशाली सम्राज्यवादी राष्ट्र थे। सिद्धान्त के विवेचकों का तर्क है कि अल्पविकसित देशों का जो अपर्याप्त विकास हुआ अथवा उनके विकास में जो विकार उत्पन्न हुआ उसका प्रमुख कारण इन साम्राज्यवादी राष्ट्रों की उपनिवेशवादी नीति थी। इसके अतिरिक्त इन विचारकों ने अल्पविकसित देशों के ऐतिहासिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक कारकों का भी उल्लेख किया है जो इन देशों की आर्थिक प्रगति में बाधक रहे। इन लोगों का तर्क है इन्हीं कारकों ने यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका के आर्थिक विकास में सक्रिय भूमिका निभाई, जबकि अफ्रीका, एशिया तथा लैटिन अमेरिका के विकास को पीछे ढकेल दिया। पहले ये अल्पविकसित देश इन विकसित साम्राज्यवादी देशों के उपनिवेश थे और इनके शोषण के शिकार थे। इन देशों की सोची–समझी शोषणकारी नीतियों के फलस्वरूप ही ये अल्पविकसित देश अल्पविकसित एवं पिछड़े बने रहे। इन देशों की अर्थव्यवस्था औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था थी।

नोट्स शासित देश शासक देश के लिए कच्चे माल के स्रोत तथा इनके द्वारा निर्मित वस्तुओं की बिक्री के प्रमुख बाजार थे। ये उपनिवेशवादी देश अपने शासित देशों के परम्परागत उद्योगों को जानबूझकर नष्ट करने की नीति अपनाते थे।

इस तरह, पूर्व में अल्पविकसित देशों का पिछड़ापन साम्राज्यवादी देशों की पूर्व नियोजित शोषणकारी नीति का परिणाम था। वर्तमान में भी अल्पविकसित देश निर्मित वस्तुओं, मध्यवर्ती वस्तुओं, मशीनरी तथा प्रौद्योगिकी के लिए पश्चिमी देशों पर ही निर्भर करते हैं। इस तरह इन अल्पविकसित देशों का विकास अभी भी विकसित देशों पर ही निर्भर करता है। अन्य शब्दों में, पुराना शोषण नए रूप में विद्यमान है।

निर्भरता सिद्धांत का विकास लैटिन अमेरिकी अर्थशासित राउल प्रेबिश ने 1950 के दशक में किया था। प्रेबिश और उनके सहयोगियों का सुझाव था कि अमीर देशों की आर्थिक गतिविधियाँ अक्सर गरीब देशों में गंभीर आर्थिक समस्याओं का नेतृत्व करती है। प्रेबिश का प्रारंभिक विवरण बहुत सरल था, उनका मानना था कि गरीब देशों को आयात प्रतिस्थापन के कार्यक्रमों को प्रारंभ करना चाहिए ताकि उन्हें अमीर देशों में निर्मित उत्पादों की खरीद की जरूरत न रहे। गरीब देशों को अमीर देश अपनी प्राथमिक उत्पादों को बेचना चाहते हैं ताकि उनका विदेशी मुद्रा भंडार हमेशा समृद्ध रहे।

अनेक आधुनिक अर्थशास्त्रियों **राउल प्रेबिश, सिंगर मिर्डल, मिरट**, आदि ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को **अल्पविकसित देशों के आर्थिक विकास में अवरोधक** माना है।

(1) **निर्यात क्षेत्र के अतिरिक्त शेष अर्थव्यवस्था की अवहेलना**–इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप अर्द्ध–विकसित देशों के निर्यातों में तो वृद्धि हुई है परन्तु इससे केवल निर्यात क्षेत्र विकसित हुए हैं। शेष अर्थव्यवस्था को विकसित करने में इसने कोई योगदान नहीं दिया है जिसका परिणाम यह हुआ कि आज भी अर्द्ध–विकसित देश, असन्तुलित विकास के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। मिर्डल का कहना है कि "पिछड़े देशों का उच्च विदेशी व्यापार का अनुपात इस बात का प्रमाण नहीं है कि उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय श्रम–विभाजन का लाभ उठाया है वरन् इस बात का सबूत है कि वे अर्द्ध–विकसित एवं निर्धन हैं।" निर्यात क्षेत्र में जिस उत्पादन तकनीक का प्रयोग किया गया उसका शेष अर्थव्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं हुआ।

नोट

(2) **कीमतों में समानता नहीं**–अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ने साधनों की कीमतों में समानता स्थापित नहीं की वरन् इससे ऐसी संचयी प्रवृत्ति का जन्म हुआ है जिससे साधन अनुपातों में समानता और उनकी कीमतों में समानता से सन्तुलन का बिन्दु दूर हटता गया है। अन्तर्राष्ट्रीय समानता की बात तो दूर, इससे देश के विभिन्न क्षेत्रों में भी साधनों और उनकी कीमतों में समानता स्थापित नहीं हो सकी है। वास्तविकता तो यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से आय के अन्तर्राष्ट्रीय वितरण में असमानता ही आयी है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. निर्भरता सिद्धांत का विकास लैटिन अमेरिकी अर्थशासित ..... ने 1950 के दशक में किया था।
2. प्रेबिश और उनके सहयोगियों का सुझाव था कि अमीर देशों की आर्थिक गतिविधियाँ अक्सर गरीब देशों में गंभीर आर्थिक समस्याओं का ..... करती है।
3. गरीब देशों को अमीर देश अपनी ..... उत्पादों को बेचना चाहते हैं ताकि उनका विदेशी मुद्रा भण्डार हमेशा संवृद्ध रहे।

(3) **दोहरी अर्थव्यवस्थाओं का निर्माण**–अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार करने के बाद बहुत पिछड़े देशों में दोहरी अर्थव्यवस्थाओं का निर्माण हुआ है। जहां निर्यातक क्षेत्र "विकास का द्वीप" (Island of Development) बना है वहां शेष अर्थव्यवस्था प्राय: पिछड़ी हुई रही है अर्थात् निर्यात क्षेत्र के चारों ओर निर्वाह अर्थव्यवस्था (Subsistence Economy) का निर्माण हुआ है। निर्यात के उन्नत क्षेत्र में उत्पादन की विधियां पूंजीगहन होती हैं और उत्पादन गुणक निश्चित रहता है जबकि पिछड़े हुए क्षेत्र में उत्पादन तो श्रम गहन होता है एवं उत्पत्ति के साधन के बराबर अनुपातों में प्रयुक्त नहीं किये जाते। विदेशी पूंजी केवल निर्यात करने के लिए ही देश के प्राकृतिक साधनों के दोहन के लिए प्रयुक्त की जाती है जिसमें देश के लोगों को पर्याप्त रोजगार नहीं मिलता तथा लोगों को पिछड़े क्षेत्रों में ही रोजगार ढूंढ़ना पड़ता है।

(4) **व्यापार की शर्तों का दीर्घकाल में प्रतिकूल रहना**–यह कहा जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों ने कुछ ऐसी असन्तुलनकारी दशाएं पैदा की हैं कि जिससे निर्धन देशों की व्यापार की शर्तें काफी समय तक प्रतिकूल रहने के कारण उनकी आय धनी देशों को जाती रही है। यदि औद्योगिक देश एवं प्राथमिक वस्तुओं के उत्पादन करने वाली अर्द्ध-विकसित देशों के बीच व्यापार होता है तो वस्तु व्यापार की शर्तें सदैव औद्योगिक देशों के पक्ष में हो जाती हैं।

क्या आप जानते हैं कच्चे माल और साधनों के बाजार में धनी देशों का एकाधिकार होता है एवं तकनीकी प्रगति के सहयोग के कारण उत्पत्ति के साधनों की आय बढ़ जाती है जबकि प्राथमिक उत्पादन करने वाले देशों में यदि उत्पादकता बढ़ती है तो वहां कीमतें घट जाती हैं।

जहां तक व्यापार की शर्तों में चक्रीय गतिविधियों (Cyclical movements) का प्रश्न है, इनका प्रभाव अर्द्ध-विकसित देशों के लिए प्रतिकूल एवं बाधक रहा है।

(5) **प्रदर्शन-प्रभाव** (Demonstration Effect)–अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शन प्रभाव के कारण भी निर्धन देशों के विकास में बाधा उपस्थित होती है। अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शन प्रभाव का अर्थ यह है कि अर्द्ध-विकसित देश, विकसित देशों की उपभोग की प्रवृत्ति को अपनाते हैं जिससे विदेशी आयातों में वृद्धि होती है अर्थात् पूंजी का बहिर्गमन होता है और निर्धन देशों में पूंजी का संचय कम हो जाता है। इसका कारण यह है कि प्रदर्शन प्रभाव के कारण अर्द्ध-विकसित देश के लोगों में विदेशी उपभोग एवं विलासिता की वस्तुओं के लिए लालसा जाग्रत होती है अत: विदेशी वस्तुओं के आयात में वृद्धि होती है और विदेशी दायित्व बढ़ते हैं जिनका आर्थिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

नोट

(6) **विकसित देशों में बढ़ती हुई प्रतियोगिता का विकास पर प्रतिकूल प्रभाव**–जब अर्द्ध-विकसित देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में प्रवेश करते तो इनके सामने कई समस्याएं आती हैं जिनमें विदेशी प्रतियोगिक महत्त्वपूर्ण है। यदि ये देश अपना निर्यात बढ़ाना चाहते हैं तो इन्हें विदेशी माल से प्रतियोगिता करनी पड़ती है, चूंकि विदेशी वस्तुएं उच्च तकनीक के कारण गुणों में उत्तम होती हैं तथा उनकी कीमतें भी कम होती हैं। अत: अर्द्ध-विकसित देश उनके सामने ठहर नहीं पाते और अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों पर उनका अधिकार नहीं हो पाता। यह समस्या इसलिए आज भी विकट हो गयी कि आजकल विकसित देश भी प्राथमिक वस्तुओं का उत्पादन करने लगे हैं और यदि कभी ये निर्धन देश प्रतियोगिता करने में समर्थ भी हो जाते हैं तो इन्हें आवश्यक उपकरणों एवं मशीन का निर्यात बन्द कर दिया जाता है। जैसे कुछ समय पूर्व अमरीका भारत को यूरेनियम का निर्यात बन्द करने की धमकी दी थी।

निर्भरता सिद्धांत को गरीब देशों की गरीबी को समझने के लिए एक तरीके के रूप में देखा गया। पारंपरिक नवशास्त्रीय दृष्टिकोण हमेशा इस बात पर जोर देता है कि गरीब देशों में ठोस आर्थिक कार्यक्रमों के महत्त्व को देर से समझा जाता है इसलिए आधुनिक अर्थशास्त्र की तकनीक वे शीघ्र नहीं अपना पाते।

निर्भरता अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली के रूप में वर्णित की जाती है। उन्नत औद्योगिक राष्ट्र आर्थिक सहयोग एवं विकास के क्षेत्र में बहुत आगे रहते हैं। एक बड़ी हद तक यह धारणा है कि आर्थिक एवं राजनीतिक सत्ता औद्योगिक केंद्रों में अत्यधिक केंद्रीकृत है। यदि यह धारणा मान्य है तो आर्थिक और राजनीतिक सत्ता के बीच अंतर वास्तविक नहीं है। सभी निर्भरता सिद्धांतकार इस बात को स्वीकार करते हैं कि निर्भरता और साम्राज्यवाद के बीच अंतर करना चाहिए। साम्राज्यवाद के अंतर्गत राज्य विस्तार पर जोर दिया जाता है जबकि निर्भरता सिद्धांत अल्पविकास की धारणा को सामने रखता है।

निर्भरता के सिद्धांतकार यह मानते हैं कि यह सिद्धांत स्वायत्त देशों में अनेक आर्थिक गतिविधियों की संभावना उपलब्ध कराता है।

निर्भरता सिद्धांत के केंद्रीय प्रस्तावों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं–

1. अल्पविकास मौलिक अविकास से अलग होता है। अविकास में अंतर्गत संसाधनों के इस्तेमाल नहीं करने का संदर्भ उल्लेखनीय होता है। जैसे यूरोपीय उपनिवेशी उत्तरी अमेरिकी महाद्वीप में अविकसित क्षेत्रों पर ध्यान नहीं दिया। अल्पविकास एक ऐसी स्थिति होती है जिसमें संसाधनों का सक्रिय इस्तेमाल किया जाता है लेकिन उसका उपयुक्त परिणाम सामने नहीं आता।
2. अल्पविकास एवं अविकास के बीच के अंतर का ऐतिहासिक संदर्भ है। वे गरीब हैं क्योंकि वे कच्चे माल या सस्ते श्रम के रूप में यूरोपीय देशों के उत्पादन के लिए अपनी सेवा प्रदान करते हैं।
3. निर्भरता सिद्धांत कहता है कि संसाधनों का वैकल्पिक उपयोग किया जाना चाहिए।
4. निर्भरता सिद्धांत की एक धारणा है कि राष्ट्रीय हित केवल एक समाज के भीतर गरीबों की जरूरतों को संबोधित करने की बजाय कंपनी या सरकारी आवश्यकताओं की संतुष्टि के माध्यम से पूरा किया जा सकता है।

असमान विकास :

पूँजीवाद के एक आवश्यक पहलू के रूप में असमान विकास की प्रक्रिया के अंतर्गत पूँजीवाद के प्रमुख विरोधाभास धन एवं पूँजी की सांद्रता के साथ-साथ गरीबी और उत्पीड़न की व्याख्या है। असमान विकास क्षेत्रों भौगोलिक प्रक्रियाओं, वर्गों तथा वैश्विक, क्षेत्रीय, राष्ट्रीय, उपराष्ट्रीय तथा स्थानीय स्तर पर क्षेत्रों के विकास के स्तर से संबंधित होते हैं। श्रम के विभाजन के व्यापक उद्‌भव में असमान विकास की भौतिक गतियाँ, समकारी एवं पूँजी के बीच के अंतर में निहित हैं।

1970 के दशक के दौरान असमान एवं संयुक्त विकास की घटना, उत्पादन के तरीके की सटीकता की प्रक्रिया के रूप में समझा गया। उत्पादन की पूँजीवादी पद्धति अतिरिक्त श्रम के आधार पर टिकी रहती है। असमान विकास राजनीति एवं संस्कृति के माध्यम से विविध क्षेत्रों में राजनीतिक अर्थव्यवस्था को प्रभावित करता है।

नोट

टास्क विकास का निर्भरतापरक सिद्धांत क्या है? संक्षिप्त वर्णन करें।

16.2 विश्व-व्यवस्था सिद्धांत (World-System Theory)

निर्भरता सिद्धांत की कुछ आलोचनाओं के प्रत्युत्तर में विश्व-व्यवस्था सिद्धांत सामने आया जिसे Peripheri और Centre में विभाजित किया गया फिर आगे इसे Tri Model System में विभाजित किया गया जिसमें Core. Semiperipheri एवं Peripheri के घटक शामिल थे।

इस व्यवस्था में Semiperipheri, Core एवं Peripheri के बीच स्थित होता है। यह विभाजन अल्पविकसित देशों में औद्योगीकरण को व्यवस्थापित करने का उद्देश्य रखता है। विश्व-व्यवस्था सिद्धांत Immanual Waller Stein द्वारा प्रस्तुत की गई थी। अन्य लेखनों में विश्व-व्यवस्था विश्लेषण एन. सी. दुर्हेम (N.C. Durham) उल्लेखनीय हैं जो विकास में वृद्धि से अलग अस्तित्व के रूप में असमानता पर केंद्रित है तथा वैश्विक पूँजीवादी व्यवस्था में परिवर्तनों का परीक्षण करता है। इस सिद्धांत की एक उल्लेखनीय विशेषता राज्य के लिए अविश्वास है एवं इसमें राज्य को अभिजात्यों के एक समूह के रूप में देखा गया है। अल्पविकसित देशों में होने वाले औद्योगीकरण की विकसित देशों में होने वाले औद्योगीकरण से तुलना नहीं की जा सकती।

नोट्स यह सिद्धांत गैर-व्यवस्थित आंदोलन को महत्त्व देता है जो सामाजिक, लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं एवं श्रम आंदोलन द्वारा व्यवस्था की असमानता को दूर करने का प्रयास करता है।

16.3 सारांश (Summary)

- निर्भरता सिद्धांत का विकास प्रेबिस ने किया था। पर बाद में ए. जी. फ्रेंक आदि अर्थशास्त्रियों ने विश्लेषित किया।
- अल्पविकसित देशों का विकास, विकसित देशों पर निर्भर करता है, यही विकास का निर्भरता सिद्धांत है।
- विश्व आर्थिक प्रणाली पूँजीवादी विकसित देशों के हित संबर्धन की पोषक है जिसके फलस्वरूप अल्पविकसित देश अभी भी पिछड़े हैं।
- वैश्विक प्रणाली ऐसी व्यवस्था है जिसमें एक व्यवस्था का विकास दूसरे के विकास की कीमत पर होता है।

16.4 शब्दकोश (Keywords)

1. **केंद्र-परिधि (Centre-Peripheri)**—केंद्र-परिधि का अर्थ है अंतर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन। कुशल मजदूर केंद्र (Centre) कहलाते हैं तथा अकुशल मजदूर परिधि (Peripheri) कहलाते हैं।
2. **प्रदर्शन-प्रभाव (Demonstration Effect)**—अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शन का अर्थ यह है कि अर्द्ध-विकसित देश, विकसित देशों की उपभोग की प्रवृत्ति को अपनाते हैं जिससे विदेशी आयातों में वृद्धि होती है।

16.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. निर्भरता सिद्धांत का क्या अर्थ है?
2. विश्व-व्यवस्था सिद्धांत की अवधारणा बताएँ।
3. प्रेबिश-सिंगर ने अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को अल्पविकसित देशों के आर्थिक विकास में बाधा माना है। कैसे?

नोट

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. राउल प्रेबिश
2. नेतृत्व
3. प्राथमिक।

16.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. परिवर्तन और विकास का समाजशास्त्र – *प्रफुल्ल चन्द्र तायल, हिन्दी बुक सेन्टर।*
2. विकास का समाजशास्त्र – *सिंह शिव बहल, रावत पब्लिकेशन।*

नोट

इकाई–17: विकास के पथ : पूँजीवाद, समाजवाद, मिश्रित अर्थव्यवस्था, गाँधीवाद
(Paths of Development : Capitalist, Socialist, Mixed Economy, Gandhian)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
17.1 पूँजीवाद (Capitalism)
17.2 पूँजीवाद की आर्थिक संस्थाएँ और आर्थिक संरचना (Economic Institutions and Economic Structure of Capitalism)
17.3 पूँजीवाद के सामाजिक प्रभाव या परिणाम (Social Consequences of Capitalism)
17.4 समाजवाद (Socialism)
17.5 समाजवाद की विशेषताएँ (Characteristics of Socialism)
17.6 समाजवाद के प्रकार (Type of Socialism)
17.7 मिश्रित अर्थव्यवस्था (Mixed Economy)
17.8 गाँधीवाद (Gandhian)
17.9 विकास की दिशा (Direction of Development)
17.10 वर्गहीन और राज्यहीन समाज की संकल्पना (Concept of Classless and Stateless Society)
17.11 भावी समाज की रूपरेखा (Blueprint of Future Society)
17.12 सारांश (Summary)
17.13 शब्दकोश (Keywords)
17.14 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
17.15 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- पूँजीवाद तथा समाजवाद के अर्थ को समझना।
- मिश्रित अर्थव्यवस्था की जानकारी।
- गाँधीवाद के अन्तर्गत विकास की दशा की जानकारी।

नोट

प्रस्तावना (Introduction)

भारत में दूसरी पंचवर्षीय योजना में आयोजिक विकास के उद्देश्यों को "समाजवादी ढंग के समाज" की स्थापना के रूप में बताया गया है। जिसका अर्थ है कि उत्पादन और विकास का रूप तय करने के लिऐ निजी लाभ के बजाय सामाजिक लाभ को आधार बनाया जाएगा। लेकिन इस सब के बावजूद भारत में आर्थिक आयोजन के द्वारा अर्थव्यवस्था का जो भी स्वरूप विकसित हुआ है वह किसी भी तरह से समाजवादी नहीं है। बैकों के राष्ट्रीयकरण, सार्वजनिक क्षेत्र में अनेक उद्यमों की स्थापना और इसी तरह के कुछ दूसरे उपायों से यह भ्रम हो सकता है कि अर्थव्यवस्था समाजवाद की ओर बढ़ी है लेकिन दरअसल सामाजिक आर्थिक सम्बन्धों में ऐसा कुछ भी नहीं हुआ है जिससे इस निष्कर्ष पर पहुंचा जाए कि भारतीय अर्थव्यवस्था का पूंजीवादी स्वरूप बदलकर समाजवादी हो रहा है। इसमें संदेह नहीं है कि भारतीय अर्थव्यवस्था का स्वरूप अठारहवीं शताब्दी की यूरोप की पूंजीवाद अर्थव्यवस्थाओं के स्वरूप से भिन्न हैं।

17.1 पूँजीवाद (Capitalism)

समाज के औद्योगिक युग में प्रवेश करते ही आर्थिक संस्थाओं और आर्थिक संरचना का रूप परिवर्तित होने लगा औद्योगीकरण के द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादन कार्य होने लगा, श्रम-विभाजन और विशेषीकरण का स्पष्ट रूप सामने आने लगा। मिल, कारखाने आदि की स्थापना के लिये पूँजी की आवश्यकता पड़ने लगी और जिन लोगों के पास पूँजी थी वे उत्पादन के विकसित साधनों–मिल, कारखाने आदि के मालिक बन बैठे। ये लोग पूँजीपति कहलाये और परिणामस्वरूप पूँजीवाद का जन्म हुआ।

पूँजीवाद क्या है? (What is Capitalism?)

पूँजीवाद औद्योगिक युग द्वारा उत्पन्न वह अर्थव्यवस्था है जो समाज को दो स्पष्ट वर्गों में–पूँजीपति और श्रमिक वर्ग में बाँट देती है। पूँजीपति वर्ग साधन-सम्पन्न होता है और श्रमिक वर्ग साधन-विहीन होता है और इस प्रकार श्रमिक अपने पेट का पालन श्रम को बेचकर करता है।

17.2 पूँजीवाद की आर्थिक संस्थाएँ और आर्थिक संरचना (Economic Institutions and Economic Structure of Capitalism)

पूँजीवाद की अर्थव्यवस्था को स्पष्ट करने वाली अनेकों आर्थिक संस्थाएँ हैं–

(1) **व्यक्तिगत सम्पत्ति** (Private Property)–व्यक्तिगत सम्पत्ति की संस्था पूँजीवाद का महत्त्वपूर्ण प्रारम्भिक आधार है। पूँजीवाद में व्यक्तिगत सम्पत्ति को राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त होती है और सम्पत्ति अथवा पूँजी को ही सामाजिक स्थिति, प्रतिष्ठा आदि का मापदण्ड माना जाता है।

(2) **बड़े पैमाने पर उत्पादन** (Large Scale Production)–मिल व कारखानों में बड़ी-बड़ी मशीनों द्वारा तीव्र गति से उत्पादन होता है, श्रमिक रात-दिन विभिन्न पारियों (Shift) में काम पर लगे रहते हैं। इस बड़े पैमाने पर उत्पादन द्वारा स्थानीय क्षेत्रों की ही आवश्यकता पूर्ण नहीं होती वरन् संसार के अन्य मुल्कों की भी आवश्यकता हेतु वस्तुएँ निर्मित हो जाती हैं।

(3) **संगठित व्यापारिक संगठन** (Organised Commercial Organisation)–बड़े पैमाने पर उत्पादन के द्वारा बड़े-बड़े व्यापारिक संगठनों का गठन होता है और इनके द्वारा देश-विदेश में निर्मित वस्तुओं का व्यापार किया जाता है। इस प्रकार ये व्यापारिक संगठन नगर से लेकर प्रान्त, प्रान्त से लेकर देश और देश से लेकर सम्पूर्ण दुनिया के व्यापारिक सम्बन्धों को प्रभावित व नियमित करते हैं।

(4) **श्रम विभाजन और विशेषीकरण** (Division of Labour and Specilisation)–श्रम विभाजन और विशेषीकरण की संस्थाएँ पूँजीवाद में आधारभूत हैं और इनका रूप विशेष स्पष्ट होता है। श्रम विभाजन व विशेषीकरण के विकसित रूप द्वारा ही अधिक उत्पादन के द्वारा अधिकतम लाभ कमाया जाता है।

नोट

(5) **प्रतिस्पर्धा** (Competition)–प्रतिस्पर्धा भी पूँजीवाद की कम महत्त्वपूर्ण संस्था नहीं है। व्यापार की अवस्था संगठित होने के कारण प्रतिस्पर्धा विभिन्न व्यापारिक क्षेत्रों की सामान्य बात है। इस प्रतिस्पर्धा का बुरा असर मजदूरों पर पड़ता है और कभी-कभी मन्दी में उन्हें खाली बैठा रहना पड़ता है।

(6) **बैंकिग संस्थाएँ** (Banking Institutions)–बैंकिग संस्थाएँ पूँजीवाद का मूलाधार है। व्यापार का सब कार्य बैंकों के द्वारा ही होता है। इस प्रकार व्यापारिक क्षेत्र में निश्चिन्तता व सुविधायें प्राप्त होती रहती हैं। बैंक 'साख' (Credit) के आधार पर भी व्यापारिक क्रम को बनाये रखते हैं।

(7) **बड़े-बड़े कॉरपोरेशन** (Big Corporations)–पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में बड़े-बड़े कॉरपोरेशन का गठन होता है जिसमें अनेक पूँजीपति अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार पूँजी लगाते हैं और व्यापारिक क्षेत्र में एकाधिकार अथवा अधिक से अधिक सफलता प्राप्त करते है। इस प्रकार के बड़े-बड़े कॉरपोरेशन देश-विदेश में फैले रहते हैं।

(8) **नगद मजदूरी व्यवस्था** (Cash Wage System)–नगद मजदूरी व्यवस्था पूँजीवाद की ऐसी देन है जिसके द्वारा मजदूरों के श्रम का मूल्य मुद्रा के रूप में भुगतान किया जाता है। इस नगद मजदूरी व्यवस्था का पूँजीपति फायदा उठाते हैं और मजदूरों से कम से कम पैसे पर अधिक से अधिक काम लेते हैं। यह मजदूरों के शोषण की व्यवस्था है।

(9) **वर्ग संघर्ष** (Class Conflict)–मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष को ही पूँजीवाद की सबसे प्रमुख संस्था माना है। इनके अनुसार वर्ग-संघर्ष का कटु रूप पूँजीवाद में देखने को मिलता है, मजदूरों का शोषण होता है और उनकी हालत बद से बदतर होती चली जाती है।

(10) **श्रमिक व मालिक संध** (Labour and Employers Union)–पूँजीवाद की अर्थव्यवस्था में श्रमिक व मालिकों के व्यवस्थित संघ निर्मित होते हैं। इन वर्गों के द्वारा ये दोनों अपने हितों की सुरक्षा का प्रबन्ध करते रहते हैं। भारतीय समाज में भी इस प्रकार के अनेक संगठन व संघ हैं।

(11) **ठेकेदारी व्यवस्था** (Contract System)–ठेकेदारी व्यवस्था के द्वारा कम-से-कम समय में और कम धन में विभिन्न आर्थिक कार्यों को सम्पादित किया जाता है। इसके द्वारा अधिक से अधिक लाभ कमाया जा सकता है।

(12) **दलाली की संस्था** (Institution of Middlemanship)–दलाली की संस्था के द्वारा विक्रेताओं और खरीदारों के मध्य एक व्यवस्थित ताल-मेल स्थापित किया जा सकता है, क्योंकि इसके अभाव में व्यापार में नियमन नहीं लाया जा सकता।

इस प्रकार स्पष्ट है कि औद्योगिक युग में आर्थिक संरचना का रूप पूँजीवाद की अर्थव्यवस्था द्वारा उत्पन्न व्यवस्था पर निर्भर करता है। ये विभिन्न संस्थायें अपने-अपने प्रकार्यात्मक सम्बन्धों के आधार पर आर्थिक संरचना का निर्माण करती हैं। इस प्रकार आर्थिक संरचना का मुख्य रूप वर्ग-संघर्ष, प्रतियोगिता आदि के रूप में देखने को मिलता है।

टास्क पूँजीवाद की आर्थिक संस्थाएँ और आर्थिक संरचना क्या है? संक्षेप में वर्णन करें।

17.3 पूँजीवाद के सामाजिक प्रभाव या परिणाम (Social Consequences of Capitalism)

भारतीय समाज में पूँजीवाद के निम्नलिखित प्रभाव या परिणाम मुख्य रूप से देखने को मिलते हैं–

(1) **वर्ग संघर्ष का उग्र रूप** (Ultimate form of class struggle)–पूँजीवाद में मजदूरों के श्रम को खरीदा जाता है, लाचार होकर मजदूर अपने श्रम को पूँजीपति के हाथ बेचते हैं और पूँजीपति इस लाचारी का

नोट

अधिक से अधिक फायदा उठाता है। इस प्रकार दोनों वर्गों में एक दूसरे के प्रति संघर्ष की स्थिति बनी रहती है जो स्वस्थ्य समाजिक स्वयवस्था के अनुकूल नहीं है।

(2) **धन का असमान वितरण** (Unequal distribution of wealth)–पूँजीवाद असमानता के सिद्धान्त पर आधारित है, क्योंकि मेहनत न करने वाला वर्ग-पूँजीपति सम्पूर्ण साधनों का मालिक होता है और अपनी आवश्यकताओं को बड़े मजे में पूरा करता है। दूसरी ओर मजदूर वर्ग अपनी व अपने आश्रितों की जरूरी आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर पाता। अत: यह व्यवस्था समाजवाद के प्रतिकूल है।

(3) **श्रमिकों की हालत बद से बदतर** (Position of labour from bad to worst)–श्रमिकों की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी न होने के कारण, इनकी हालत बद से बदतर होती जाती है।

(4) **द्वैतीयक सम्बन्धों की प्रबलता** (Strong hold of secondary relations)–पूँजीवाद में पैसा ही सब कुछ होने के कारण व्यक्ति पैसे की धुन में इतना मगन रहता है कि उसे दूसरों की चिन्ता नहीं रहती। इस प्रकार वैयक्तिक सम्बन्धों के स्थान पर ऊपरी या द्वैतीयक सम्बन्ध अधिक प्रबल रूप में पाये जाते हैं।

(5) **जीवन स्तर में वृद्धि** (Rise in standard of living)–धन कमाने के अधिक अवसर प्राप्त होने के कारण व्यक्तियों की अर्थव्यवस्था बदलती है, परिणामस्वरूप जीवन का स्तर ऊँचा हो जाता है।

(6) **स्त्रियों की आर्थिक स्वतंत्रता** (Economic freedom of women)–पूँजीवादी व्यवस्था में आर्थिक जीवन में स्त्रियाँ भी पुरुषों की भाँति साथ-साथ कार्य करती हैं। परिणामस्वरूप आर्थिक जीवन क्षेत्र में आत्म-निर्भरता व स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेती हैं।

(7) **कुटीर उद्योग धन्धों का पतन** (Decline of cottage industries)–बड़े पैमाने पर मशीनों के द्वारा पूँजीवाद अर्थव्यवस्था में कुटीर उद्योग धन्धों का टिकना सम्भव नहीं हो पाता। भारत में भी छोटे-छोटे धन्धे नष्ट होते जा रहे हैं।

(8) **आर्थिक संकट** (Economic crisis)–बड़े पैमाने पर उत्पादन हाने के कारण व्यापारिक क्षेत्र में मन्दी व तेजी की लहरें आती रहती हैं। मन्द आने पर श्रमिक खाली बैठे रहते हैं, परिणामस्वरूप आर्थिक संकट जैसी स्थिति बनी रहती है।

(9) **मानसिक संघर्षों में वृद्धि** (Rise in mental tension)–पूँजीवाद में व्यक्ति की स्थिति अनिश्चित रहती है और पैसे का बोलबाला होता हैं। अत: ऐसी स्थिति में मानसिक संघर्षों का बढ़ जाना स्वाभाविक ही है। अपने देश भारत में ही औद्योगिक नगरों में सैकड़ों श्रमिक मानसिक संघर्षों के कारण आत्महत्याएँ कर लेते हैं।

(10) **हड़ताले व तालाबन्दी** (Strikes and lockout)–पूँजीवाद में अनेक औद्योगिक समस्याएँ पनपती रहती हैं जिसके कारण हड़ताले व तालाबन्दी साधारण-सी होती जा रही हैं।

(11) **अपराधों की ऊँची दर** (High rate of crime)–पूँजीवाद द्वारा उत्पन्न नवीन परिस्थितियों में सामाजिक गतिशीलता और स्त्रियों व पुरुषों का साथ-साथ रहना सामान्य बात होती जा रही है और परिणामस्वरूप विभिन्न प्रकार के अपराधों–आत्महत्या, वेश्यावृत्ति, चोरी, धोखाधड़ी आदि में काफी वृद्धि हो गई है।

(12) **बेकारी** (Unemployment)–पूँजीवाद जहाँ एक ओर धनिक होने के अनगिनत अवसर प्रदान करता है, वहाँ दूसरी ओर नयी-नयी मशीनों के आ जाने के कारण बेकारी को भी बढ़ाता है। इस प्रकार यह स्वस्थ सामाजिक जीवन के प्रतिकूल परिस्थिति है।

(13) **गन्दी बस्तियों का पनपना** (Growth of slums)–पूँजीवाद के द्वारा औद्योगिक नगरों की जनसंख्या तीव्रता से बढ़ती जा रही है। मजदूरों के रहने के लिये मकानों की अत्यधिक कमी है। बम्बई की चला, कलकत्ता की बस्ती और मद्रास की चेरी जो मजदूरों के रहने की बस्तियाँ हैं, मानवीय सभ्यता का जीता-जागता नरक हैं। इन बस्तियों में एक-एक कमरे में 3, 4 श्रमिक परिवार एक साथ रहते हैं। यह अंधेरी बस्ती का अंधेरा कमरा ही श्रमिकों की दुनिया व संचार है। अत: ऐसी स्थिति में अनेकों बीमारियाँ, सामाजिक दोष आदि पनपने का भय बना रहता है।

नोट

(14) **सामाजिक क्रान्ति** (Social revolution)–कार्ल मार्क्स महोदय ने सामाजिक क्रान्ति को पूँजीवाद का अन्तिम व प्रत्यक्ष परिणाम माना है। वस्तुतः असन्तोष सहने की एक सीमा होती है और जब असन्तोष तीव्र रूप में मजदूरों में फैले जाता है तो सामाजिक क्रान्ति चौराहे पर खड़ी होती है। कार्ल मार्क्स ने स्वयं लिखा है, "क्रान्ति उस माँ की प्रसव पीड़ा के समान होती है जो नये बच्चे को जन्म देने वाली है, क्योंकि क्रान्ति के बाद नयी सामाजिक व्यवस्था का उदय होता है।"

(15) **सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन** (Change in social structure)–पूँजीवाद का सबसे अन्तिम व प्रमुख परिणाम सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन होना है। पूँजीवाद द्वारा उत्पन्न नवीन परिस्थितियों का प्रभाव सामाजिक ढाँचे पर पड़ना स्वाभाविक है। यही कारण है, औद्योगिक नगर से लेकर देहात तक के जीवन में स्त्री और पुरुष की स्थितियाँ व कार्य अनिश्चित व परिवर्तित हो गये हैं। इसके परिणामस्वरूप सामाजिक ढाँचे का रूप भी बदलता जा रहा है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. बड़े पैमाने पर मशीनों के द्वारा ..... में कुटीर उद्योग धन्धों का टिकना संभव नहीं हो पाता।
2. बड़े पैमाने पर उत्पादन होने के कारण ..... में मंदी व तेजी की लहरें आती रहती हैं।
3. पूँजीवाद में व्यक्ति की स्थिति ..... रहती है और पैसे का बोलबाला होता है।

17.4 समाजवाद (Socialism)

आधुनिक आर्थिक प्रणाली का एक अन्य प्रमुख प्रकार समाजवाद है। समाजवाद का जन्म पूंजीवाद एवं व्यक्तिगत सम्पत्ति की बुराइयों के विरोध में हुआ। यह श्रमिकों के संगठन पर जोर देता है। समाजवादी व्यक्तिगत सम्पत्ति के विरोधी हैं और वे उत्पादन के साधनों एवं यातायात के साधनों पर राष्ट्र का स्वामित्व चाहते हैं। प्राचीन एवं मध्यकाल के विचारकों जैसे, प्लेटो, सेंट साइमन, थामस मूर, आदि की रचनाओं में भी समाजवाद के तत्व पाए जाते हैं, किन्तु वर्तमान समय में समाजवाद पर वैज्ञानिक विचार प्रकट करने वालों में कार्ल मार्क्स प्रमुख हैं। विभिन्न विद्वानों ने समाजवाद को इस प्रकार से परिभाषित किया हैं:

ब्रेडले के अनुसार, "समाजवाद वैयक्तिक निजी सम्पत्ति को अस्वीकार करता है और यह मानता है कि राज्य के रूप में संगठित समाज को सम्पूर्ण धन का स्वामी होना चाहिए तथा उसे समस्त श्रम का संचालन एवं समस्त उत्पत्ति का समान वितरण लागू करना चाहिए।"

सेलर्स (Sellers) के अनुसार, "समाजवाद एक ऐसी जनतन्त्रात्मक विचारधारा है जिसका उद्देश्य समाज में एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था लाना है जो किसी भी समय व्यक्ति को अधिकतम सम्भव न्याय और स्वीधीनता प्रदान कर सके।"

नोट्स

रेम्जे मैकडानल्ड के अनुसार, "साधारण रूप से समाजवाद की अच्छी परिभाषा यह है कि समाज की भौतिक एवं आर्थिक शक्तियों के संगठन तथा उन पर मानवीय शक्तियों के नियन्त्रण की व्यवस्था है।"

जयप्रकाश नारायण के अनुसार, "समाजवादी समाज एक वर्गहीन तथा मजदूरों का समाज है। इसमें सम्पूर्ण सम्पत्ति राज्य की सम्पत्ति होती हैं और सबके लाभ के लिए होती है। इसमें मनुष्यों की आय में अधिक विषमता नहीं होती। ऐसे समाज में मानव जीवन तथा उसकी प्रगति योजनाबद्ध रूप में होगी और सब लोग सबके हित के लिए जीएंगे।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से समाजवाद के कुल मूलभूत तत्वों का पता चलता है जिस पर सभी समाजवादी सहमत हैं। वे तत्व हैं–(*i*) वैयक्तिक सम्पत्ति का अन्त, (*ii*) उत्पादन एवं वितरण के साधनों पर समाज का नियन्त्रण,

(*iii*) शोषण का अन्त, (*iv*) वर्ग भेद की समाप्ति। इनके आधार पर समाजवाद की कुछ प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है।

नोट

17.5 समाजवाद की विशेषताएँ (Characteristics of Socialism)

(1) समाजवाद में व्यक्ति एवं वैयक्तिक स्वार्थ की अपेक्षा समाज और सामूहिक हित को अधिक महत्त्व दिया जाता है।

(2) समाजवादी उत्पादन एवं संचार के साधनों पर समाज अथवा राज्य का नियन्त्रण चाहते हैं।

(3) समाजवाद प्रतियोगिता एवं संघर्ष के स्थान पर सहयोग पर अधिक जोर देता है। वह राष्ट्रीय एवं अन्तराष्ट्रीय सहयोग तथा श्रमिकों एवं पूँजीपतियों के पारस्परिक सहयोग पर जोर देता है।

(4) समाजवाद में शोषण की समाप्ति पर जोर दिया जाता है।

(5) समाजवाद व्यक्तिगत लाभ के स्थान पर सामूहिक लाभ पर जोर देता है।

(6) समाजवाद गरीब एवं अमीर के बीच खाई के पाटकर आर्थिक समानता लाना तथा विषमता कम करना चाहता है।

(7) समाजवाद देश में धन का न्यायोचित वितरण चाहता है।

17.6 समाजवाद के प्रकार (Types of Socialism)

समाजवाद के आज अनेक रूप देखने को मिलते हैं। हर देश ने अपनी सुविधा के अनुसार उसमें परिवर्तन कर अपने ही ढंग से समाजवाद की व्याख्या की है।

क्या आप जानते हैं **सी. एम. जोड** कहते हैं, समाजवाद एक ऐसे टोप के समान है जिसकी आकृति बिगड़ चुकी है क्योंकि हर व्यक्ति इसे पहनता है

कुछ लोग कहते हैं, समाजवाद गिरगिट की तरह रंग बदलता है, तो कुछ का कहना है कि यह शेषनाग की भांति कई मुंह वाला है। स्पष्ट है कि समाजवाद के आज अनेक रूप पाये जाते हैं, किन्तु इनमें सहकारी समाजवाद, राज्य समाजवाद, मार्क्सवादी समाजवाद, स्वप्नलोकीय समाजवाद, समष्टिवादी समाजवाद, प्रजातान्त्रिक समाजवाद, साम्यवादी समाज, श्रम संघवाद, फेबियनवाद श्रेणी संघवादी समाजवाद, आदि प्रमुख हैं। इनमें से कुछ का हम यहां संक्षेप में उल्लेख करेंगें।

(1) **सहकारी समाजवाद** (Co-operative Socialism)–इस प्रकार के समाजवाद में मजदूर अपनी सहकारी समितियाँ बनाकर उद्योगों का संचालन करते हैं। वे स्वयं उद्योग के मालिक भी होते हैं और मजदूर भी। इस प्रकार का समाजवाद स्केण्डिनेविया में पाया जाता है।

(2) **राज्य समाजवाद** (State Socialism)–इसमें राज्य को बुराई के रूप में नहीं मानकर उत्तम वितरण की व्यवस्था करने वाली संस्था माना जाता है। इसमें उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाता है, राज्य को एक कल्याणकारी संस्था माना जाता है, व्यक्ति को राज्य के एक अंग के रूप में स्वीकार किया जाता है। यह प्रजातन्त्र में विश्वास करता है, स्वतन्त्रता एवं समानता में विश्वास करता है और समाज का आधार वर्ग-संघर्ष नहीं वरन् वर्ग-सहयोग मानता है।

(3) **फेबियनवाद** (Fabianism)–फेबियनवादी समाजवाद को धीरे-धीरे एवं प्रजातन्त्रीय ढंग से लाने में विश्वास करते हैं। वे क्रान्ति एवं रक्तपात में विश्वास नहीं करते। फेबियनवाद का उद्देश्य भूमि और उद्योग में होने वाले मुनाफे का लाभ समस्त समाज को पहुंचाना है। इसके लिए फेबियनवादी कई उपाय अपनाने का सुझाव देते हैं, जैसे–(*i*) काम के घण्टे, बेकारी, बीमारी, न्यूनतम मजदूरी, सफाई व सुरक्षा से सम्बन्धित

नोट

कानून बनाना; (*ii*) सार्वजनिक वस्तुओं पर सरकार का नियन्त्रण स्थापित करना; (*iii*) उत्तराधिकार में प्राप्त होने वाली सम्पत्ति पर कर लगाना, आदि।

(4) **प्रजातान्त्रिक समाजवाद** (Democratic Socialism)–इसे विकासवादी समाजवाद भी कहा जाता है। भारत में इसी पद्धति को अपनाया गया है। यह पूंजीवाद के स्थान पर समाजवाद की स्थापना के लिए बल और हिंसा के प्रयोग को अनुचित मानता है। यह इनके स्थान पर शान्तिपूर्ण एवं संवैधांनिक तरीकों को अपनाने पर बल देता है।

(5) **श्रम-संघवाद** (Syndicalism)–श्रम-सघंवाद को परिभाषित करते हुए ह्यूवर लिखते हैं, "वर्तमान युग में श्रम-सघंवाद से अभिप्राय उन क्रान्तिकारियों के सिद्धान्तों और कार्यक्रमों से है जो पूंजीवाद को नष्ट करने तथा समाजवादी समाज की स्थापना करने के लिए औद्योगिक संघों की आर्थिक शक्ति का प्रयोग करना चाहते हैं।" श्रम-संघवादी राज्य के विरुद्ध हैं क्योंकि वे राज्य को पूंजीपतियों का मित्र एवं श्रमिकों का विरोधी मानते हैं। ये लोग संघर्ष एवं क्रान्ति में विश्वास करते हैं और प्रजातन्त्र के विरोधी हैं। ये राज्य समाजवाद के पक्ष में नहीं हैं।

(6) **श्रेणी समाजवाद** (Guild Socialism)–श्रेणी समाजवादी पूँजीवादी के विरुद्ध हैं। ये समूह तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता के महत्त्व पर जोर देते हैं तथा उद्योगों में स्वशासन चाहते हैं। ये उत्पादन का प्रबन्ध और नियन्त्रण राज्य द्वारा नहीं चाहते। ये स्थानीय स्तर पर कम्यून स्थापित करना चाहते हैं जिनमें उत्पादकों एवं उपभोक्ताओं का प्रतिनिधित्व हो।

17.7 मिश्रित अर्थव्यवस्था (Mixed Economy)

भारतीय अर्थव्यवस्था एक मिश्रित अर्थव्यवस्था है (भारतीय अर्थव्यवस्था में दो बातें अर्थात् सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार और अर्थिक आयोजन, ऐसी हैं कि यहाँ की अर्थव्यवस्था पश्चिमी देशों के विकास की शुरू की अवस्था में उनकी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था से भिन्न जो जाती है। दरअसल भारत की अर्थव्यवस्था में सर्वजनिक क्षेत्र की मौजूदगी और आर्थिक आयोजन की व्यवस्था के कारण ही यहां की अर्थव्यवस्था को मिश्रित अर्थव्यवस्था कहा जाता है।) हम अब अर्थव्यवस्था के उन सभी लक्षणों पर विचार करेंगे जिनके कारण यहां की अर्थव्यवस्था को मिश्रित अर्थव्यवस्था कहा जाता है।

(1) **लाभ प्रेरित वस्तु उत्पादन** (Profit induced commodity production)–भारत में आज उत्पादन मुख्य रूप से बिक्री के लिए किया जाता है। उत्पादन के मोटे रूप से दो क्षेत्र हैं। प्रथम, औद्योगिक क्षेत्र, और द्वितीय, कृषि क्षेत्र। औद्योगिक क्षेत्र में बड़े पैमाने पर उत्पादन करने वाले सभी कारखाने बाजार में बिक्री के उद्देश्य से उत्पादन करते हैं। बिजली से चलने वाली मशीनों की सहायता से छोटी-छोटी फैक्टरियों में भी बिक्री के उद्देश्य से ही उत्पादन किया जाता है। कपड़ा लोहा, चीनी, कागज, साबुन कोई भी वस्तु क्यों न हो उसका उत्पादन बाजार में बिक्री के उद्देश्य से ही किया जाता है। कृषि क्षेत्र में निश्चय ही खाद्यान्नों के उत्पादन का बड़ा अंश बिक्री के लिए नहीं होता। बड़ी संख्या में किसान, जिनके पास बहुत थोड़ी जमीन है, बिक्री के उद्देश्य से कृषि पदार्थो का उत्पादन नहीं करते। लेकिन बड़े किसान अपने उत्पादन का बड़ा भाग बाजार में बेचते हैं। नकदी फसलें (cash crops) जैसे कपास, जूट, तिलहन, गन्ना, तम्बाकू इत्यादि तो पूरी तरह बिक्री के उद्देश्य से ही उगाई जाती हैं। किसान बाजार में प्रचलित कीमतों के अनुरूप ही फसलों में फेरबदल करते हैं। संक्षेप में, भारत में न केवल औद्योगिक क्षेत्र में बल्कि व्यापक स्तर पर कृषि में वस्तु उत्पादन (commodity production) होने लगा है।

नोट्स वस्तु उत्पादन' पूँजीवाद का विशिष्ट लक्षण होता है। भारत में व्यापक-स्तर पर वस्तु-उत्पादन से यहाँ की अर्थव्यवस्था का पूँजीवाद स्वरूप स्पष्ट होता है।

नोट

(2) **उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व** (Private ownership of the means of production)–भारत में संपत्ति और उत्पादन के साधनों पर लोगों का निजी अधिकार है। यहाँ तक कि 1988 में 221 औद्योगिक इकाइयों को छोड़कर सभी औद्योगिक प्रतिष्ठानों पर पूँजीपतियों का अधिकार था। भारत के कुछ बुनियादी उद्योगों (basic industries) को छोड़कर सभी उद्योग निजी क्षेत्र में हैं। सूती वस्त्र, जूट, कागज, सीमेंट, चीनी, वनस्पति घी, चमड़ा, साबुन, दियासलाई इत्यादि आवश्यकता की सभी चीजों का उत्पादन करने वाले कारखाने निजी क्षेत्र में ही हैं। सड़क परिवहन के क्षेत्र में लगभग सभी ट्रक और अधिकांश बसें निजी स्वामित्व में हैं। कृषि के लिए इस्तेमाल की जाने वाली भूमि भी निजी स्वामित्व में है। उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व और उनका व्यक्तिगत लाभ के लिए प्रयोग की स्वतन्त्रता इस बात का प्रमाण है कि उत्पादन के संबंध मूल रूप से पूँजीवादी हैं। लेकिन ग्रामीण क्षेत्र में जमींदारी उन्मूलन कानून बन जाने के बाद भी अनेक क्षेत्रो में बड़ी संख्या में जमींदार मौजूद हैं। ये स्वयं अपनी भूमि पर खेती नहीं करते और लगान पर काश्तकारों को जमीन देते हैं। अनेक जमींदार और बड़े किसान खेतिहर मजदूरों की सहायता से उत्पादन करते हैं। कृषि क्षेत्र में दरअसल औद्योगिक क्षेत्र की तरह उत्पादन संबंध पूरी तरह पूँजीवादी नहीं हैं।

(3) **श्रम-शक्ति का वस्तु में रूपांतरण** (Transformation of labour power into a commodity)–भारत में बड़े पैमाने पर उद्योगों का विकास पिछले 125 वर्षों में ही हुआ है। उससे पहले शहरी और ग्रामीण दस्तकार तथा शिल्पी छोटे पैमाने पर विभिन्न प्रकार की वस्तुएं तैयार करते थे। प्रायः कारीगरों के औजार अपने होते थे। वे शहर के व्यापारियों से कच्चा माल खरीदते या उधार लेते थे। इस प्रकार अपने श्रम से दस्तकार जो भी माल तैयार करते थे उस पर उनका स्वामित्व होता था। उस समय आज की तरह श्रम-शक्ति वस्तु के रूप में खरीदी-बेची नहीं जाती थी। इस समय भारत में सभी प्रकार की सेवाओं के लिए बाजार हैं। विभिन्न उद्योगों में काम करने वाले कुशल तथा अकुशल श्रमिकों की सेवाओं को मजदूरी के बदले में उद्योगपति खरीदते हैं। अब भारत में औद्योगिक क्षेत्र में वास्तविक उत्पादन करने वाला मजदूर पूरी तरह से उत्पादन के साधनों से वंचित हो गया है। उसके अधिकार में अब उसकी श्रम-शक्ति ही है जिसे बेचकर उसके लिए जीवन निर्वाह कर पाना संभव है। अमेरिका और पश्चिमी यूरोप के पूंजीवादी देशों की भाँति ही भारत में सफेदपोश शिक्षित लोगों की श्रम-शक्ति के बाजार हैं। कारखानों, बैंकों, बीमा कंपनियों आदि में क्लर्क, टाइपिस्ट तथा दूसरे कर्मचारियों को उसी प्रकार रोजगार में लगाया जाता है जिस प्रकार हाथ से काम करने वाले श्रमजीवी कारखानों में काम पाते हैं।

(4) **सार्वजनिक क्षेत्र** (Public sector)–भारतीय अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र का स्थान काफी महत्त्वपूर्ण है। 1951 में आर्थिक नियोजन की प्रक्रिया प्रारंभ होने के समय औद्योगिक क्षेत्र में केवल 5 इकाइयां सार्वजनिक क्षेत्र में थीं और इनमें केवल 29 करोड़ रुपये की पूंजी लगी हुई थी। इसकी तुलना में 1988 में सार्वजनिक क्षेत्र में 221 औद्योगिक इकाइयों में 58,125 करोड़ की पूँजी का निवेश था। इसके अलावा सरकार के विभिन्न विभागीय उपक्रमों में भी पूँजी का निवेश था। राज्य सरकारों के उद्यमों में भी काफी पूँजी का निवेश है। बैंक तथा दूसरे वित्तीय संस्थानों में भारी निवेश अलग हैं। संक्षेप में, आज भारत के आर्थिक ढांचे में सार्वजनिक क्षेत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। संपूर्ण आयोजन काल में विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत समस्त निवेश का 55 प्रतिशत सार्वजनिक क्षेत्र में और शेष निजी क्षेत्र में रहा है। अनेक लोगों को सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार समाजवाद की दिशा में कदम दिखाई देता है। दरअसल जब तक संपत्ति के निजी स्वामित्व को बनाए रखा जाता है और उत्पादन के साधनों को निजी लाभ के लिए इस्तेमाल की स्वतन्त्रता होती है तब तक सार्वजनिक क्षेत्र की स्थापना द्वारा उत्पादन के मूल संबंधो में कोई परिवर्तन नहीं होता और अर्थव्यवस्था मिश्रित पूंजीवादी कहलाती है।

भारत की मुख्य रूप से पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र की मौजूदगी कोई नया प्रयोग नहीं है। पश्चिम के अनेक पूंजीवादी देशों में भी समय-समय पर राज्य ने वहां के आर्थिक जीवन में न केवल हस्तक्षेप किया है बल्कि उत्पादन और वितरण संबंधी कार्यों को भी किया है। विशेष रूप से उन देशों में

नोट

जहां पर औद्योगीकरण की प्रक्रिया देर से शुरू हुई, वहां पर आर्थिक विकास के क्षेत्र में राज्य की भूमिका काफी उल्लेखनीय रही है। जर्मनी, संयुक्त राज्य अमेरिका और जापान में औद्योगीकरण में राज्य का योगदान कम नहीं रहा हैं। अत: किसी देश के आर्थिक विकास की दिशा में राज्य द्वारा पहल और वहाँ पर सार्वजनिक क्षेत्र की उपस्थिति इस बात के प्रमाण नहीं माने जा सकते कि उस देश की अर्थव्यवस्था समाजवादी है। इससे अर्थव्यवस्था का स्वरूप बस मिश्रित पूंजीवादी बन जाता है।

(5) **आर्थिक आयोजन** (Economic planning)–आर्थिक आयोजन इस समय भारतीय अर्थव्यवस्था की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। चूंकि सबसे पहले रूस में, जो एक समाजवादी देश है, आर्थिक आयोजन को अपनाया गया था और तब से सभी समाजवादी देशों में अर्थव्यवस्था का संचालन निश्चित योजनाओं के अनुसार हो रहा है, इसलिए बहुत सारे लोग आर्थिक आयोजन और समाजवाद को एक ही चीज समझने की भूल कर बैठते हैं। इसमें संदेह नहीं है कि समाजवादी अर्थव्यवस्था में आर्थिक आयोजन होना आवश्यक है लेकिन चूंकि किसी देश ने आर्थिक आयोजन को अपना लिया है इसलिए वहां की अर्थव्यवस्था समाजवादी हो यह जरूरी नहीं है। कोई भी देश मूल रूप से पूंजीवादी अर्थप्रणाली के भीतर आर्थिक आयोजन को अपना सकता है। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि पूंजीवादी और समाजवादी देशों की योजनाओं और आयोजन-पद्धति में भारी अंतर होता है।

1944 में भारत के कुछ बड़े उद्योगपतियों ने आर्थिक विकास की एक कागजी योजना तैयार की थी। इसे बंबई योजना (Bombay Plan) के नाम से जाना जाता है। इस योजना में जहाँ यह कहा गया है कि "भविष्य में आर्थिक ढांचे में स्वतंत्र उद्यम की व्यवस्था होनी चाहिए" वहां इसके साथ-साथ यह भी कहा गया था कि "बड़े पैमाने पर आर्थिक आयोजन में राज्य के रचनात्मक कार्यों के साथ-साथ निषेधात्मक (restrictive) कार्यों का विस्तार आवश्यक है।" बंबई योजना यद्यपि लागू नहीं हुई लेकिन इसने स्वतंत्रता के बाद आर्थिक आयोजन के स्वरूप को प्रभावित अवश्य किया है।

भारतीय योजनाओं में समाजवादी देशों की योजनाओं की भांति अनिवार्यता का लक्षण नहीं है। समाजवादी देशों की योजनाओं में निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रशासन की ओर से हर संभव उपाय किया जाता है। भारतीय योजनाओं में ऐसी बात नहीं है। भारत की पंचवर्षीय योजनाओं में प्राय: उन अनेक क्षेत्रों के लिए लक्ष्य निर्धारित किए जाते हैं जिन पर सरकार का विशेष नियंत्रण नहीं होता। उदाहरण के लिए संपूर्ण कृषि निजी क्षेत्र में है। सरकार अधिक-से-अधिक सिंचाई के साधन, उर्वरक, अच्छी किस्म के बीज तथा साख की व्यवस्था कर और कृषि उत्पादों के लिए न्यूनतम समर्थन कीमतें (support prices) निर्धारित कर कृषि उत्पादन को प्रोत्साहन दे सकती है, लेकिन इनसे उत्पादन संबंधी लक्ष्यों को निश्चित रूप से प्राप्त नहीं किया जा सकता है। भारत में प्राय: योजना विशेष के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रशासन द्वारा जिन रीतियों को अपनाया जाता है वे योजना में तय की गई रीतियों से काफी भिन्न हो सकती हैं।

(6) **बाजार-तंत्र द्वारा आर्थिक क्रियाओं का निर्देशन** (Direction to economic activities by the market mechanism)–भारतीय अर्थव्यवस्था में बाजार-तंत्र बहुत प्रभावशाली है। यहां वस्तुओं के अलावा उत्पादन के साधनों जैसे श्रम और पूंजी के पर्याप्त रूप से संगठित बाजार हैं। वस्तु बाजारों में अधिकांश चीजों की कीमतें मांग और पूर्ति की शक्तियों के बीच संतुलन द्वारा निर्धारित होती हैं। विभिन्न वस्तुओं की कीमतों के स्तर, उनमें समय-समय पर हाने वाले परिवर्तन और भविष्य में कीमत परिवर्तन की संभावनाएं ही उद्यमकर्ताओं के उत्पादन संबंधी निर्णयों को प्रभावित करती हैं। उत्पादन के साधनों के बाजारों में निर्धारित होने वाली कीमतों से ही प्राय: इस देश में उत्पादन के तकनीक निर्धारित होते हैं। भारत में मुद्रा बाजार में विविध प्रकार की वित्तिय संस्थाएं हैं। यद्यपि देश के सभी बड़े बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो गया है लेकिन उनकी कार्यप्रणाली, उनके निजी क्षेत्र के उत्पादकों के साथ व्यापारिक संबंध बाजार-तंत्र के नियमों के अनुसार ही निर्धारित होते हैं। कहने का अर्थ यह है कि मुद्रा बाजार में ब्याज की दर उत्पादन के क्षेत्र में निवेश की मात्रा और स्वरूप को निर्धारित करती है। इसी प्रकार शेयर बाजार में विभिन्न कम्पनियों के

नोट

शेयरों की कीमतों में होने वाले परिवर्तन यह निश्चित करते हैं कि कौन-सी कम्पनियां अपने विस्तार के लिए आसानी से अंश पूंजी (share capital) प्राप्त कर सकती हैं।

लेकिन बाजार तंत्र पर सरकार का कई तरह का नियंत्रण है। 1951 में औद्योगिक (विकास एवं नियमन) एक्ट में औद्योगिक विकास प्रणाली का ढांचा तैयार किया गया था। सरकार लाइसेंसिंग प्रणाली को औद्योगिक नियोजन का कारगर यंत्र बनाना चाहती थी। लेकिन ऐसा हुआ नहीं। जगदीश भगवती और पद्मा देसाई अपनी पुस्तक *India: Planning for Industrialisation* में औद्योगिक प्रणाली के विस्तृत विश्लेषण के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भारत में लाइसेंस समिति द्वारा औद्योगिक इकाइयों की स्थापना अथवा उनके विचार आदि के लिए कोई सुनिश्चित आधार अथवा सिद्धांत अपनाया नहीं गया। लाइसेंस समिति का कार्य करने का ढंग तदर्थ (adhoc) रहा है।

बाजार-तंत्र द्वारा दिए जाने वाले निर्देशों को नियंत्रित करने के लिए लाइसेंस प्रणाली के अलावा आयात-नियंत्रण, अनिवार्य वस्तुओं के आभाव के समय उनका उचित मूल्य दुकानों के द्वारा वितरण तथा किसानों को प्रोत्साहन देने के लिए कृषि उत्पादों की समर्थन कीमतों पर सरकार द्वारा खरीद की व्यवस्था की गई है। लेकिन यह महत्त्वपूर्ण है कि ये सभी नियंत्रण एवं प्रोत्साहन रीतियां बाजार-तंत्र के मूल स्वरूप को नहीं बदलतीं। इनका महत्त्व केवल इतना ही हैं कि बाजार-तंत्र द्वारा होने वाले अविवेकी निर्णयों में थोड़ा फेरबदल कर देती हैं।

(7) **एकाधिकारी प्रवृत्तियां** (Monopoly trends)–भारतीय अर्थव्यवस्था में आयोजन काल में तेजी के साथ एकाधिकारी गृहों का विस्तार हुआ है और इससे देश में आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण बढ़ी है। सबसे पहले इस प्रवृत्ति की ओर 1964 में मुहला-नोबिस समिति ने अपनी रिर्पोट में ध्यान आकर्षित किया था। समिति ने रिर्पोट में लिखा था कि "नियोजित अर्थव्यवस्था की कार्य-पद्धति ने भारतीय उद्योग में बड़ी कम्पनियों के विकास में सहायता पहुँचाई है।" एकाधिकार जांच आयोग की रिर्पोट के अनुसार 1963-64 में भारत में 75 बड़े उद्योग गृहों के पास 2,606 करोड़ रुपये की पूंजी थी जो निजी क्षेत्र में समस्त औद्योगिक पूंजी की 44 प्रतिशत थी। तब से देश में एकाधिकारी प्रवृत्तियां और अधिक मजबूत हुई है। इस समय सभी बड़ी कम्पनियाँ या तो भारत के बड़े उद्योग गृहों से संबद्ध हैं या फिर वे बहुराष्ट्रीय निगमों (multinational corporations) की सहायक हैं।

क्या आप जानते हैं भारत में एकाधिकारी तत्व कितने सशक्त हैं इसका अनुमान इस बात से भी हो सकता है कि 1986-87 में 20 उद्योग गृहों में से प्रत्येक की परिसंपत्ति (assest) 454 करोड़ रुपये से अधिक थी और इनमें टाटा के पास 4,948 करोड़ रुपये और बिड़ला के पास 4,770 करोड़ रुपये की परिसंपत्ति थी।

भारत में एकाधिकारी तत्वों का इतना शक्तिशाली होना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि भारत में अर्थप्रणाली का स्वरूप पश्चिम के पूंजीवाद की तरह एकाधिकारी होता जा रहा है।

(8) **कृषि क्षेत्र में पूर्व-पूंजीवादी उत्पादन संबंध** (Pre-capitalist relations of production in agriculture)–जहां भारतीय अर्थव्यवस्था के औद्योगिक क्षेत्र में उत्पादन के संबंध विशुद्ध रूप से पूँजीवादी हैं वहाँ कृषि क्षेत्र में उत्पादन के संबंधों के विषय में निश्चित रूप से कह पाना कठिन है। जहां अनेक लोगों के अनुसार भारतीय कृषि में उत्पादन के संबंध सामंती अथवा अर्द्ध-सामंती है वहां बहुत सारे लोगों के अनुसार कृषि में पूँजीवाद का पर्याप्त विकास हो चुका है। भारत में कृषि क्षेत्र में मुद्रा और वस्तु-उत्पादन का प्रवेश हुआ है। आज हरित क्रान्ति (Green Revolution) के क्षेत्र पंजाब, हरियाणा और पश्चिम उत्तर प्रदेश ही नहीं, देश के और भी बहुत सारे हिस्सों में किसान बिक्री के उद्देश्य से फसल तैयार करते हैं। अब कृषि द्वारा उत्पादित वस्तुओं की पूर्ति उनकी कीमतों से प्रभावित होती है। कृषि क्षेत्र में पूंजीवाद के विकास

नोट

के समर्थन में इन तथ्यों का अक्सर ही जिक्र किया जाता है। इसके अलावा कृषि क्षेत्रों में बड़ी संख्या में खेतिहर मजदूर है। जो फसल की बुआई, कटाई आदि के समय बड़े किसानों के खेतों पर मजदूरी के बदलें में काम करते हैं। खेतिहर मजदूरों के पास जीवन-निर्वाह का अन्य कोई आधार नहीं है। इस दृष्टि से उन्हें प्राय: सर्वहारा (proletariat) की श्रेणी में रखा जाता है। इस वर्ग की कृषि क्षेत्र में मौजूदगी से भी ग्रामीण क्षेत्र में पूंजीवाद के विकास का कुछ लोगों को संदेह होता है।

लेकिन तथ्यों और वैज्ञानिक ढंग से विचार करने पर यह बहुत साफ हो जाता है कि आयोजन काल में किए भूमि सुधारों के बावजूद आज भी कृषि क्षेत्र में उत्पादन संबंध अधिकांश क्षेत्रों में पूर्व-पूंजीवादी (pre-capitalist) ही है। भारत में बड़ी संख्या में गरीब खेतिहर मजदूरों की मौजूदगी इस बात का प्रमाण नहीं है कि भारतीय कृषि में उत्पादन के संबंध पूंजीवादी हैं। उत्सा पटनायक के अनुसार ये पूर्व-पूंजीवादी शोषण के शिकार हैं। आज भी मध्यस्थों की समाप्ति संबंधी कानून बन जाने के बाद कृषि क्षेत्र में भूमि का केन्द्रीकरण है। 10 प्रतिशत लोगों के पास लगभग 56 प्रतिशत भूमि है जबकि नीची श्रेणी में 70 प्रतिशत लोगों के पास 13.8 प्रतिशत भूमि है।

भारतीय अर्थप्रणाली के स्वरूप का निर्धारण करने के लिए हम इसके अलग-अलग लक्षणों के संबंध में विस्तार के साथ कह चुके हैं। हम इन सभी लक्षणों को मिलाकर भारत की अर्थप्रणाली का स्वरूप निश्चित करेंगें। भारतीय अर्थव्यवस्था में पूँजीवादी अर्थप्रणाली के सभी प्रमुख लक्षण देखने को मिलते हैं। इस देश में अधिकांश उत्पादन ने वस्तु उत्पादन (बाजार में बिक्री के उद्देश्य से उत्पादन) का रूप ले लिया है। उत्पादन के साधनों पर प्राय: पूंजीपति वर्ग का अधिकार होता है। जो इनका उपयोग निजी लाभ के लिए करते हैं। श्रम-शक्ति इस देश में दूसरी वस्तुओं की भांति खरीदी-बेची जाती है। पूंजीपति वर्ग मजदूर वर्ग के शोषण से एकत्रित पूंजी के निवेश द्वारा नए-नए उद्योगों की स्थापना और पुरानी औद्योगिक इकाइयों के विस्तार में लगा हुआ है।

भारतीय अर्थव्यवस्था में आर्थिक आयोजन, सार्वजनिक क्षेत्र और सरकारी नियंत्रणों की भूमिका भी हमें ठीक प्रकार समझ लेनी चाहिए। भारत में आर्थिक आयोजन का स्वरूप समाजवादी बिलकुल नहीं है। इस देश में आर्थिक आयोजन को पूँजीवादी ढाँचे के भीतर ही अपनाया गया है। आर्थिक आयोजन को अपनाने का मुख्य कारण यह है कि अल्प-विकसित देशों में अब बाजार-तंत्र की सहायता से विकास की संभावनाएं अधिक नहीं है। दरअसल भारत में राज्य ही सबसे अच्छी तरह संगठित संस्था है इसलिए विकास के पहलू से इसकी भूमिका महत्त्वपूर्ण होना जरूरी है। राज्य की इस भूमिका के कारण ही भारत में पूंजीवाद का स्वरूप पश्चिमी यूरोप के पूंजीवाद से भिन्न है। बीतलहाइम तथा अन्य बहुत सारे अर्थशास्त्री भारत में आर्थिक आयोजन और सरकारी नियंत्रणों के महत्त्व को स्वीकार करते हुए इस देश की अर्थप्रणाली को राज्य पूंजीवाद कहते है लेकिन भारत सरकार और बहुत सारे भारतीय और पश्चिमी अर्थशास्त्री इसे मिश्रित अर्थव्यवस्था कहना पंसद करते हैं।

भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था को निम्नलिखित कारणों से समर्थन मिला–

1. भारत का पूंजीपति वर्ग विदेशी पूंजी की प्रतिस्पर्धा से बचने के लिए उसके आयात पर विभिन्न प्रकार के प्रतिबंधों की मांग करता रहा है। परन्तु इसके साथ-साथ बड़े पैमाने पर आधारभूत आर्थिक संरचना (infrastructure) के निर्माण और बड़े उद्योगों की स्थापना के लिए उसके पास पर्याप्त मात्रा में पूंजी नहीं थी। ऐसी स्थिति में आजादी के फौरन बाद इन क्षेत्रों में सरकार का प्रवेश आवश्यक माना गया।
2. स्वतन्त्रता के समय बचत की दर राष्ट्रीय आय की 5 प्रतिशत थी। पूंजी निर्माण की यह दर प्रति व्यक्ति आय को स्थिर रखने के लिए भी काफी नहीं थी। यदि राष्ट्रीय आय में 5 प्रतिशत और प्रति व्यक्ति आय में लगभग 3 प्रतिशत वृद्धि का लक्ष्य प्राप्त करना है तो बचत और निवेश की दरें राष्ट्रीय आय की लगभग 20 प्रतिशत होनी चाहिए। भारत में इस स्तर पर पूंजी निर्माण का लक्ष्य बिना सरकारी प्रयत्नों के प्राप्त नहीं हो सकता।
3. विकास कार्यों के लिए देश के पास साधन सीमित मात्रा में ही हैं। इनका विवेकपूर्ण प्रयोग होना चाहिए। स्वतंत्र उद्यम प्रणाली (free enterprise economy) में साधनों का पूरी तरह विवेकपूर्ण उपयोग नहीं होता। इसलिए सरकार ने लाइसेंस प्रणाली तथा दूसरे नियंत्रणों के द्वारा उद्योगों की स्थापना तथा उनके विकास का नियमन किया है।

नोट

4. आर्थिक विकास की गति ज्यादा से ज्यादा तेज रखी जा सके, इस उद्देश्य से कीमत नियंत्रण, मजदूरी नियंत्रण, विदेशी व्यापार का नियमन, विदेशी व्यापार विनिमय पर नियंत्रण, राशनिंग द्वारा अनिवार्य आवश्यकता की वस्तुओं के न्यायोचित वितरण की व्यवस्था करना जरूरी होता है।

उपरोक्त सभी कारणों से देश में मिश्रित अर्थव्यवस्था के विकास को भारी समर्थन मिला।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

4. जहाँ भारतीय अर्थव्यवस्था के ..... में उत्पादन के संबंध विशुद्ध रूप में पूँजीवादी हैं वहाँ कृषि क्षेत्र में उत्पादन के संबंधों के विषय में निश्चित रूप से कह पाना कठिन है।
5. ..... में बड़ी मात्रा में गरीब खेतिहर मजदूरों की मौजूदगी इस बात का प्रमाण नहीं है कि भारतीय कृषि में उत्पादन के संबंध पूँजीवादी है।
6. भारतीय अर्थव्यवस्था में आर्थिक आयोजन, सार्वजनिक क्षेत्र और सरकारी ..... की भूमिका भी हमें ठीक प्रकार समझ लेनी चाहिए।

17.8 गाँधीवाद (Gandhian)

गांधीजी ने सत्य (Truth) और अहिंसा (Non-violence) **के सिद्धांतों के आधार पर मानवता को समाज के नव-निर्माण की नई राह दिखाई।** वस्तुत: गांधीजी शुद्ध राजनीति विचारक नहीं थे, बल्कि सच्चे कर्मयोगी थे। वे वर्तमान भारत के राष्ट्र-निर्माता थे, और उन्हें भारतवासी 'राष्ट्र-पिता' अथवा 'बापू' के नाम से याद करते हैं।

क्या आप जानते हैं उनके ऊंचे चरित्र और धार्मिक रुझान को देखकर कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने उन्हें 'महात्मा' के नाम से संबोधित किया, और आज भी वे 'महात्मा गांधी' नाम से लोकप्रिय हैं।

राजनीति को उन्होंने महान् धार्मिक और नैतिक लक्ष्य की सिद्धि के लिए अपनाया। अपनी आत्मकथा 'सत्य के प्रयोग' (My Experiments with Truth) (1929) के अंतर्गत उन्होंने अपने जीवन के अनुभवों को पूरी सच्चाई के साथ व्यक्त किया है। उनके विचार अनेक पुस्तकों, लेखों और प्रवचनों, इत्यादि के रूप में बिखरे पड़े हैं। उन्होंने किसी नए 'वाद' को जन्म नहीं दिया, और स्वयं यह स्वीकार किया कि 'गांधीवाद' नाम की किसी विचारधारा का कोई अस्तित्व नहीं है। कुछ भी हो, राजनीति-चिन्तन के क्षेत्र में गांधीजी के मुख्य-मुख्य सिद्धांतों के समुच्चय को **'गांधीवाद'** के रूप में पहचाना जाता है।

17.9 विकास की दिशा (Direction of Development)

गांधीजी विकास की ऐसी किसी भी अवधारणा के विरुद्ध थे जिसका लक्ष्य भौतिक इच्छाओं को बढ़ाना और उनकी पूर्ति के उपाय ढूंढ़ना हो। वे मनुष्य के चरित्र को इतना उन्नत करना चाहते थे कि वह भौतिक इच्छाओं का दमन करके अपने मन को वश में कर ले। उन्होंने तर्क दिया कि पश्चिम में जब लोग जनसाधारण की दशा सुधारने की बात करते हैं तो उनका लक्ष्य उसके भौतिक जीवन स्तर को उन्नत करना होता है परन्तु मनुष्य का सच्चा जीवन स्तर उसकी अंतरात्मा से निर्धारित होता है; बाह्य परिस्थितियों में कोई भी परिवर्तन करके इसे उन्नत नहीं किया जा सकता। इसके लिए मनुष्य को अपने कर्त्तव्यों का ज्ञान प्राप्त करने और उनका पालन करने की प्रेरणा देनी होगी ताकि वह ईश्वर के निकट पहुंच सके। मनुष्य की भौतिक इच्छाओं को उत्तेजिक करने और उनकी पूर्ति के साधन जुटाने से हम केवल उसे नैतिक पतन के गर्त में धकेल सकते हैं।

नोट

गांधीजी ने यह शिक्षा दी कि **मनुष्य को भौतिक वस्तुओं का उतना ही उपभोग करना चाहिए जितना उसके शरीर को स्वस्थ रखने के लिए अनिवार्य हो।** इससे अधिक की इच्छा मनुष्य को मोह-माया और भ्रम के जाल में फँसा देती है। भौतिक इच्छाएं कभी शांत नहीं होतीं। उनकी तृप्ति का प्रयत्न करने से वे और भी उत्तेजित होती हैं। तरह-तरह के प्रलोभनों के पीछे दौड़ते हुए मनुष्य की संकल्प-शक्ति (Will Power) नष्ट हो जाती है। दूसरी ओर, इच्छाओं को संयत रखने से दो उद्देश्यों की सिद्धि होती हैं–

1. **इससे सामाजिक न्याय को बल मिलता है।** इस धरती पर इतने संसाधन तो हैं जिनसे सबकी अनिवार्य आवश्यकताएं पूरी हो सकें, परन्तु इतने संसाधन नहीं जिनमें किसी की लालसा शांत की जा सके। जब कोई मनुष्य अपनी इच्छाओं पर लगाम नहीं लगाता तो वह धरती पर दुर्लभ संसाधनों का अभव (Scarcity) पैदा कर देता है। इससे दूसरे लोग अपनी न्यूनतम आवश्यकताएँ भी पूरी नहीं कर पाते। धन-सम्पदा का लोभी मनुष्य दूसरों के श्रम के फल को हड़पकर प्रकृति और समाज दोनों को क्षति पहुँचाता है। इनके विपरीत, जो मनुष्य अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण रखता है, वह दूसरों को अपनी अनिवार्य आवश्यकताएं पूरी करने में सहायता देता है, और इस तरह सामाजिक न्याय की सिद्धि में योग देता है। गांधीजी ने यह शिक्षा दी कि मनुष्य को ऐसा कुछ भी ग्रहण नहीं करना चाहिए जो समाज के लाखों-करोड़ो लोगों को सुलभ न हो।
2. दूसरे, **इससे मनुष्य का अपना नैतिक चरित्र उन्नत होता है।** जब कोई मनुष्य अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण स्थापित कर लेता है तब उसकी अंतरात्मा शुद्ध हो जाती है। उसकी दृष्टि में अपने-पराए का अंतर मिट जाता है। वह अपने प्रति और समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का पूरा ज्ञान प्राप्त कर लेता है। आत्मसाक्षात्कार (Self-Realisation) होने पर मनुष्य समाज से कट नहीं जाता, बल्कि अच्छी तरह जुड़ जाता है। उसके मन में अपने सहचरों के प्रति कर्त्तव्य की भावना जाग जाती है जो उसके नैतिक उत्थान में सहायक होती है। अत: मनुष्य के आत्मविश्वास (Self-Development) की साधना सामाजिक विकास (Social Development) में भी योग देती है।

कुल मिलाकर, **गांधीजी ने विकास का जो मार्ग दिखाया, वह मनुष्य के स्वभाव और चरित्र को नए सांचे में ढालने पर बल देता है।** समाज के सदस्यों का चरित्र उन्नत होने पर संपूर्ण समाज एक नए रूप में ढल जाएगा।

17.10 वर्गहीन और राज्यहीन समाज की संकल्पना (Concept of Classless and Stateless Society)

गांधीजी मूलत: नैतिक दार्शनिक (Moral Philosopher) थे। आधुनिक राज्य की प्रकृति के बारे में उन्होंने कोई विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत नहीं किया। भारतवासियों को **सत्य** (Truth) और **अहिंसा** (Non-violence) की शिक्षा देते हुए उन्होंने यह विचार रखा कि अहिंसात्मक समाज में 'राज्य' के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए क्योंकि राज्य की शक्ति और राज्य के कानून हिंसा (Violence) या बल-प्रयोग (Coercion) पर आधारित हैं। राज्य व्यक्ति की वैयक्तिकता (Individuality) का दमन करके सब व्यक्तियों को एक ही सांचे में ढालने के लिए बाध्य करता है। यह स्वावलंबन की भावना को नष्ट करके उसके व्यक्तित्व को कुंठित कर देता है। परन्तु फिर भी राज्य एक आवश्यक बुराई (Necessary Evil) है। मनुष्य सामाजिक प्राणी हैं; उनके सामाजिक जीवन को नियमित करने के लिए राज्य अस्तित्व ज़रूरी है। उत्तम राज्य वह होगा जो कम-से-कम हिंसा और बल-प्रयोग से काम लेकर व्यक्तियों की गतिविधियों को स्वैच्छिक प्रयास (Voluntary Effort) से नियमित होने देगा।

गांधीजी की दृष्टि में आदर्श समाज-व्यवस्था वही हो सकती है जो पूरी तरह अहिंसा पर आधारित हो। जहां हिंसा का विचार ही लुप्त हो जाएगा वहां 'दंड' या 'बल-प्रयोग' (Use of Force) की कोई गुंजाइश नहीं रहेगी। अत: राज्य संस्था की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। दूसरे शब्दों में, गांधीजी के आदर्श समाज में राजनीतिक शक्ति (Political Power) की कोई ज़रूरत नहीं रहेगी। इस दृष्टि से गांधीजी काउंट लियो टॉल्स्ताय (1828-1910) के समान दार्शनिक अराजकतावादी (Philosophical Anarchist) या प्रशांत अराजकतावादी (Pacific Anarchist) है। गांधीजी ने स्वयं टॉल्स्ताय के लेखों को पढ़ा था और वे उनसे प्रभावित भी हुए थे। महर्षि टॉल्स्ताय ने

नोट

विशेष रूप से ज़ार के क्रूर शासन से त्रस्त रूस को–और साधारणतया समस्त यूरोप को–सदाचार का महत्त्व समझाया था और नैतिक मूल्यों के बल पर जीवन को सार्थक करने का रास्ता दिखाया था। उन्होंने भौतिक सुख को निस्सार बताकर संसार को आध्यात्मिक सुख की ओर प्रेरित किया था। ईसा मसीह के उपदेशों का अनुसरण करते हुए टॉल्स्ताय ने मानव मात्र के प्रति प्रेम की शिक्षा दी थी और बुराई का मुकाबला भलाई के साथ करने के सिद्धांत को दोहराया था। इसी आधार पर उन्होंने निजी संपत्ति (Private Property) की संस्था पर प्रहार किया था क्योंकि वह इने-गिने लोगों को दूसरों के परिश्रम के बल पर विलासिता का जीवन बिताने के साधन प्रदान करती है। इसके साथ ही उन्होंने राज्य की समाप्ति का समर्थन भी किया था क्योंकि वह पुलिस और सैन्य शक्ति के बल पर बुराई के नियंत्रण का दावा करता है। गांधीजी ने इस विचार को अपनाते हुए यह तर्क दिया कि राज्य का अंत भी अहिंसात्मक विधि से ही होना चाहिए, अन्यथा अहिंसा के प्रति आस्था निरर्थक हो जाएगी।

क्या आप जानते हैं

दार्शनिक अराजकतावाद (Philosophical Anarchism)–वह सिद्धांत जो नैतिक तर्क के आधार पर राज्य के उन्मूलन का समर्थन करता है। इस सिद्धांत के प्रमुख उन्नायक काउंट लियो टॉल्स्ताय (1828-1910) ने यह तर्क दिया था कि नैतिक शक्ति का स्रोत व्यक्ति की आत्मा में निहित है। इस शक्ति को सार्थक करने में बाहर की सारी संस्थाएं निरर्थक सिद्ध होती हैं। राज्य पुलिस और सैन्य शक्ति के बल पर बुराई से लड़ना चाहता है, और निजी संपत्ति (Private Property) इने-गिने लोगों को दूसरों के परिश्रम के बल पर विलासिता का जीवन बिताने के साधन प्रदान करती है। ये दोनों संस्थाएं नैतिक जीवन के विरुद्ध हैं। इन दोनों को समाप्त करने में ही मानवता का कल्याण है।

गांधीजी के अनुसार राज्य की नींव 'हिंसा' पर टिकी है; अहिंसात्मक समाज में उसका कोई स्थान नहीं हो सकता। टॉल्स्ताय ने सच्चे ईसाई धर्म के आधार पर अपने नैतिक विचार विकसित किए थे; गांधीजी को हिंदू धर्म (सनातन धर्म) में इन्हीं विचारों की प्रतिध्वनि सुनाई दी। परंतु दोनों में से किसी ने धर्म को संकुचित अर्थ में नहीं लिया बल्कि धर्म के सार-तत्व को अपनाया। इस दृष्टि से वे पी. जे. प्रूदों (1809-65), मिख़ाइल बाकूनिन (1814-76) और पीटर क्रॉपॉटकिन (1842-1921) जैसे अराजकतावादियों (Anarchists) से सहमत नहीं थे, जिन्होंने धर्म को मनुष्य के विकास में बाधक ठहराया था। कार्ल मार्क्स (1818-83) और अन्य साम्यवादी (Communists) भी अंततः राज्यहीन समाज की स्थापना का स्वप्न देखते हैं, परंतु वे 'धर्म' को नवनिर्माण की चेतना में बाधक मानकर शुरू से ही परे कर देते हैं, और हिंसात्मक क्रांति के द्वारा राज्यहीन समाज स्थापित करना चाहते हैं। दूसरे, साम्यवादी यह मानते हैं कि राज्यहीन समाज के उदय से पहले अधिकतम उत्पादन की स्थिति आएगी, जब सब व्यक्तियों की सभी आवश्यकताएं और इच्छाएं पूरी हो सकेंगी। इसके विपरीत गांधीजी भौतिक आवश्यकताओं को सीमित और इच्छाओं को संयत करने का मार्ग दिखलाते हैं। इस प्रकार **गांधी जी का राज्यहीन समाज साम्यवादियों के राज्यहीन समाज से सर्वथा भिन्न है।**

अहिंसा के सिद्धांत में ही यह विचार निहित है कि व्यक्ति अपने सहचरों को किसी तरह का कष्ट न पहुँचाए। अतः जहां प्रत्येक व्यक्ति का व्यवहार अहिंसा की भावना से प्रेरित होगा, वहां बाह्य नियंत्रण के किसी (Agency) अभिकरण की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। प्रत्येक व्यक्ति अपना शासक स्वयं होगा (अर्थात् आत्मसंयम से संपन्न होगा) और सामाजिक जीवन अपने-आप इस तरह से संचालित होगा कि प्रत्येक व्यक्ति के कार्य-कलाप संपूर्ण समाज के हित की दिशा में अग्रसर होंगे। यह एक प्रबुद्ध अराजकता (Enlightened Anarchy) की स्थिति होगी। इससे यह भी सिद्ध होता है कि गांधीजी की दृष्टि में सामाजिक नवनिर्माण के लिए व्यक्ति का चारित्रिक पुनर्निर्माण ज़रूरी है। समाज का स्वरूप तभी शुद्ध होगा जब उसकी रचना करने वाले व्यक्तियों की प्रकृति शुद्ध होगी। इस तरह गांधीजी नैतिक व्यक्तिवाद (Moral Individualism) के समर्थक सिद्ध होते हैं।

नोट

क्या आप जानते हैं **नैतिक व्यक्तिवाद (Moral Individualism)**–वह सिद्धांत जिसके अनुसार मनुष्य विवेकशील प्राणी (Rational Being) है; वह नैतिक निर्णय (Moral Judgement) की क्षमता से संपन्न है; और वह अपने-आप में साध्य (End-in-itself) है। अत: राज्य को व्यक्ति की गरिमा (Dignity) का सम्मान करते हुए उसके जीवन को किसी बने-बनाए सांचे में ढालने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

गांधीजी के आदर्श समाज में प्रत्येक व्यक्ति का धर्म या सामाजिक दायित्व (Social Obligation) एक सेवा (Service) का रूप धारण कर लेगा। **चूंकि इसमें हर तरह की सेवा या श्रम को एक–जैसे सम्मान की दृष्टि से देखा जाएगा, इसलिए वहां श्रम की गरिमा** (Dignity of Labour) **स्थापित हो जाएगी। इसी अर्थ में यह 'वर्गहीन' समाज होगा।** गांधीजी की यह संकल्पना **सर्वोदय** के विचार के साथ निकट से जुड़ी है। उनका अभिप्राय यह था कि जब अहिंसा को जीवन का नियम बना लिया जाएगा, तब किसी के मन में किसी के प्रति वैर-विरोध नहीं रहेगा, और सब मिलकर सबके हित के लिए कार्य करेंगे। अत: **जहां 'सर्वोदय' का सिद्धांत वंचित वर्गों के उत्थान को विशेष महत्त्व देता है, वहां वह यह आशा भी करता है कि धनवान् वर्ग स्वेच्छा और आत्म-प्रेरणा से अपना धन निर्धन वर्ग के कल्याण में लगाकर आत्मसंयम और विशाल-हृदयता का परिचय देगा,** और इस तरह अपना आध्यात्मिक स्तर उन्नत कर लेगा।

17.11 भावी समाज की रूपरेखा (Blueprint of Future Society)

गांधीजी ने **शरीर-श्रम** (Bread Labour) के सिद्धांत के अंतर्गत यह शिक्षा दी है कि प्रत्येक मनुष्य को उपयुक्त शारीरिक श्रम करके अपने उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन में योग देना चाहिए। इससे न केवल लाखों-करोड़ों लोगों की आवश्यकताएं पूरी करने में सहायता मिलेगी बल्कि समाज में **श्रम की गरिमा** (Dignity of Labour) भी बढ़ेगी। उन्होंने सब तरह के श्रम को बराबर महत्त्व देकर जात-पांत पर आधारित ऊंच-नीच को मिटाने का प्रयत्न किया। गांधीजी ने श्रम को सारे सामाजिक कार्यक्रम की कुंजी मानते हुए ऐसी अर्थव्यवस्था का समर्थन किया जिसमें भारत की विशाल जनसंख्या को उपयुक्त श्रम में लगाया जा सके। प्रत्येक व्यक्ति को अपने श्रम का इतना फल अवश्य मिलना चाहिए कि वह सादा जीवन बिताकर अपने नैतिक जीवन को उन्नत कर सके। अत: गांधीजी ने **प्रौद्योगिकी-प्रधान उद्योगों** (Technology-Intensive Industries) **के मुकाबले श्रम-प्रधान उद्योगों** (Labour-Intensive Industries) **को वरीयता दी।** उन्होंने **'पुंज-उत्पादन'** (Mass Production) **के बजाय 'जनपुंज द्वारा उत्पादन'** (Production by the Masses) **की प्रणाली को उचित ठहराया।** उन्होंने विशेष रूप से कुटीर उद्योगों (Cottage Industries) के विस्तार का समर्थन किया।

गांधीजी का **स्वदेशी** (*Swadeshi*) का सिद्धांत यह मांग करता है कि लोग केवल अपने देश में बनी वस्तुओं का प्रयोग करके यहां की अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करें। इसका सांकेतिक अर्थ यह भी था कि लोग अपनी संस्कृति और स्वाधीनता के साथ लगाव अनुभव करें ताकि वे यूरोपीय विचारों और संस्थाओं का अंधानुकरण न करने लगें।

प्रशासन के स्तर पर गांधीजी ने विस्तृत विकेंद्रीकरण (Decentralisation) **का समर्थन किया।** उन्होंने यह विचार रखा कि उनका **आदर्श राज्य** छोटे-छोटे **आत्मनिर्भर ग्राम-समुदायों का संघ** (A Federation of Village Communities) **होगा।** प्रत्येक ग्राम समुदाय का प्रशासन पाँच व्यक्तियों की 'पंचायत' चलाएगी। जिन्हें प्रतिवर्ष निर्वाचित किया जाएगा। ग्राम पंचायतों को विधायी, कार्यकारी और न्यायिक शक्तियां (Legislative, Executive and Judicial Powers) प्राप्त होंगी, परंतु समाज में मेलजोल और व्यवस्था बनाए रखने के लिए मुख्यत: नैतिक सत्ता (Moral Authority) और जनमत (Public Opinion) के प्रभाव का सहारा लिया जाएगा। गांधीजी को दृढ़ विश्वास था कि ग्राम समुदाय धीरे-धीरे लोगों में हार्दिक संबंध स्थापित कर देंगे; उनमें सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना को बढ़ावा देंगे और शालीनता (Civic Virtues) सिखाने के लिए उपयुक्त पाठशाला की भूमिका निभाएंगे।

नोट

ग्रामों के समूह को **ताल्लुकों** (Talukas) के रूप में, ताल्लुकों के समूहों को **जनपदों** (Districts) के रूप में, और जनपदों के समूह को **प्रदेशों** (Provinces) के रूप में संगठित किया जाएगा। इनमें से प्रत्येक इकाई अपने से ऊंची इकाई के लिए अपने-अपने प्रतिनिधि चुनकर भेजेगी। शासन के प्रत्येक स्तर को पर्याप्त **स्वायत्तता** (Autonomy) प्राप्त होगी, और वह **सामुदायिकता की भावना** (Sense of Community) से ओतप्रोत होगा। प्रत्येक प्रदेश अपनी स्थानीय आवश्यकताओं और संपूर्ण देश के हित को ध्यान में रखते हुए अपना-अपना संविधान बनाने को स्वतन्त्र होगा। केंद्र के स्तर पर पूरा देश **'समुदायों का समुदाय'** (Community of Communities) प्रतीत होगा। **केंद्रीय सरकार** को इतनी सत्ता अवश्य प्राप्त होगी कि वह सब प्रदेशों को एकता के सूत्र में पिरो सके, परंतु इतनी नहीं कि वह उन पर अपना प्रभुत्व (Domination) स्थापित कर दे। गांधीजी **केंद्रीय विधान सभा** (Central Assembly) के प्रत्यक्ष चुनाव के विरुद्ध थे क्योंकि उससे उत्तरदायित्व की भावना का ह्रास होगा और भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलेगा।

गांधीजी के अनुसार, **प्रशासन** का यह प्रतिरूप कोई **स्तूपाकार ढांचा** (Pyramidal Structure) **नहीं होगा** जिसके विभिन्न हिस्से ऊंची-नीची श्रेणियों में बँटे हों। यह **असंख्य ग्रामों का विशाल वृत्ताकार ढांचा** (Oceanic Circle) **होगा** जिसके सब हिस्से एक ही धरातल पर एक-दूसरे से जुड़े होंगे। एक वृत्त के बाहर दूसरा वृत्त बना होगा; दूसरे के बाहर तीसरा, और इसी क्रम से इस ढांचे का विस्तार होता जाएगा। **इस विशाल वृत्ताकार ढांचे का केंद्र व्यक्ति** (Individual) **ही रहेगा।** यह व्यक्ति सर्वथा विनम्र और विशालहृदय होगा। वह अपने ग्राम के लिए कोई भी त्याग करने को तैयार रहेगा; ग्राम ताल्लुके के लिए; ताल्लुका जनपद के लिए—अर्थात् हर इकाई अपने से बड़ी इकाई के लिए त्याग करने को तैयार रहेगी। फिर, **सब व्यक्ति इस महान ढांचे के अभिन्न अंग के रूप में इसकी गरिमा में बराबर के हिस्सेदार होंगे।**

नोट्स गांधीजी को विश्वास था कि **इस तरह की राज्य-व्यवस्था को विस्तृत अधिकारितंत्र** (Bureaucracy) **की ज़रूरत नहीं होगी** क्योंकि उसमें अधिकांश निर्णय-प्रक्रिया विकेंद्रीकृत (Decentralised) होगी।

फिर, जिस समाज में कोई भूखा नहीं रहेगा और सब लोग मिलजुलकर रहेंगे, उसमें **अपराध बहुत कम होंगे,** अत: **पुलिस की विशेष ज़रूरत नहीं रहेगी।** यदि भूले-भटके कोई अपराध कर बैठेगा तो जनमत का नैतिक प्रभाव उसका हृदय-परिवर्तन करने के लिए पर्याप्त होगा। यदि ज़रूरत हो तो नागरिक बारी-बारी से पुलिस की भूमिका सँभाल सकते हैं। **इस राज्य-व्यवस्था में** गृहयुद्ध (Civil War) की कोई संभावना नहीं है, और **सेना की ज़रूरत भी नहीं रहेगी।** जहां लोग अपनी स्वाधीनता के लिए मर-मिटने को तैयार रहेंगे, वहां विदेशी आक्रमण का कोई खतरा नहीं रहेगा।

इसमें संदेह नहीं कि गांधीजी ने विकास का जो मार्ग दिखाया, वह भारत की संस्कृति और मूल्य-परंपरा के अनुरूप था। परंतु इस देश को प्रौद्योगिकी-प्रधान और तनावभरे विश्व में अपना उपयुक्त स्थान प्राप्त करने के लिए इससे भिन्न रास्ता चुनना पड़ा। कुछ भी हो, **गांधीजी ने मनुष्य को उपभोग के नियमन और इच्छाओं के नियंत्रण का जो संदेश दिया, वह आज के युग में मानवता के भविष्य की रक्षा के लिए पर्यावरणवाद** (Environmentalism) **का महत्त्वपूर्ण सिद्धांत बना चुका है।**

17.12 सारांश (Summary)

- पूँजीवाद एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था है जिसमें आर्थिक जीवन का अधिकांश भाग, विशेषत: उत्पादित वस्तुओं का स्वामित्व अथवा विनियोजन निजी तौर पर आर्थिक प्रतिस्पर्धा की प्रक्रिया तथा लाभ प्राप्ति की प्रकट इच्छा द्वारा संपन्न होता है।

नोट

- गांधीजी विकास की ऐसी किसी भी अवधारणा के विरुद्ध थे जिसका लक्ष्य भौतिक इच्छाओं को बढ़ाना और उनकी पूर्ति के उपाय ढूँढ़ना हो।
- गांधीजी की दृष्टि में आदर्श समाज व्यवस्था वही हो सकती है जो पूरी तरह अहिंसा पर आधारित हो।
- समाजवाद का जन्म पूँजीवाद एवं व्यक्तिगत संपत्ति की बुराईयों के विरोध में हुआ।

17.13 शब्दकोश (Keywords)

1. **समाजवाद (Socialism)**–एक सामाजिक दर्शन अथवा सामाजिक संगठन का एक रूप जो उत्पादन के भौतिक साधनों तथा वितरण पर राज्य के स्वामित्व तथा संचालन के सिद्धांत पर बल देता है।
2. **मिश्रित अर्थव्यवस्था (Mixed Economy)**–इसके अंतर्गत सार्वजनिक क्षेत्र तथा निजी क्षेत्र दोनों पर बल दिया जाता है। यह पूँजीवाद तथा समाजवाद का मिश्रित रूप है।

17.14 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. पूँजीवाद क्या है?
2. समाजवाद के अर्थ को बताएँ।
3. मिश्रित अर्थव्यवस्था किसे कहते हैं?
4. गांधीजी की वर्गहीन और राज्यहीन समाज की संकल्पना क्या थी?

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. पूँजीवादी अर्थव्यवस्था
2. व्यापारिक
3. अनिश्चित
4. औद्योगिक क्षेत्र
5. भारत
6. नियंत्रणों।

17.15 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. हिन्दू सोसाइटी – *इरावती कार्वे।*
2. समाजशास्त्र – *गुप्ता एवं शर्मा।*

नोट

इकाई–18: विकास का अभिकर्त्ता : राज्य, बाजार, स्वयंसेवी संस्था (Agencies of Development : State, Market, Non-governmental Organisations)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
18.1 राज्य की परिभाषा एवं अर्थ (Definition and Meaning of State)
18.2 राज्य और सरकार में भेद (Distinction between State and Government)
18.3 राज्य के कार्य व अधिकार (Functions and Powers of the State)
18.4 राज्य के कार्य (Functions of the State)
18.5 आधुनिक राज्य के कार्य (Function of Modern State)
18.6 राज्य के कार्य व अधिकार सम्बन्धी सीमाएँ (Limitations in Regard to Functions and Powers of the State)
18.7 राज्य के कार्य व अधिकार विभिन्न सिद्धान्तों के अनुसार (Functions and Powers of the State According to Differentisms)
18.8 बाजार प्रणाली (Market System)
18.9 सामाजिक परिणाम (Social Consequences)
18.10 सारांश (Summary)
18.11 शब्दकोश (Keywords)
18.12 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
18.13 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- राज्य का समाज के विकास में योगदान।
- बाजार अर्थव्यवस्था का सामाजिक परिवर्तन तथा विकास में किस प्रकार सहायक है बताना।

नोट

प्रस्तावना (Introduction)

राज्य एक राजनीतिक समिति के रूप में समुदाय की शान्ति, व्यवस्था व सुरक्षा के लिए उत्तरदायी है। कुछ विचारकों ने राज्य को इसके द्वारा किए जाने वाले सर्वव्यापी कार्यों के आधार पर संस्था मान लिया है। कुछ भी हो, राज्य राजनीतिक संगठन की एक महत्वपूर्ण व आधार-भूत संस्था है।

सामान्यतया एक ऐसी जगह जहाँ बेचने और खरीदने वाले मिलते हैं, बाज़ार है। लेकिन बाज़ार का यह अर्थ वह है जिसे आम आदमी लेता है। अर्थशास्त्र में इसका तकनीकी अर्थ लिया जाता है। आज जब वैश्वीकरण एक प्रभावी प्रक्रिया की तरह हमारे देश में काम कर रही है विनिमय के क्षेत्र में बाजार का स्थान महत्त्वपूर्ण हो गया है। बाजार वह है जहाँ वस्तुओं का मोल-भाव निर्धारित होता है। किसी भी वस्तु का आयात-निर्यात वस्तु के भाव पर निर्भर रहता है और यह भाव बाज़ार पक्का करता है। "बाज़ार का अस्तित्व वस्तुओं के एक से अधिक विक्रेताओं के अस्तित्व पर निर्भर है। औद्योगिक पूँजीवादी व्यवस्था में बाज़ार की कार्यपद्धति मुक्त बाजार और खुली प्रतिस्पर्द्धा पर आधारित है। खरीदने वाले तथा बेचने वालों में आपसी प्रतिस्पर्द्धा तथा मोल-भाव के कारण दाम, वस्तुओं के गुण तथा संविदा के बीच संतुलन बना रहता है।"

राज्य (State)

18.1 राज्य की परिभाषा एवं अर्थ (Definition and Meaning of State)

गिलिन तथा गिलिन (Gillin & Gillin) ने राज्य को परिभाषित करते हुए लिखा है, "राज्य व्यक्तियों का ऐसा प्रभुता-सम्पन्न राजनीतिक संगठन है जो एक निश्चित क्षेत्र में बसा हो।" इस परिभाषा में राज्य को एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में सर्वोच्च शक्ति वाला संगठन माना जाता है।

मैकाइवर ने 'Modern State' नामक पुस्तक में राज्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "राज्य एक इस प्रकार की समिति है कि यह कानून व शासन अधिकार द्वारा कार्य करती है और इसे एक निश्चित क्षेत्र के अन्तर्गत सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने के लिये सर्वोच्च अधिकार प्राप्त होते हैं।

नोट्स प्रो. लास्की (H.J. Laski) के अनुसार, "राज्य एक ऐसा क्षेत्रीय समाज है जो सरकारों व शासितों में बँटा होता है और जो एक निश्चित भौतिक क्षेत्र (physical area) में अन्य सभी संस्थाओं पर सर्वोच्च सत्ता का दावा करता है।"

राजनीति विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान **गार्नर** (Garner) ने राज्य को परिभाषित करते हुए लिखा है, "राजनीति विज्ञान और सार्वजनिक कानून की धारणा के रूप में, राज्य अनेक व्यक्तियों का एक ऐसा समुदाय है जो सामान्यतया एक निश्चित क्षेत्र में बसा हो, बाहरी नियंत्रण से स्वतंत्र अथवा लगभग स्वतंत्र हो, जिसकी अपनी एक संगठित सरकार हो और इस सरकार के प्रति निवासियों में स्वभावत: ही आज्ञा पालन की भावना हो।" इस प्रकार गार्नर महोदय राज्य को बाहरी नियंत्रण से मुक्त एक समुदाय मानते हैं जो सरकार द्वारा संचालित व नियंत्रित होता है।

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि **राज्य एक ऐसा क्षेत्रीय समुदाय है जो प्रभुतासम्पन्न सरकार द्वारा नियमित हो और बाहरी नियंत्रण से मुक्त हो।**

राज्य की विशेषतायें या मौलिक तत्व (Characteristics or Basic Elements of State)

उपरोक्त विवेचन के संदर्भ में राज्य की निम्नलिखित विशेषताओं या मौलिक तत्वों का उल्लेख किया जा सकता है–

(1) **जनसंख्या** (Population)–राज्य का सर्वप्रथम आधार जनसंख्या है। सभी राज्यों में जनसंख्या निवास करती है और जनसंख्या के अभाव में किसी भी राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती है। किसी राज्य की

नोट

जनसंख्या कितनी होनी चाहिए? इस सम्बन्ध में विचारक एकमत नहीं हैं। अरस्तु (Aristotle) का कथन है कि शासन-व्यवस्था के सुचारु रूप से संचालन के लिए जनसंख्या कम होनी चाहिए लेकिन इतनी भी कम न होनी चाहिए जिससे वह आत्मनिर्भर न बन सके। संभवतया इसी बात को दृष्टिगत रखते हुए अरस्तु ने कहा है, "राज्य परिवारों तथा ग्रामों का एक संघ है जिसका उद्देश्य पूर्णतया आत्मनिर्भर जीवन की प्राप्ति है।" श्री रूसो ने राज्य की आदर्श जनसंख्या 10,000 बतायी है। वास्तव में राज्य की जनसंख्या को किसी निश्चित सीमा में नहीं बाँधा जा सकता है। जनसंख्या कम भी हो सकती है और अधिक भी। आज विश्व में भूटान जैसे कम जनसंख्या वाले राज्य भी हैं और चीन जैसे बड़ी जनसंख्या वाले भी। सच तो यह है कि किसी भी राज्य की जनसंख्या प्राकृतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि परिस्थितियों के ही अनुसार होती है।

(2) **निश्चित क्षेत्र** (Definite territory)–राज्य का एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र होता है जहाँ पर राज्य का अधिकार होता है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन ही नहीं होता वरन् क्षेत्रीय सीमाएँ जो भी होती हैं उनका रूप अवश्य निश्चित होता है। लास्की (Laski), गिलिन तथा गिलिन (Gilin & Gilin), गार्नर आदि विचारक राज्य के लिए एक निश्चित क्षेत्र या भू-भाग को आवश्यक मानते हैं।

(3) **सरकार** (Government)–राज्य के संचालन व नियमन के लिये सरकार होती है। सरकार के अभाव में न तो राज्य की शक्ति को व्यावहारिक रूप प्रदान किया जा सकता है और न ही जनता पर नियन्त्रण रखा जा सकता है। सरकार का स्वरूप (form) सब राज्यों में एक जैसा नहीं होता है, यदि राज्य कहीं प्रजातांत्रिक (democratic) है तो कहीं कुलीनतंत्रीय (aristocratic) भी हो सकता है। अपने देश में सरकार का स्वरूप प्रजातांत्रिक (Democratic) है। इसलिए बिना किसी दलदल में पड़ते हुए यह कहा जा सकता है कि राज्य के लिए सरकार का होना अपरिहार्य है।

(4) **प्रभुसत्ता** (Sovereignty)–प्रभुसत्ता राज्य की महत्वपूर्ण विशेषता या तत्व है। सर्वश्री गिलिन व गिलिन और प्रो. लास्की ने संभवतया इसी कारण अपनी परिभाषाओं में प्रभुसत्ता या राज्य के सर्वोच्च अधिकार को सम्मिलित किया है। ठीक भी है, **राज्य बिना सर्वोच्च अधिकार के नागरिकों को सरकार द्वारा निर्मित कानूनों का पालन करने के लिए बाध्य भी तो नहीं कर सकता।** इस संदर्भ में मैकाइवर महोदय का यह कहना ठीक ही है कि सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने के लिए, राज्य के आदेशों की अवहेलना करने अथवा बाहरी आक्रमण होने पर राज्य अपनी शक्ति का प्रयोग करता है और अपनी प्रभुता का ज्ञान कराता है।

(5) **स्थायी अस्तित्व** (Permanent existence)–राज्य का अस्तित्व बहुत कुछ स्थायी होता है यद्यपि सरकार बदल सकती है। राज्य की भूमि में वृद्धि या कमी होने अथवा जनसंख्यात्मक स्वरूप में परिवर्तन होने से राज्य के अस्तित्व में कोई बाधा नहीं आती। दूसरे राज्य का किसी एक राज्य पर अधिकार होने पर भी केवल सरकार ही बदल जाती है जबकि राज्य का स्वरूप बहुत-कुछ पहले जैसा ही बना रहता है।

(6) **समान अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान** (Equal International Status)–यों तो समान अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान प्राप्त होना, राज्य की एक विशेषता है परन्तु व्यवहारिक रूप से ऐसा नहीं होता। इसका कारण यह है कि कुछ राज्य अधिक शक्तिशाली व बड़े होते हैं और वे विश्व में अधिक सम्मान प्राप्त कर लेते हैं।

इस प्रकार राज्य अन्य समितियों से भिन्न ऐसी समिति है जिसकी सदस्यता अपेक्षाकृत अनिवार्य होती है, जो सरकार द्वारा बनाये कानूनों को लागू करके निश्चित भू-भागों में अपनी प्रभुसत्ता को बनाए रखता है।

18.2 राज्य और सरकार में भेद (Distinction between State and Government)

राज्य और सरकार एक दूसरे के इतने समान हैं कि साधारणतया इनमें कोई भेद नजर नहीं आता। वैसे इन दोनों में भेद नजर नहीं आता। समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण से इन दोनों की प्रकृति में पाये जाने वाले भेदों को जानना भी आवश्यक व उचित है। संक्षेप में ये निम्न हैं।

नोट

(1) राज्य एक प्रकार से समिति है क्योंकि इसका निर्माण एक निश्चित क्षेत्र (definite territory) में रहने वाले सभी व्यक्तियों द्वारा होता है जबकि सरकार शासन कार्य के संचालन व नियमन हेतु राज्य की संस्था है।

(2) राज्य का क्षेत्र सरकार की तुलना में कहीं अधिक व्यापक व विस्तृत है क्योंकि सरकार राज्य के संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकार का ही उपयोग कर सकती है जबकि राज्य के अन्तर्गत इसमें रहने वाले सभी नागरिकों के क्रियाकलापों (Activities) का समावेश रहता है। उदाहरणार्थ सरकार के संविधान द्वारा सीमित अधिकार के कारण ही इन्दिरा सरकार को 1970 में (मध्यावधि चुनाव–मार्च, 1971 से पहले) प्रिवी पर्सों के उन्मूलन (Abolition of privy purses) को स्थगित करना पड़ा, क्योंकि देश (भारत) के उच्चतम न्यायालय में संवैधानिक आधार पर इसका उन्मूलन उचित नहीं माना।

(3) राज्य सरकार की अपेक्षा अधिक स्थायी है। सरकार जल्दी-जल्दी बदल सकती हैं। उदाहरणार्थ, संयुक्त राज्य अमेरिका में कभी कैनेडी की सरकार थी, कभी जॉनसन की और आज रीगन की सरकार है।

(4) राज्य साध्य है और सरकार साधन। राज्य अपने साध्य (end) अथवा लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए ही सरकार रूपी साधन को प्रयोग में लाता है।

(5) राज्य एक पूर्णता है जबकि सरकार विभिन्न उप-विभागों में बंटी रहती है।

टास्क राज्य और सरकार में क्या भेद है? विस्तारपूर्वक वर्णन करें।

18.3 राज्य के कार्य व अधिकार (Functions and Powers of the State)

सृष्टि के आरम्भ में राज्य नाम का कोई संगठन नहीं था। समूहों में जिस व्यक्ति के पास अधिक शक्ति व सम्पत्ति होती थी उसे विशेष स्थान प्राप्त होता था और यह व्यक्ति मुखिया अथवा सरदार के रूप में समूह के अन्य सदस्यों को नियंत्रित व नियमित रखता था। धीरे-धीरे ये मुखिया अथवा सरदार ही राजा बन बैठे और परिणामस्वरूप राजा के प्रभुत्व को एक निश्चित भू-भाग से सम्बन्धित कर दिया गया और तभी से राज्य जैसी व्यवस्था का आरम्भ हुआ। राजा के युग में राज्य के कर्त्तव्य सीमित थे और राजा के अधिकार या शक्ति असीमित व ईश्वरीय थे। धीरे-धीरे स्थिति बदली; राज्यों का स्वरूप बदला, राज्य की धारणा बदली और परिणामस्वरूप राज्य के कार्य व अधिकार भी बदले।

आधुनिक युग में तो राज्य के कार्यों का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक व विस्तृत होता जा रहा है–राज्य को नागरिक को सम्पूर्ण सुरक्षा, पालने से लेकर मृत्यु पर्यन्त तक के लिए उत्तरदायी समझा जा रहा है। आज राज्य को अपने अधिकारों के मनमाने प्रयोग की अनुमति नहीं दी जा सकती वरन् राज्य से नागरिक के लिए अनेक प्रकार के कार्यों को सम्पादित करने की आशा की जाती है। वस्तुतः हमारे सामने मूल प्रश्न यह है कि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से राज्य को कौन-कौन से कार्य करने चाहिए? और राज्य की सम्बन्धी सीमायें कौन-सी हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. ..... के आरम्भ में राज्य नाम का कोई संगठन नहीं था।
2. जिस व्यक्ति के पास अधिक शक्ति व संपत्ति होती थी उसे ..... प्राप्त होता था।
3. हमारे सामने मूल प्रश्न यह है कि ..... से राज्य को कौन-कौन से कार्य करने चाहिए?

18.4 राज्य के कार्य (Functions of the State)

नोट

मैकाइवर और पेज (Maciver and Page) ने राज्य सम्बन्धी कार्यों को चार भागों में बाँटा है। ये उपविभाग निम्न प्रकार हैं–

(1) वे कार्य, जिनको केवल राज्य ही कर सकता है (Functions Peculiar to the State)–राज्य ही समाज में प्रभावशाली व्यवस्था को कायम रख सकते हैं, क्योंकि राज्य अपने अधिकार के बल पर बनाये गये कानूनों को सार्वजनिक रूप से लागू कर सकता है इस प्रकार राज्य नागरिकों की सुरक्षा, शान्ति व्यवस्था व बाहरी आक्रमणों से रक्षा करने में पूर्ण समर्थ हैं क्योंकि इसके पास सेना, पुलिस, अदालत, कानून आदि विशेष संस्थायें हैं जो अन्य समितियों में उपलब्ध नहीं हो सकते। अत: शान्ति व्यवस्था व सुरक्षा का कार्य केवल राज्य ही कर सकता है।

(2) वे कार्य, जिनको राज्य दूसरों से अच्छा कर सकता है (Functions for which the State is well adapted)–कुछ कार्य राज्य अन्य संस्थाओं व समितियों की तुलना में कहीं अधिक अच्छे ढंग से कर सकता है। इन कार्यों के अन्तर्गत प्राकृतिक साधनों का संरक्षण, वनों की रक्षा, श्रमिकों की सुरक्षा, सामान्य सामाजिक सुरक्षा आदि सम्मिलित हैं। दूसरी समितियाँ व संस्थायें अधिक लाभ व प्रतियोगिता से प्रेरित रहती हैं; अत: वे इनको भली प्रकार नहीं कर सकती हैं।

(3) वे कार्य, जिनको राज्य अच्छी प्रकार नहीं कर सकता (Functions for which the State is ill-adapted)–राज्य के अन्तर्गत अनेक छोटे-बड़े समुदाय होते हैं जिनके अपने-अपने अलग-अलग विशेष भिन्न व आन्तरिक स्वार्थ होते हैं। ये संगठन व समितियाँ विभिन्न स्वार्थों की पूर्ति करने में इतने कुशल होते हैं, लोचपूर्ण होते हैं और राज्य इन विशेष स्वार्थों को ठीक से पूरा नहीं कर सकता है। इसलिए राज्य इनको न करे तो अच्छा है। इसके अतिरिक्त ऐच्छिक समितियों की संख्या घटती व बढ़ती रहती है और राज्य इनके द्वारा होने वाले विशेष व भिन्न स्वार्थों की पूर्ति नहीं कर सकता; राज्य तो सामान्य हित का कार्य ही कर सकता है। उदाहरण के लिए संगीत की उन्नति के लिए संगीत समिति है जो अपना विशेष कार्य कर रही है और हिन्दी के प्रसार के लिये हिन्दी साहित्य सम्मेलन है जो हिन्दी का प्रसार कर रहा है। राज्य इन कामों में अगर अटक गया तो राज्य के अन्य महत्वपूर्ण कार्य अपूर्ण रह जायेंगे।

(4) वे कार्य, जिनको राज्य कर ही नहीं सकता (Functions which the State is incapable of performing)–राज्य का नियंत्रण बाहरी होता है। अत: राज्य व्यक्तियों के विचारों व मनोवृत्तियों पर नियंत्रण कैसे रख सकता है। राज्य के बल द्वारा व्यक्तियों के भौतिक शरीर को तो अवश्य नष्ट किया जा सकता है परन्तु उसकी भावना को नहीं दबाया जा सकता है। इस प्रकार राज्य जनमत, नैतिकता, प्रभावों व परम्पराओं पर नियंत्रण नहीं रख सकता।

18.5 आधुनिक राज्य के कार्य (Function of Modern State)

कुछ अन्य विचारकों ने राज्य के कार्यों को दो भागों में बाँटा है–

(A) राज्य के अनिवार्य कार्य (Compulsory Functions of State)

(1) बाहरी आक्रमणों से देश की रक्षा करना।

(2) आन्तरिक शान्ति, सुरक्षा व सुव्यवस्था बनाये रखना।

(3) नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करना।

(4) नागरिकों को बिना भेद-भाव के न्याय दिलाना।

(5) पारिवारिक अधिकारों व कर्त्तव्यों को वैध बनाना।

नोट

(B) राज्य के ऐच्छिक कार्य (Voluntary Functions of State)

(1) शिक्षा का प्रबन्ध करना। (2) स्वास्थ्य व चिकित्सा की देखभाल करना। (3) असहाय व्यक्तियों की रक्षा करना। (4) यातायात व संचार के साधनों की व्यवस्था करना। (5) श्रमिकों को उचित सुरक्षा प्रदान करना। (6) प्राकृतिक साधनों का उचित उपयोग करना। (7) व्यापार तथा उद्योगों की व्यवस्था करना। (8) कृषि की उन्नति करना। (9) मुद्रा की व्यवस्था करना। (10) रोजगार की समुचित व्यवस्था करना। (11) सामाजिक कुरीतियों व अन्धविश्वासों को दूर करना। (12) सामाजिक सुरक्षा का प्रबन्ध करना। (13) संसार के अन्य देशों से राजनीतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक सम्बन्ध बनाना। (14) नागरिकों के मौलिक अधिकारों (Fundamental rights) की रक्षा करना। (15) सामान्य शिक्षा का प्रसार करना।

18.6 राज्य के कार्य व अधिकार सम्बन्धी सीमाएँ (Limitations in Regard to Functions and Powers of the State)

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से राज्य के कार्य व अधिकार सम्बन्धी कुछ सीमायें हैं। इन सीमाओं को मानकर चलने में ही राज्य संगठित रह सकता है और व्यवस्था बनी रह सकती है। ये सीमायें निम्नलिखित हैं–

(1) व्यक्ति के मौलिक अधिकारों (Fundamental rights) को प्रदान न करके अथवा उनकी अवहेलना करके कोई भी राज्य संगठित नहीं रह सकता है।

क्या आप जानते हैं पूर्वी बंगाल का संघर्ष (मार्च, अपैल, 1971) पाकिस्तान की बाह्य सरकार द्वारा पूर्वी बंगाल की जनता के मौलिक अधिकारों की अवहेलना व दमन का ही परिणाम था और इसी संघर्ष के कारण बंगला देश की स्थापना हुई।

(2) राज्य व्यक्ति के बाहरी आचरण पर ही नियंत्रण रख सकता है, आन्तरिक व नैतिक आचरण को नियंत्रित नहीं रख सकता।

(3) राज्य मनमाने ढंग से सामाजिक प्रथाओं; मान्यताओं आदि में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। इसके लिये राज्य को जनमत का आदर करना चाहिए।

(4) राज्य दूसरे राज्यों के व्यक्तियों के जीवन में हस्तक्षेप नहीं कर सकता है।

(5) राज्य ऐच्छिक समितियों के कार्यों को भली प्रकार से नहीं कर सकता है। राज्य को इन छोटे-मोटे संकीर्ण दायरों में फँसने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

(6) राज्य अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसा करने से युद्ध की संभावना उत्पन्न हो सकती है।

उपरोक्त सीमाओं से स्पष्ट है कि राज्य अपने में सर्वशक्तिमान नहीं है वरन् निश्चित प्रदेश में बसे हुए लोगों पर बाहरी नियंत्रण रखता है और परिणामस्वरूप ऐसी स्थिति में राज्य व्यक्ति पर सम्पूर्ण अधिकारों का दावा कैसे कर सकता है?

18.7 राज्य के कार्य व अधिकार विभिन्न सिद्धान्तों के अनुसार (Functions and Powers of the State According to Different-isms)

राज्य के अधिकार व कार्यों अथवा राजकीय नियंत्रण के सम्बन्ध में विचारक एक मत नहीं है। विभिन्न विचारकों ने इस संदर्भ में अपने-अपने विचारों को पृथक्-पृथक् ढंग से प्रस्तुत किया है। इन पृथक्-पृथक् विचारों के

नोट

फलस्वरूप ही अनेक सिद्धान्तों या वादों (Isms) का उदय हुआ है। राज्य के कार्य व अधिकार के सम्बन्ध में वास्तविक निरूपण करने के लिए कुछ मुख्य सिद्धान्तों को संक्षेप में जानना उचित है। कुछ मुख्य सिद्धान्त या वाद निम्न प्रकार हैं–

(1) **व्यक्तिवाद** (Individualism)–व्यक्तिवादी विचारक राज्य की तुलना में व्यक्ति को अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। ये राज्य को कम से कम हस्तक्षेप का अधिकार देने में विश्वास रखते हैं। व्यक्तिवादी विचारधारा में प्रमुख रूप से दो विचार हैं–

1. एक विचार के अनुसार तो राज्य को शान्ति, सुरक्षा, असहाय व अयोग्यों की सहायता आदि क्षेत्रों में कार्य करना चाहिए। यह दृष्टिकोण उदारवादी है।
2. दूसरा विचार उग्रवादी है। इस विचार के अनुसार आन्तरिक व बाहरी शत्रुओं से रक्षा और कानून के अनुसार संविदाओं (Contracts) का पालन करना ही राज्य का कार्य है। कुछ भी हो, **व्यक्तिगत का मूलाधार यही है कि यह राज्य का नियन्त्रण शान्ति व सुरक्षा के लिये चाहता है।**

(2) **उपयोगितावाद** (Utilitaranism)–इस विचारधारा या वाद के अनुसार राजकीय नियन्त्रण का क्षेत्र लाभ या हानि के आधार पर निश्चित किया जाना चाहिए। राज्य को उस सीमा तक ही व्यक्तियों के सामाजिक जीवन का नियमन करना चाहिए, जिस सीमा तक जनता के हितों को लाभ पहुँचता रहे। ऐसे कार्यों से राज्य को दूर रहना चाहिए जो जनता के सामान्य हितों को क्षति पहुँचाते हैं। और भी स्पष्ट शब्दों के यह वाद सुख और दु:ख की विचारधारा (Pleasure and Pain theory) पर आधारित है।

(3) **सर्वाधिकारवाद** (Totalitarianism)–सर्वाधिकारवादी विचारधारा राज्य को मानव के सामाजिक जीवन में नियन्त्रण करने का पूर्ण अधिकार देती है। इस विचारधारा के अनुसार राज्य ही सर्वोच्च है और राज्य के अभाव में व्यक्ति की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है–राज्य का कार्य व्यक्ति को राज्य के अनुसार ढालना है। इस वाद के समर्थन में बहुधा निम्नलिखित कथन का सहारा लिया जाता है, "भूल जाओ कि तुम किसान, श्रमिक, व्यापारी, वैज्ञानिक, पत्नी अथवा माँ हो और केवल इतना याद रखो कि तुम नागरिक हो। अपने सभी अधिकारों को भूल जाओ' क्योंकि मुझसे (राज्य) किसी की भी तुलना नहीं की जा सकती।"

(4) **आदर्शवाद** (Idealism)–यह वाद राज्य के द्वारा व्यक्ति के जीवन में आने वाली नैतिक बाधाओं को दूर करने के पक्ष में है। राज्य समाज के सम्पूर्ण बाधाओं को दूर करने के पक्ष में है। राज्य समाज के सम्पूर्ण नैतिक जीवन का संरक्षक है और इसे नागरिकों के सम्पूर्ण जीवन को दिशा देने का अधिकार है–यह विचार सर्वश्री हीगल (Hegel) का है। श्री बोसां के मतानुसार, "राज्य सामाजिक जीवन में आदर्श व्यवहार का व्यावहारिक रूप है। यह वह प्रेरक शक्ति है जो हमें सदैव उस आदर्श की ओर बढ़ने की प्रेरणा देती है और यदि हम ऐसा करने में असफल होते हैं तो हमें दण्ड देता है।" इस प्रकार हीगल के अनुसार राज्य का कार्य मनुष्य के मार्ग में आने वाली नैतिक बाधाओं को दूर करना ही नहीं है वरन् उसे आत्म उन्नति के मार्ग में चलने में पथ-प्रदर्शक का भी कार्य करना होगा।

नोट्स आदर्शवादी विचारक ग्रीन के अनुसार, "राज्य को अच्छे जीवन के मार्ग की बाधाओं के विरुद्ध बाधक बनना है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आदर्शवाद राज्य को व्यक्ति की आत्म उन्नति हेतु सामाजिक जीवन में अधिक हस्तक्षेप या नियन्त्रण का अधिकार देने का हामी है।

(5) **साम्यवाद (Communism)–**साम्यवादी विचारधारा राज्य को अधिक अधिकार देने की हामी नहीं है। इसके अनुसार पूँजीवाद की पूर्ण समाप्ति एवं पूँजीवाद की बुराइयों के दूर हो जाने पर राज्य की आवश्यकता भी समाप्त हो जायेगी और उस स्थिति में धीरे-धीरे राज्य की संस्था का लोप हो जायेगा और परिणामस्वरूप

नोट

वर्ग-विहीन साम्यवादी समाज (Classless Communistic Society) की स्थापना हो जायेगी। सर्वश्री मार्क्स व एंजेल्स (Marx and Engels) का यही मत था। लेकिन रूस के साम्यवादियों का कहना है कि **"मार्क्स और एंजेल्स का यह अभिप्राय नहीं था कि साम्यवाद की स्थापना पर राज्य का ही लोप हो जायेगा। उनके कहने का अभिप्राय यही था कि संक्रमण काल की समाप्ति पर राज्य के वर्गीय रूप का ही अन्त होगा; राज्य किसी विशेष वर्ग का संगठन न होकर समस्त जनता का होगा।"** लेनिन महोदय का कहना है कि समाज में अपराधी व बुरी प्रकृति के लोग सदैव रहेंगे और उनके नियंत्रण के लिए राज्य की संस्था की सदैव आवश्यकता बनी रहेगी।

(6) **गाँधीवाद** (Gandhism)–गाँधीवाद राज्य की शक्ति का अधिक विकेन्द्रीकरण करना चाहता है और पंचायत प्रणाली को विकसित करने के पक्ष में है ताकि ग्रामों की सर्वांगीण उन्नति हो सके और लोग पंचायत राज्य या रामराज्य का आनन्द लूट सकें। गाँधी जी का कहना है कि ऊपरी तौर से ऐसा मालूम पड़ता है कि राज्य की बढ़ती हुई शक्ति शोषण को कम करके जनता का कल्याण कर रही है परन्तु सच तो यह है कि मानव जाति को इससे अत्यधिक क्षति पहुँचती है क्योंकि इससे व्यक्ति का व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है जो सभी प्रकार की उन्नति का आधार है। इतना ही नहीं गाँधी जी राज्य को बल के आधार पर बना हुआ संगठन होने के कारण नापसन्द करते थे। गाँधी जी के अनुसार राज्य को ऐसे कार्य करने चाहिए जिनसे जनकल्याण हो, प्रत्येक नागरिक के आत्म विकास की समान सुविधायें प्राप्त हों। आपके राज्य का आदर्श सत्य, अहिंसा और सर्वोदय पर आधारित है।

मूल्यांकन (Evaluation)

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि राज्य के अधिकार, हस्तक्षेप व कार्यों के बारे में विभिन्न विचारक एक मत नहीं हैं–कुछ विचारक राज्य का अत्यधिक हस्तक्षेप या नियंत्रण चाहते हैं जबकि कुछ अन्य विचारक राज्य के कम से कम नियंत्रण या हस्तक्षेप के पक्ष में हैं। लेकिन इतना निश्चित है कि लगभग सभी विचारक किसी न किसी रूप में राज्य की आवश्यकता को अनुभव करते हैं और बाहरी नियन्त्रण अथवा व्यवस्था के लिए इसको आवश्यक समझते हैं। लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं है कि राज्य ही व्यक्ति का सब कुछ है और सर्वोच्च सत्ता है। अत: यह कहना ही अधिक उपयुक्त होगा कि राज्य का नागरिकों के ऊपर अधिकारों का दावा सीमित है और राज्य सर्वशक्तिमान, सर्वोच्च व निरंकुश नहीं है वरन् यह तो जनता की सामान्य इच्छाओं का प्रतिमान (Pattern) है। इस प्रकार राज्य सामूहिक हित की दृष्टि से जनता का संरक्षक भी है और जनता की इच्छाओं द्वारा नियन्त्रित व सीमित भी है।

बाज़ार (Market)

आधुनिक अर्थव्यवस्था में बाज़ार की जो भूमिका हम देखते हैं, उसका प्रारम्भ बहुत पुराना नहीं है। दुनियाँभर में इस व्यवस्था का सम्बन्ध उत्पादन की प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है। प्रारम्भ में बाजार जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी। लोग सामूहिक सम्बन्धों के आधार पर वस्तु-विनिमय कर लिया करते थे। अभी कुछ समय पहले तक हमारे यहाँ गाँवों और आदिवासियों में वस्तु-विनिमय प्रथा प्रचलित थी। यह अर्थव्यवस्था ऐसी थी जिसे जीविकोपार्जन अर्थव्यवस्था कहते हैं। जो कुछ खेत में पैदा होता था, इससे लोग अपना जीवन चला लेते थे। आवश्यकता पड़ने पर अपने उपार्जन को विनिमय द्वारा दूसरों को दे देते थे और इस तरह समुदाय पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलते रहते थे। कुछ समुदाय के जीवन में ऐसी अवस्था भी आयी जब उपभोग के अतिरिक्त वस्तुओं का उत्पादन होने लगा। इस अतिरिक्त उत्पादन को बेचने के लिए बाज़ार की आवश्यकता हुई और इस तरह सामूहिक या व्यक्तिगत विनिमय का स्थान बाज़ार ने ले लिया। **इस अर्थ में बाज़ार अर्थव्यवस्था वह है जहाँ जीविकोपार्जन से अतिरिक्त उत्पादन को बेचा जा सके और उपभोग की अन्य वस्तुओं का विक्रय हो सके।** इस अर्थव्यवस्था ने सम्पूर्ण उत्पादन प्रक्रिया को ही बदल दिया है। स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी है कि किसान जो कुछ उत्पादन करता है, वह बाज़ार के लिए ही होता है। वह अपने उपभोग की वस्तुओं को बाज़ार से खरीद लेता है। बाज़ार में जिन खाद्यान्नों के भाव ऊँचे होते हैं, किसान उन्हीं

नोट

खाद्यान्नों की पैदावार करता है। आज भी भाँति बाजार सम्पूर्ण उत्पादन प्रक्रिया को बदल देते हैं। बाज़ार का यह क्षेत्र स्थानीयता से आगे बढ़कर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आ जाता है। आज तो इलेक्ट्रोनिक तथा युद्ध के हथियारों का भी अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार बन गया है।

18.8 बाज़ार प्रणाली (Market System)

अर्थशास्त्री बाज़ार को विनिमय का माध्यम मानते हैं, समाजशास्त्र में इसे एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में देखा जाता है। बाज़ार का हम एक व्यवस्था इसलिए कहते हैं कि इसमें क्रेता यानी खरीददार और विक्रेता अर्थात् बेचने वाला दोनों ही मिलते हैं। इसी कारण **बाजार क्रेता और विक्रेताओं की गतिविधियों का केन्द्र है।**

नोट्स **जॉनसन** का कहना है कि बाजार का अर्थ इसके संकुचित और व्यापक रूप में लिया जाता है। अपने संकुचित अर्थ में यह आवश्यक है कि विनिमय की शर्तों के बारे में स्पष्ट सौदेबाजी हो, और विनिमय प्रक्रिया के दोनों ही पक्षों में स्पष्ट रूप से प्रतियोगिता हो अर्थात् व्यापारियों तथा खरीददारों के बीच में प्रतियोगिता।

उद्योगों के आने से पहले भारत में सामन्तवादी अर्थव्यवस्था थी। इस व्यवस्था में किसान से बिना किसी भुगतान के श्रम करवाया जाता था। **एक प्रकार से ऐसा श्रम गैर-बराबरी का विनिमय था।** किसानों के अतिरिक्त पूर्व औद्योगिक आर्थिक व्यवस्था में व्यापार और व्यवसाय का विकास भी पर्याप्त नहीं हो पाता था। इस व्यवस्था में किसानों के हितों के मुकाबले आम आदमी को उत्पादन करने की कोई प्रेरणा नहीं थी।

भारत में जब औद्योगीकरण आया तब इसके परिणामस्वरूप बाज़ार अर्थव्यवस्था का उदय हुआ। इस उदय के विकास की कहानी वस्तुत: पूँजीवाद के विकास की कहानी है। अब वस्तु विनिमय समाप्त हो गया, दूर-दराज के क्षेत्रों में भी मुद्रा का चलन हो गया। उद्योग में जब माल का निर्माण होता है तब इसे बेचने के लिये बाज़ार की आवश्यकता पड़ती है; और जैसे लोग वैसे बाज़ार। वैश्वीकरण, उदारीकरण और विकास कार्यक्रमों के परिणामस्वरूप देश में बाज़ार का बेतहाशा विस्तार हुआ है। जहाँ बड़े बाज़ार है वहीं छोटे बाज़ार भी हैं। बाज़ारों के भी प्रकार होते हैं: कुछ बाज़ार निम्न वर्ग के लोगों के लिये होते हैं। इन बाज़ारों में केवल वही वस्तुएँ खरीदी या बेची जाती हैं जिनका ताल्लुक निम्न वर्ग और जातियों के लिये होता है। इनसे ऊँचे अधिक विकसित बाज़ार होते हैं जहाँ उच्च वर्ग और जाति के लोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आते हैं। दिल्ली का कनाट सर्कस उच्च वर्ग के लोगों का बाज़ार है। दूसरी ओर चांदनी चौक का बाज़ार मध्यम और निम्न वर्ग के लोगों के लिये है। गाँवों में बाज़ार और किस्म के होते हैं। यहाँ के बाज़ार में विशिष्टीकरण नहीं होता। एक ही दुकान से खाद भी मिल जाता है और चाय भी। ये बाज़ार हरफनमौला होते हैं।

वैश्वीकरण ने बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को हमारे देश में स्थापित किया है। इन व्यापारिक संगठनों ने उपभोक्तावाद को नई हवा दी है। यह इन्हीं संगठनों के माध्यम से हैं कि हमारे यहाँ विदेशी बाज़ार की वस्तुएँ आम आदमी तक पहुँच गई हैं।

क्या आप जानते हैं मेकडॉनल्ड और कोकाकोला ऐसे ही पदार्थ हैं जो उपभोक्तावाद को बढ़ाते हैं। बाज़ार के भाव अत्यधिक रूप से प्रतियोगी हो गये हैं।

जब यह कहा जाता है कि वैश्वीकरण ने दूर-दराज के गाँव को भी अपने आगोश में ले लिया है, तो इसका मतलब है बाज़ार का विस्तार दूर के गाँवों तक हो गया है। इस बाज़ार की बहुत बड़ी विशेषता यह है कि यह अपना काम-काज बैंकिग प्रणाली से करता है और भरपूर **साख** (Credit) देता है। कार, मोटर बाइक, फ्रीज, सी. डी. आदि

नोट

ऐसे आइटम हैं जो आधुनिक बाज़ार द्वारा सुलभ किश्तों से मध्यम वर्ग के लोगों तक पहुँचाये जा रहे हैं। बाज़ार के इन प्रकारों व काम करने की पद्धति पर हम और अधिक विस्तार से वैश्वीकरण तथा उदारीकरण के विवरण में देखेंगे। **यहाँ तो केवल यही कहना है कि आज हमारे देश में जो भी बाज़ार है उसने सरकार के किसी भी हस्तक्षेप को कमज़ोर कर दिया है।** सरकार ने जिस आर्थिक नीति को अपनाया है वह **संरचनात्मक अर्थशास्त्र** (Structural Economy) पर आधारित है और इसने पूँजीवाद को अपने लेन-देन का आधार बना लिया है। अब **राजनीतिक अर्थनीति** (Political Economy) केवल बाज़ार द्वारा ही चलायी जाती है। इसी कारण हम कहते हैं कि आज की अर्थव्यवस्था में बाज़ार बहुत शक्तिशाली है।

18.9 सामाजिक परिणाम (Social Consequences)

हमारे देश में बाज़ार का विकास कई कारकों के साथ जुड़ा हुआ है। देखा जाय तो बाज़ार की अवधारणा जिस अर्थ में हम आज इसे समझते हैं, एकदम आधुनिक है। बाज़ार तो दो बातों पर विकसित होता है। एक तो यह कि खेतों का उत्पादन परिवार के उपभोग की आवश्यकता से अधिक हो और कारीगर तथा दस्तकार स्थानीय आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद अपनी वस्तुओं को बाज़ार में लायें। बाज़ार की दूसरी विशेषता विनिमय होता है। इस विनिमय के कारण बाज़ार का अस्तित्व सामान्य अर्थव्यवस्था वाले समाजों में भी रहा है। आज का बाज़ार वस्तुतः राष्ट्रीय बाज़ार ही नहीं अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार है। दिल्ली का सदर बाज़ार या मुम्बई का बाज़ार अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार के दृष्टान्त हैं। हम इस तथ्य को दोहरायेंगे कि बाज़ार केवल विनिमय के स्थान ही नहीं है, उनके माध्यम से सांस्कृतिक विनिमय भी होता है। देखा जाय तो बाज़ार का घनिष्ठ सम्बन्ध वर्ग व्यवस्था, धर्म, परिवार, एथनिसिटी आदि से भी जुड़ा हुआ है। यहाँ हम बाज़ार के प्रभाव जो समाज पर पड़ते हैं, उनका सिलसिले से विश्लेषण करेंगे–

(1) *बढ़ता हुआ उपभोक्तावाद (Increasing Consumerism)*

आज के बाज़ार का एक बहुत अच्छा मुहावरा इस तरह है– "यह बहुत अच्छा होगा कि तुम तैरना सीख जाओ, या एक पत्थर की तरह तुम डूब जाओगे।" यह मुहावरा बाज़ार की एक चुनौती है जो ग्राहकों को बराबर कहती है कि उपभोग की वस्तुओं का पूरा उपभोग कीजिये। इस तरह की चुनौतियाँ आज लोगों को अधिक से अधिक उपभोक्तावादी बना देती है। खाने-पीने की वे वस्तुएँ–आटा-दाल जो घर में तैयार की जाती थी, बाज़ार में लक-झक करते टिनों और पॉलीथीन थैलों में मिलने लगी हैं। वे वस्तुएँ जिन्हें लोगों ने देखा नहीं था आज बिक्री काउन्टर पर आग्रहपूर्वक दी जाने लगी हैं। बाज़ार का शायद बहुत बड़ा सामाजिक परिणाम दिन-प्रति-दिन विकसित होता उपभोक्तावाद है।

(2) *मध्यम वर्ग का विकास (Rising Middle Class)*

मध्यम वर्ग पहले भी थे लेकिन इनके विकास की गति बहुत धीमी थी। देखा जाय तो सरकारी नौकरियों, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और बढ़ते हुए बाज़ार ने मध्यम वर्ग के विकास को एक ऐतिहासिक अवसर प्रदान किया है। मध्यम वर्ग के साथ-साथ राजनीति और शिक्षा ने एक नये अभिजात वर्ग को भी पैदा कर दिया है। मध्यम वर्ग और अभिजात वर्ग की आवश्यताएँ कभी पूरी नहीं होती, उनका विस्तार होता ही रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि समाज में नियमहीनता (Anomie) आ जाती है। मध्यम वर्ग का आदमी गैर-नियमित आय करने के लिये सदा तत्पर रहता है। इसके परिणामस्वरूप एक सामान्तर अर्थव्यवस्था पैदा हो जाती है।

(3) *नपुंसक होता राज्य (State becoming Impotent)*

वैश्वीकरण तथा खुले बाज़ार की व्यवस्था ने सरकार को पंगु बना दिया है। यह अवश्य है कि राज्य अर्थनीति का निर्धारण करता है लेकिन यह अर्थनीति बाजार में आकर बेदम हो जाती है, उसकी सांस फूलने लगती है। अर्थनीति में यह बराबर कहा जाता है कि गृह उद्योग और स्वदेशी वस्तुओं के उत्पादन को राज्य बढ़ावा देगी लेकिन बाज़ार में विदेशी वस्तुएँ सस्ते दामों में धड़ल्ले से बिकती मिलती हैं। बाजार में काम-काज में राज्य का हस्तक्षेप न्यूनतम होता है।

नोट

(4) *गला काटने वाली प्रतियोगिता (Cut Throat Competition)*

पहले गाँवों के बाजार प्रतियोगिता से दूर थे। यहाँ के स्थानीय हाट में ग्राहक को जो उपलब्ध हो जाता था, ले लेता था। अब बाज़ार प्रतियोगी हो गये हैं। इस प्रतियोगिता ने आम खरीददार को अधिक से अधिक वस्तुएँ खरीदने के लिये प्रोत्साहित किया है। प्रतियोगिता कुछ ऐसी चल पड़ी है कि दो वस्तुएँ खरीदो और एक वस्तु मुफ्त में ले जाओ। चुकाने को दाम न हो, तो किश्तों पर ले जाओ। बाजार का यह व्यवहार कई आर्थिक प्रक्रियाओं के कारण है।

(5) *नवीन उद्यमिता (Neo-entrepreneurship)*

अब बाजार परम्परागत नहीं रहे, उनमें उद्यमिता आ गयी है। परम्परागत बाज़ार में व्यापारी एक रूढ़िवादी व्यवस्था पर अपना काम-काज चलाता था। उसके ग्राहक उसके आसामी थे। अब यह स्थिति बदल गयी है। जाति और परम्परा पर आधारित व्यापारी अब अपने धंधे को उद्यमिता के रूप में देखते हैं। बाजार में बैठने वाले ये लोग हर तरह की जोखिम लेने के लिये तैयार रहते हैं। इसका अर्थ यह निकला कि अब बाजार का कारोबार रूढ़िवादी और परम्परागत ढँग से नहीं होता। अब इसमें नवीनता आ गयी है, उद्यमिता का प्रवेश हो गया है।

(6) *विशिष्टीकरण और बदलती हुई वर्ग-व्यवस्था (Specialisation and Changing Class System)*

योगेन्द्र सिंह कहते हैं कि आधुनिक बाजार व्यवस्था ने वर्ग-व्यवस्था को एक नया पोषण दिया है। जो व्यापारी जोखिम लेते हैं, रातों-रात करोड़पति बन जाते हैं। यह ठीक है कि निम्न वर्गों का जितना विकास होना चाहिये था, पिछले 50 वर्षों में नहीं हुआ है। यह सब होते हुए भी बाज़ार ने वर्ग-व्यवस्था को समाज में अधिक मुखर कर दिया है। यह बाजार के कारण ही है कि गाँवों में भी वर्ग-व्यवस्था ने सामाजिक संरचना को अत्यधिक जटिल बना दिया है। अब गाँव का बाजार भी धीरे-धीरे विशिष्ट बाजार होने लगा है। पहले बाजार सभी लोगों के लिये होते थे, अब गाँव और शहर दोनों में बाजारों का विशिष्टीकरण होने लगा है।

(7) *बाजार के माध्यम से सांस्कृतिक साम्राज्यवाद (Cultural Imperialism through Market)*

बाजार का विश्लेषण जब सामाजशास्त्री करता है तो वह उसे केवल आर्थिक विनिमय का केन्द्र ही नहीं मानता। हमारा अनुभव बताता है कि बाज़ार नई संस्कृति को भी पनपाता है। जब मेकडॉनल्ड दिल्ली या चण्डीगढ़ के बाज़ार में आता है तो वह केवल पीजा ही नहीं बेचता, अमेरिका की संस्कृति और वहाँ के व्यवहारों को भी बेचता है। वहाँ काम करने वाली महिला वेटर भारतीय लड़कियों में एक नई संस्कृति के प्रति उत्सुकता पैदा करती है। बाजार के माध्यम से एक ऐसी **कोस्मोपोलिटन** और विदेशी संस्कृति का बोम्बार्डमेन्ट होता है कि स्थानीय संस्कृति आहत हो जाती है।

भारत में आधुनिक बाजार का उद्भव एक ऐतिहासिक घटना है। उपनिवेशवाद में बाज़ार का विकास हुआ था। यह विकास अपने विस्तार में बहुत सीमित था। इस काल में देश के पाँच लाख गाँवों में कोई व्यवस्थित बाजार नहीं था। कुछ कस्बों और गाँवों में छोटे-छोटे स्थानीय बाज़ार थे। आस-पास के गाँव सामान्यतया बिना बाजार के थे। उद्योगीकरण, शहरीकरण और आधुनिकीकरण के कारण बाजार धीरे-धीरे अपने विस्तार में बढ़ने लगे। उनमें जटिलता आने लगी और आज तो बाजार एक तरह से विश्व बाजार बन गये हैं। दुनियाँ के किसी भी कोने की वस्तु देश के सामान्यता प्रत्येक बाजार में उपलब्ध होने लगी है। बाजार के इस बढ़ते हुए विस्तार ने सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से सम्पूर्ण समाज को प्रभावित किया है। बाज़ार के ये परिणाम केवल आर्थिक ही नहीं है, सांस्कृतिक भी है, जिसे हम पोप कल्चर कहते हैं। वस्तुत: यह बाज़ार द्वारा प्रेरित लोकप्रिय संस्कृति है।

18.10 सारांश (Summary)

- आधुनिक युग में राज्य व्यक्ति तथा समाज के विकास में विशेष योगदान देता है। राज्य नागरिक को संपूर्ण सुरक्षा, जन्म से मृत्युपर्यन्त तक देता है।
- राज्य ही समाज में प्रभावशाली व्यवस्था कायम रख सकता है। क्योंकि यह अपने अधिकार के बल पर बनाए गए कानून को लागू कर नागरिकों को सुरक्षा प्रदान कर सकता है।

नोट

- राज्य पारिवारिक अधिकारों व कर्त्तव्यों को वैध बनाता है तथा शिक्षा, रोजगार, स्वास्थ्य, चिकित्सा, यातायात, संचार आदि की व्यवस्था करता है।
- अर्थशास्त्रीय बाजार को विनिमय का माध्यम मानते हैं तथा समाजशास्त्रीय सामाजिक व्यवस्था। इस प्रकार बाजार क्रेता और विक्रेताओं की गतिविधियों का केंद्र है।

18.11 शब्दकोश (Keywords)

1. **बाजार अर्थव्यवस्था (Market Economy)**—जहाँ जीविकोपार्जन से अतिरिक्त उत्पादन को बेचा जा सके और उपभोग की अन्य वस्तुओं का विक्रय हो सके।
2. **मध्यम वर्ग का विकास (Rising Middle Class)**—मध्यम वर्ग की विकास गति बहुत धीमी थी, लेकिन सरकारी नौकरियों, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और बढ़ते बाज़ार ने मध्यवर्ग के विकास का ऐतिहासिक अवसर प्रदान किया है।

18.12 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. सामाजिक विकास में राज्य के योगदान का वर्णन करें।
2. बाज़ार व्यवस्था ने समाज को किस प्रकार विकास में योगदान दिया है?

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. सृष्टि
2. विशेष स्थान
3. समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण।

18.13 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. विकास का समाजशास्त्र – *वन्दना वोहरा, ओमेगा पब्लिकेशन।*
2. भारतीय समाज – *राम आहुजा।*